

BHAKTI KAVYA MEIN RAJYA AUR SAMAJ

A Thesis submitted during (Year) 2016 to the University of Hyderabad
in partial fulfillment of the award of a Ph.D. degree in Department of
Hindi, School of Humanities.



2016

By

PRAMOD KUMAR SHARMA

09HHPH05

Department of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad,
Hyderabad – 500 046
TELANGANA

INDIA

भक्ति काव्य में राज्य और समाज

(हैदराबाद विश्वविद्यालय के पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध)



2016

शोधार्थी

प्रमोद कुमार शर्मा

09HHPH05

हिन्दी विभाग
मानविकी संकाय
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद - 500 046
तेलंगाना

Department of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
Hyderabad - 500046
Telangana
India



C E R T I F I C A T E

This is to certify that the thesis entitled "**BHAKTI KAVYA MEIN RAJYA AUR SAMAJ**" (भक्ति काव्य में राज्य और समाज) submitted by **PRAMOD KUMAR SHARMA** bearing Regd. No. 09HHPH05 in partial fulfillment of the requirements for the award of the degree of Doctor of Philosophy in **Hindi** is a work carried out under my/our supervision, which is free from plagiarism.

The thesis has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma.

Signature of the Supervisor
Prof. Suvas Chandra Kumar

Signature of the Co-Supervisor
Prof. R.S. Sarraju

Head, Department of Hindi
University of Hyderabad

Dean, School of Humanities
University of Hyderabad

DECLARATION

I, PRAMOD KUMAR SHARMA hereby declare that this thesis entitled "**BHAKTI KAVYA MEIN RAJYA AUR SAMAJ**" (भक्ति काव्य में राज्य और समाज) submitted by me under the guidance and supervision of **Professor S.C. Kumar** and **Professor R.S. Sarraju** is a bonafide research work and free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in Shodhganga/INFLIBNET.

Name : PRAMOD KUMAR SHARMA

Date :

(Signature of the Student)
Regd. No. 09HHPH05

अनुक्रमणिका
भक्ति काव्य में राज्य और समाज

	पृ.सं.
भूमिका	i-iii
प्रथम अध्याय : भक्ति काव्य का स्वरूप	1-26
1.0 भक्ति आंदोलन	
1.1 भक्ति काव्य के विविध स्वरूप	
1.1.1 संत काव्य	
1.1.2 सूफी काव्य या प्रेम काव्य	
1.1.3 कृष्ण काव्य	
1.1.4 राम काव्य	
द्वितीय अध्याय : भक्ति काव्य में अभिव्यक्त राज्यव्यवस्था का स्वरूप	27-100
2.0 राज्य का स्वरूप	
2.1 मध्यकालीन राज्य का स्वरूप	
2.1.1 सल्तनत काल	
2.1.2 मुगल काल	
2.1.3 सामंतवाद	
2.2 राम काव्य में अभिव्यक्त राज्यव्यवस्था का स्वरूप	
2.2.1 राज्य का स्वरूप	
2.2.2 राजा और राज्य	
2.2.3 कर्मचारीगण	

2.3 कृष्ण काव्य में अभिव्यक्त राज्यव्यवस्था का स्वरूप

2.3.1 राज्य का स्वरूप

2.3.2 राजा और राज्य

2.3.3 कर्मचारीगण

2.3.4 मीराबाई और राजसत्ता

2.4 संत काव्य में अभिव्यक्त राज्यव्यवस्था का स्वरूप

2.4.1 राजा और राज्य का स्वरूप

2.4.2 कर्मचारीगण

2.5 सूफी काव्य या प्रेम काव्य में अभिव्यक्त राज्य का स्वरूप

2.5.1 राजा और राज्य का स्वरूप

2.5.2 कर्मचारीगण

तृतीय अध्याय : भक्ति काव्य में अभिव्यक्त समाजव्यवस्था

101-179

3.0 मध्यकालीन समाज का स्वरूप

3.0.1 ग्रामीण जीवन

3.0.2 नगरीय जीवन

3.0.3 मुस्लिम समाज

3.0.4 हिन्दू समाज

3.1 राम काव्य में अभिव्यक्त समाजव्यवस्था

3.1.1 वर्ण और जाति

3.1.2 स्त्री जीवन

3.1.3 पारिवारिक जीवन

3.1.4 संस्कार और प्रथाएं

3.1.5 पर्वोत्सव और त्योहार

3.2 कृष्ण काव्य में अभिव्यक्त समाजव्यवस्था

3.2.1 वर्ण और जाति

3.2.2 स्त्री जीवन

3.2.3 संस्कार और प्रथाएँ

3.2.4 पर्वोत्सव और त्योहार

3.3 संत काव्य में अभिव्यक्त समाजव्यवस्था

3.3.1 वर्ण और जाति

3.3.2 स्त्री जीवन

3.3.3 संस्कार और प्रथाएँ

3.4 सूफी काव्य या प्रेम काव्य में अभिव्यक्त समाजव्यवस्था

3.4.1 वर्ण और जाति

3.4.2 स्त्री जीवन

3.4.3 संस्कार और प्रथाएँ

3.4.4 पर्वोत्सव और त्योहार

चतुर्थ अध्याय : भक्ति काव्य में अभिव्यक्त अर्थव्यवस्था का स्वरूप

180-219

4.0 मध्यकालीन अर्थव्यवस्था का स्वरूप

4.1 ग्राम

4.1.1 कृषि

4.1.2 कृषक

4.2 नगर

4.2.1 व्यापार और उद्योग

4.2.2 व्यापारी या व्यवसायी वर्ग

4.2.3 तकनीकी और दस्तकारी

4.2.4 शिल्पी या श्रमिक वर्ग

5.0 लोक संस्कृति

5.1 लोक साहित्य

5.1.1 लोक गीत

5.1.2 लोक गाथा

5.1.3 लोक कथा

5.2 लोक विश्वास एवं मान्यताएँ

5.2.1 अवतारवाद

5.2.2 शकुन- अपशकुन

5.2.3 स्वप्न

5.2.4 टोना-टोटका या तंत्र-मंत्र

5.2.5 भाग्यवाद

5.2.6 कर्मवाद या कर्मफल

5.2.7 पुनर्जन्मवाद

5.2.8 ज्योतिष विचार

5.2.9 कवि प्रसिद्धियाँ

5.3 लोक कलाएँ

5.3.1 वास्तुकला

5.3.2 मूर्तिकला

5.3.3 चित्रकला

5.3.4 संगीतकला

उपसंहार

संदर्भ-ग्रंथ सूची

भूमिका

भक्ति काव्य पर जो अधिकांश शोध कार्य हुए हैं, वे विशुद्ध कलावादी दृष्टि से या लोक-परलोक की चिंता से आबद्ध हैं। जो भी कालजयी कृति होती है वह अपने सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक संदर्भों के साथ आगे बढ़ती है, जिसका प्रतिफलन सामाजिक तथा मानवीय जीवन में देखने को मिलता है। इन तत्कालीन परिस्थितियों के बीच से एक ऐसा लोक जागरण पैदा हुआ जो भक्ति आंदोलन के रूप में समानता की भावना पर आधारित मानवतावादी विचारधारा को विकसित किया। भक्ति काव्य जनमानस के आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए, मानवीय चेतना को जगाता है। वे रचनाकार मध्यकालीन जड़ता के खिलाफ भक्ति और प्रेम जैसे मूल्यों की स्थापना करते हैं। भक्ति काव्य मानवीय जीवन के आदि और अंत को विविध उपादानों द्वारा व्याख्यायित करता है। यानी भक्ति काव्य मानव-मुक्ति का काव्य है। भक्ति काव्य ने आत्मोन्नति के लिए भक्ति को आवश्यक बताया। भक्ति आंदोलन के सारे कवि आत्म-परिष्कार की बात करते हैं, यानी व्यक्तिगत बदलाव को सामाजिक बदलाव के प्रथम कड़ी के रूप में देखते हैं। इन आंदोलन के कवियों ने समाज में जाति-पाँति तथा वर्ग-भेद रहित समाज का स्वप्न देखा। इसने भारतीय संस्कृति को राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक क्षेत्रों में समान रूप से प्रभावित किया। इसका स्वरूप अखिल भारतीय था जिसने संपूर्ण भारत को एक सांस्कृतिक सूत्र में जोड़ दिया।

इस शोध-प्रबन्ध में भक्ति काव्य के सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक इत्यादि विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

प्रथम अध्याय में भक्ति आंदोलन तथा भक्ति काव्य की विविध धाराओं जैसे- संत काव्य, सूफी काव्य, कृष्ण काव्य, राम काव्य का परिचयात्मक विवरण है।

द्वितीय अध्याय राज्य व्यवस्था से संबंधित है जिसमें भक्ति काव्य में अभिव्यक्त राज्यव्यवस्था के साथ ही मध्यकालीन राज्यव्यवस्था के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। भक्ति काव्य की अलग-

अलग काव्यधाराओं के माध्यम से भक्ति काव्य में व्यक्त राज्य का स्वरूप, राजा और मंत्रियों का राज्य के प्रति व्यवहार, कवियों की राजनैतिक चेतना आदि की पड़ताल की गयी है।

तृतीय अध्याय का संबंध भक्ति काव्य में अभिव्यक्त समाज व्यवस्था से है, जिसमें मध्यकालीन समाज के स्वरूप को बताते हुए भक्ति काव्य में व्यक्त समाज को बताया गया है। इसमें मध्यकालीन परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए ग्रामीण जीवन, नगरीय जीवन, मुस्लिम समाज तथा हिन्दू समाज का परिचयात्मक उल्लेख है। इस अध्याय में विविध काव्यधाराओं में अभिव्यक्त समाज-व्यवस्था जैसे- वर्ण और जाति, स्त्री जीवन, संस्कार और प्रथाएँ, पर्वोत्सव और त्योहार आदि का विवेचन विस्तार से किया गया है।

चतुर्थ अध्याय भक्ति काव्य में अभिव्यक्त अर्थव्यवस्था के स्वरूप को लेकर है, जिसमें मध्यकालीन अर्थव्यवस्था के स्वरूप को रेखांकित करते हुए भक्ति काव्य की आर्थिक दशा का चित्रण किया गया है। इस अध्याय में कृषि और कृषक की तत्कालीन दशा का विस्तृत विवेचन है। इसमें व्यापार, उद्योग, तकनीकी, दस्तकारी, व्यापारी, शिल्पी एवं श्रमिकों की तत्कालीन स्थिति को भक्तिकाव्य के माध्यम से अन्वेषित किया गया है।

पंचम जो कि अंतिम अध्याय है, इसमें लोक जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्याय में लोक संस्कृति, लोक साहित्य, लोक विश्वास एवं मान्यताएँ तथा लोक कलाओं को चित्रित किया गया है।

मैं अपने शोध निर्देश प्रो. सुवास कुमार का आभारी हूँ, जिनके कुशल निर्देशन में यह शोध कार्य संपन्न हुआ। सर का व्यक्तित्व हमेशा से मेरे लिए अनुकरणीय रहा है। यदि मैं उनके ज्ञान, विनम्रता और व्यक्तित्व का कुछ हिस्सा भी अपने जीवन में उतार पाया तो संभवतः उनके लिए यह सच्चा आभार और धन्यवाद ज्ञापन होगा।

मैं इस शोध कार्य को सफलतापूर्वक पूर्ण करने के लिए अपने विभागाध्यक्ष एवं सह-शोध निर्देशक प्रो. आर.एस. सराजु का आभारी हूँ, जिनके कुशल निर्देशन में यह शोध कार्य पूर्ण हुआ। मैं इस शोध कार्य के लिए अपने विभाग तथा अन्य विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकों का आभारी हूँ

जिन्होंने सदैव मेरा मार्गदर्शन किया। मेरे मित्रों का सहयोग हर कठिन परिस्थिति में मेरे साथ रहा जिससे मैं इस शोध कार्य को सुगमतापूर्वक कर पाया। इस शोध कार्य के लिए हैदराबाद विश्वविद्यालय तथा विश्वभारती, शांतिनिकेतन के पुस्तकालय के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जहाँ से दुर्लभ पुस्तकें प्राप्त हो सकीं।

इस शोध कार्य को सफलतापूर्वक करने में सबसे बड़ी भूमिका मेरे परिवार की रही। इस शोध कार्य के प्रारंभिक दिनों में पिताजी का साथ रहा जो आजीवन उच्च शिक्षा से अनभिज्ञ रहे और आज शोध की संपूर्णता के समय में उनका न रहना आत्मा को झंकृत करता है। मेरी माँ ने आर्थिक विपन्नता के बावजूद भी मुझे उच्च शिक्षा की दहलीज तक पहुँचाया। परिवार में सबसे बड़ी भूमिका बड़े भैया, भाभी तथा चाचा जी की रही जिनके कठिन मेहनत एवं दृढ़ विश्वास से आज मैं यहाँ तक पहुँच पाया हूँ। मेरी पत्नी ने हर प्रतिकूल एवं विषम परिस्थितियों में धैर्यपूर्वक मेरा साथ दिया। मैं अपने परिवार के अन्य लोगों के प्रति भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। इसके अलावा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उन सभी लोगों का आभारी हूँ जिनसे रचनात्मक ऊर्जा प्राप्त होती रही है।

- प्रमोद कुमार शर्मा

प्रथम अध्याय

भक्ति काव्य का स्वरूप

1.0 भक्ति आंदोलन

मध्यकाल में भक्ति केवल ईश्वर के समक्ष आत्म-समर्पण करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करना नहीं है, बल्कि वहाँ भक्ति जीव, जीवन को व्याख्यायित करती हुई आंदोलन का रूप धारण करती है। मध्यकालीन प्रवृत्तियों में 'धर्म' और 'भक्ति' उसके केन्द्र में हैं। धर्म मनुष्य के जीवन का आवश्यक अंग रहा है एवं आध्यात्मिक खोज उसकी शाश्वत आकांक्षा हमेशा से रही है। भक्ति आंदोलन पर विचार करते हुए इरफान हबीब धर्म के संबंध में लिखते हैं कि- “धर्म मानव सभ्यता के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का एक निर्विवाद अंग रहा है। धर्म को इतिहास का एक घटक बताकर या सामाजिक माहौल की, जिसे कुछ निश्चित 'रीतियों' तक सीमित रखा जा सकता था, प्रतिक्रिया मात्र मानकर उसकी अवहेलना करने का समय अब नहीं है - और ऐसा कभी था भी नहीं।”¹

प्राचीन समय से ही भारतीयों ने विविध धर्मों जैसे बौद्ध, जैन, शैव इत्यादि की स्थापना प्रारंभ कर दी। जिससे मनुष्य चिर शांति को प्राप्त कर सके। प्रारंभ में ये धर्म जीवन दर्शन के रूप में थे। प्राचीन भारतीयों ने मोक्ष प्राप्त करने के लिए तीन मार्गों की स्थापना की - ज्ञान मार्ग, कर्म-मार्ग और भक्ति मार्ग। ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग की तुलना में भक्ति मार्ग साधारण जन के लिए अधिक सरल, सहज तथा सुलभ था। अतः भक्ति मार्ग को अधिक महत्व प्राप्त हुआ।

धीरे-धीरे धर्म रूढ़ियों, कर्मकाण्डों से जकड़ता चला गया जिसका असर भक्ति पर भी पड़ा। भक्ति आंदोलन में पहली बार भक्ति धार्मिक सीमाओं से बाहर निकलकर धार्मिक, सामाजिक समानता के जन-आंदोलन में परिणत हो गई। संतों और कवियों के नेतृत्व में यह आंदोलन अपने शिखर पर जा पहुँचा। भक्ति आंदोलन को भले ही धार्मिक आंदोलन के रूप में जाना जाता हो, लेकिन उसकी वास्तविक पहचान एक सामाजिक, सांस्कृतिक आंदोलन के कारण ही है। भक्ति आंदोलन के संदर्भ में प्रो. मैनेजर पाण्डेय की टिप्पणी महत्वपूर्ण है - “भक्ति आंदोलन के साथ भारतीय समाज, संस्कृति

और साहित्य के विकास की नई अवस्था का आरंभ होता है। भक्ति आंदोलन व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन है, जिसकी अभिव्यक्ति दर्शन, धर्म, कला, साहित्य, भाषा और संस्कृति के दूसरे रूपों में दिखायी देती है। वास्तव में यह सामंती संस्कृति के विरुद्ध जनसंस्कृति के उत्थान का अखिल भारतीय आंदोलन है।²

भक्ति आंदोलन से साहित्य के अलावा सामाजिक, धार्मिक अवधारणाओं में परिवर्तन हुआ जिसके कारण मध्यकाल में सामाजिक परिवर्तन की भूमिका निर्मित हुई। यह सही है कि भक्ति आंदोलन परंपरा का स्वतः विकास तथा मूल रूप से देशी था, परन्तु इस पर मुसलमानी आक्रमण का भी गहरा प्रभाव पड़ा। यह केवल दोनों धर्मों का मिलन स्थल ही नहीं है बल्कि इसने खुले रूप से मनुष्य की समानता का प्रतिपादन किया और कर्मकाण्ड तथा जातिभेद का जमकर विरोध किया जहाँ संतों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है -

‘रैदास उपजइ सभ इक नूर ते, ब्राह्मण मुल्ला सेखा।

सब को करता एक है, सभ कूं एक ही पेखा।’³

‘दादू बांधे बेद विधि, भरम करम उरझाइ।

मरजादा माहैं रहै सुमिरण किया न जाइ।’⁴

भक्ति आंदोलन मूलतः एक नई विचारधारा थी जो पुरानी परम्पराओं से पूर्णतः भिन्न नहीं फिर भी अलग थी। इसके धार्मिक विचार भी नये प्रकार के थे। यह पूरी जीवन पद्धति को नये ढंग से देखना चाहती थी। इसने समानता के आधार पर समाज का निर्माण करने का उद्देश्य अपने सामने रखा और एक नैतिक आध्यात्मिक ढाँचे के निर्माण की कोशिश की। भक्ति आंदोलन के इस संदर्भ में के. दामोदरन अपने आलेख ‘भक्ति आंदोलन’ में लिखते हैं कि- “यह शुद्धतः एक धार्मिक आंदोलन नहीं था। वैष्णवों के सिद्धांत मूलतः उस समय व्याप्त सामाजिक-आर्थिक यथार्थ की आदर्शवादी अभिव्यक्ति थी। सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होंने राष्ट्रीय नवजागरण का रूप धारण किया, सामाजिक विषय-वस्तु में वे जाति प्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यंत महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे। यह सिद्धांत कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य-फिर वे ऊँची जाति के हों अथवा नीची जाति के -

समान हैं, इस आंदोलन का ऐसा केन्द्र बिंदु बन गया जिसने पुरोहित वर्ग और जाति प्रथा के आतंक के विरुद्ध संघर्ष करने वाली आम जनता के व्यापक हिस्सों को अपने चारों ओर एकजुट किया।”⁵

भक्ति आंदोलन कुछ केन्द्रीय विचारों को लेकर आगे बढ़ा। जैसे वहाँ धार्मिक विचारों की विविधता के बावजूद जनता की एकता स्वीकार की गयी। संतों ने जाति प्रथा का विरोध करते हुए ईश्वर के समक्ष समानता का प्रतिपादन किया। सुंदरदास कहते हैं कि -

“सुख दुख सम दोऊ, नीचहू न ऊँच कोऊ।

ऐसी बिधि रहै सोऊ, मिल्यो न फरक है।

एकही न दोय जानै, बंध मोच्छ भ्रम मानै।

सुंदर कहत ज्ञानी, ज्ञान में गरक है।”⁶

दक्षिण भारत के शैव नयनार संतों और वैष्णव अलवार संतों ने जाति और लिंग का भेद किए बिना समाज के प्रत्येक तबके में भक्ति का प्रचार किया। इन संत कवियों ने भावनात्मक स्वर में भक्ति का प्रचार किया और धार्मिक समतावाद को बढ़ावा दिया। नयनारों और आलवारों ने भक्ति गीतों की रचना संस्कृत में नहीं बल्कि तमिल में की; इन कारणों से यह आंदोलन और भी लोकप्रिय हुआ। पहली बार भक्ति को जनाधार प्राप्त हुआ। भक्त एवं संत कवियों ने कट्टर ब्राह्मणों के अस्तित्व को चुनौती दी और भक्ति को सबके लिए सुलभ बनाया; चाहे किसी जाति का व्यक्ति हो, चाहे स्त्री हो या पुरुष सभी भक्ति को अपना सकते थे। दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलन की अपनी कुछ सीमाएँ भी थीं। इसने कभी भी सामाजिक स्तर पर ब्राह्मण धर्म की वर्ण-व्यवस्था और जाति व्यवस्था का प्रयत्नपूर्वक विरोध नहीं किया। जाति व्यवस्था अभी भी धर्म से जुड़ी थी और छोटी जातियों को सामाजिक असमानताओं का बोझ ढोना पड़ रहा था। ब्राह्मणवादी अनुष्ठान जैसे मूर्ति पूजा, वैदिक मंत्रों का उच्चारण और तीर्थस्थलों की यात्रा, अभी कायम थे; जबकि भक्ति को पूजा का सर्वश्रेष्ठ तरीका बताया जा रहा था। इन्होंने बौद्धों और जैनों पर मुख्य रूप से आक्रमण किया। ब्राह्मण इनकी आलोचना से मुक्त रहे। शायद यही कारण है कि दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन के प्रसार में ब्राह्मणों के प्रभुत्व वाले मंदिरों की प्रमुख भूमिका रही। दक्षिण भारत के संत कवियों ने जाति व्यवस्था के

वैचारिक, सामाजिक आधार पर प्रश्न चिह्न नहीं लगाया। इतना जरूर हुआ कि उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में समानता की पैरवी की। जब दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलन की लोकप्रियता क्षीण हो रही थी, तब कई आचार्यों ने दार्शनिक स्तर पर भक्ति का समर्थन किया। इस संदर्भ में गोपेश्वर सिंह की टिप्पणी महत्वपूर्ण है कि- “शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध जो लोक-भावना जन्म ले रही थी, उसे रामानुज, स्वामी रामानंद, महाप्रभु वल्लभ आदि आचार्यों ने दार्शनिक आधार प्रदान किया। इन आचार्यों के चिंतन में जनोन्मुखता का यह संस्पर्श था, जो मनुष्य की सामाजिक और आध्यात्मिक मुक्ति के विराट प्रश्नों से परिचालित था।”⁷

इसमें पहले आचार्य रामानुज थे। उन्होंने कट्टर ब्राह्मणवाद और लोकप्रिय भक्ति आंदोलन के बीच सावधानी से संतुलन कायम किया। हालांकि उन्होंने छोटी जातियों द्वारा वेद पढ़ने के सिद्धांत का समर्थन नहीं किया; परन्तु इस बात को स्वीकार किया कि भक्ति को पूजा की पद्धति के रूप में सबको, यहाँ तक कि शूद्रों और अस्पृश्यों को भी, अपनाने का अधिकार होना चाहिए। भक्ति का प्रचार करते हुए उन्होंने जाति का बंधन स्वीकार नहीं किया। वैष्णव आचार्यों की शृंखला में अंतिम दो आचार्य रामानंद और वल्लभाचार्य ने उल्लेखनीय योगदान दिया। इन्होंने अपना अधिकांश समय उत्तर भारत में बिताया तथा वैष्णव भक्ति को एक नया रूप प्रदान किया।

सल्तनत काल के दौरान उत्तरी और पूर्वी भारत तथा महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन का स्वरूप उभरकर सामने आया। इन आंदोलनों ने भक्ति और धार्मिक समता पर जोर दिया। दक्षिण भारत की पुरानी भक्ति परम्परा और सल्तनत तथा मुगल काल में पनपे उत्तर भारत के भक्ति आंदोलन में कुछ महत्वपूर्ण समानताएँ थीं। यदि हम कबीर, रैदास, नानक और छोटी जातियों के अन्य संतों के एकेश्वरवादी आंदोलन को अलग कर दें तो दोनों आंदोलनों में कई सामान्य विशेषताएँ एक जैसी थीं। जैसे, दक्षिण भारत के भक्ति आंदोलनों में समतावादी धर्म की तो वकालत की गयी, पर जाति व्यवस्था को कभी नकारा नहीं गया। ब्राह्मण ग्रंथों और ब्राह्मण विशेषाधिकारों को कभी चुनौती नहीं दी गयी। परिणामस्वरूप, दक्षिण भारतीय भक्ति आंदोलनों के समान उत्तर भारत के अधिकांश वैष्णव आंदोलन अंततः ब्राह्मण धर्म में विलीन हो गए। इस भक्ति आंदोलन को एक दूसरे से जोड़ने वाला सूत्र भक्ति

और धार्मिक समता का सिद्धांत था। इन सभी आंदोलनों की अपनी क्षेत्रीय पहचान थी और उनका अपना सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक आधार था। एकेश्वरवाद पर आधारित भक्ति आंदोलन विभिन्न वैष्णव आंदोलनों से भिन्न था। कबीर की भक्ति की अवधारणा और चैतन्य या मीराबाई जैसे मध्यकालीन वैष्णव संतों की भक्ति की अवधारणा में आधारभूत अंतर था। महाराष्ट्र का भक्ति आंदोलन बंगाल के वैष्णव आंदोलन से भिन्न था। इसी प्रकार उत्तर भारत के रामानंद, वल्लभ, सूरदास और तुलसीदास के भक्ति आंदोलन का अपना एक अलग स्वरूप था।

भक्ति आंदोलन के अखिल भारतीय स्वरूप ने संतों के नये वर्ग को जन्म दिया। इस आंदोलन का आरंभ रामानंद ने किया था लेकिन भक्ति आंदोलन का समतामूलक सशक्त भाव कबीर, रैदास, नानक में दिखायी पड़ता है। इन संतों ने निर्गुण ब्रह्म की आराधना पर जोर दिया और हिन्दू-मुस्लिम समाज के मध्य सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। इन्होंने भक्ति के क्षेत्र में रहस्यवादी धारणा को स्थापित किया और इससे मुस्लिम सूफियों के साथ भी सामंजस्य स्थापित किया। भक्तों का दूसरा वर्ग सगुण उपासना का समर्थक था। जिन्होंने सगुण भक्ति या राम, कृष्ण जैसे आलंबन के द्वारा भक्ति को आम जन-जीवन के लिए सुलभ बनाया।

मध्यकालीन भक्ति या ईश्वरीय चिंतन की दो धारणाएं हैं जो 'सगुण' और 'निर्गुण' के रूप में व्यक्त हुई हैं; जो भक्त ईश्वर को निश्चित स्वरूप में देखते हैं, वे सगुण भक्त कहे जाते हैं। ईश्वर को निश्चित स्वरूप में देखने का अर्थ है कि ईश्वर को कुछ गुणों से व्यक्त किया जाए, जैसे 'राम' और 'कृष्ण' को वैष्णव परंपरा में गुणों से व्याख्यायित किया जाता है। यहाँ गुण का अर्थ एक निश्चित विशेषता से है जो भक्त को अपने सगुण आलम्बन में दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार कुछ भक्त ईश्वर की सगुण धारणा से सहमत नहीं हैं। वे मानते हैं कि ईश्वर निर्गुण है। यहाँ निर्गुण का अर्थ गुणहीन नहीं, गुणातीत है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर सभी गुणों से भी अधिक गुणात्मक सत्ता है। जब हम कोई गुण निश्चित करते हैं तब उसमें कोई न कोई सीमा भी निहित होती है। निर्गुण भक्तों का स्पष्ट विचार है कि गुणों के माध्यम से ईश्वर को व्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि ईश्वर असीमित गुणों से सम्पन्न है जब की कोई भी गुण

विशेष सीमा से युक्त होता है। यह गुणातीत ईश्वर ही 'निर्गुण' ईश्वर है तथा ऐसे ईश्वर के प्रति की गई भक्ति ही निर्गुण भक्ति है।

हिन्दी के आलोचकों ने सगुण भक्त कवियों के लिए 'भक्त' तथा निर्गुण भक्त कवियों के लिए 'संत' शब्द का प्रयोग किया है। यह 'भक्त' एवं 'संत' शब्द खास कर हिन्दी आलोचना में उन कवियों के लिए रूढ़ हो गया। भले ही उन कवियों की भक्ति एवं चिंतन का स्थूल रूप से दार्शनिक आधार अलग-अलग दिखाई पड़ता है लेकिन वे भक्ति के सूक्ष्म धरातल पर एक जगह खड़े दिखाई पड़ते हैं, जहाँ भक्त एवं संत का फर्क मिट जाता है। भक्ति आन्दोलन के कवियों की पहली प्राथमिकता ईश्वर की भक्ति है। वे ईश्वर को पाने की प्रक्रिया में सामाजिक विसंगतियों से टकराते हैं। वहाँ भक्ति के विविध रूपों के बावजूद चिंतन के केंद्र में एक ईश्वर है इसलिए वे भक्त हैं। वे सारे रचनाकार धन संचय के विरुद्ध हैं। वे आत्म-परिष्कार की बात करते हैं। उनका सारा जीवन सादगी, सरलता और प्रेम से परिपूर्ण है। इसलिए वे सभी संत की कोटि में भी आते हैं। रामविलास शर्मा जैसे आलोचक संत और भक्त कवियों में अन्तर नहीं करते हैं। वे सभी कवि, कवयित्रियों को भक्त एवं संत दोनों की कोटि में रखते हैं। वे 'संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएं' नामक अपने आलेख में लिखते हैं कि- "कुछ विद्वान संत का अर्थ निर्गुणपंथी साधु ही लगाते हैं। उधर गोस्वामी तुलसीदास जैसे सगुणपंथी कवि भी संत शब्द अपनाते हैं, अपने को उसी संत परम्परा का अनुयायी मानते हैं। 'संत' शब्द से संसार त्यागी महात्मा का अर्थ लेना भी ठीक नहीं। संतों में बहुत से गृहस्थ थे। संतों से केवल हिन्दू महात्माओं का बोध करना ठीक नहीं; इनमें अनेक मुसलमान थे जो इस्लाम की कट्टरता के भले विरुद्ध रहे हों, लेकिन उसे छोड़कर हिन्दू न हो गए थे। संतों से हम पुरुष कवियों या महात्माओं का बोध करें, यह भी उचित नहीं। यदि मीराबाई संत नहीं तो संत कौन है? संतों में स्त्री और पुरुष, संन्यासी और गृहस्थ, हिन्दू और मुसलमान, सगुणवादी और निर्गुणवादी दोनों हैं।"⁸ भक्ति आन्दोलन के कवियों के यहाँ भले ही निर्गुण सगुण के रूप में भक्ति अलग-अलग दिखाई पड़ती है, लेकिन उन दोनों के यहाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आलम्बन एक है जहाँ निर्गुण-सगुण का विवाद मिट जाता है। दोनों में ब्रह्म का स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है। तुलसीदास कहते हैं-

“अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।”⁹

इसी प्रकार कबीरदास कहते हैं कि-

“संत धोखा कासूं कहिए।

गुण मैं निरगुण निरगुण मैं गुण है, बाट छांड़ि क्यूँ बहिए।”¹⁰

अर्थात् इन भक्त कवियों की चिंता सगुण-निर्गुण से परे जाकर एक ईश्वर, एक सत्य को पाने की है। भक्तिकाल की कविता और जीवन में फांक नहीं है। आज की कविता और तब की कविता के चिंतन की जमीन अलग-अलग है, वहां कवि भौतिकता, विलासिता का निषेध करते हुए आध्यात्मिक सम्पूर्णता की बात करता है। कबीर राम नाम की भक्ति में सम्पूर्णता की तलाश करते हैं -

“सर्व भूत एक करि जान्या चूके बाद बिबादा।

कहि कबीर मैं पूरा पाया भये राम परसादा।”¹¹

पूरा भक्ति काव्य भक्ति-भावना पर आधारित है जहाँ ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करना उन भक्त कवियों का लक्ष्य है इसलिए वे सारे कवि प्रेम की बात करते हैं। भक्ति काव्य सामंती वातावरण में लिखे जाने के बाद भी समानता के भाव को प्रकट करता है।

1.1 भक्ति काव्य के विविध स्वरूप

1.1.1 संत काव्य

भक्तिकाल की विषम राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में आशा की ज्योति बिखेरने का कार्य संत काव्यधारा के कवियों ने किया। उन्होंने तत्कालीन धार्मिक मान्यताओं को अपने जीवन के व्यापक अनुभव के आधार पर जनसामान्य के लिए बोधगम्य बनाया। अनुभव और विवेक के समन्वय से ही यह मत अस्तित्व में आया। निर्गुण संतों का चिंतन एक तरफ रामानंद से प्रभावित है तो दूसरी तरफ ये नाथों एवं सिद्धों से प्रभावित हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के माध्यम से संत काव्य पर पड़ने वाले अन्य मतों के प्रभाव को रेखांकित किया है- “कबीरदास में रामानंद के मंत्र-बीज ने सबसे अधिक प्रसार पाया। कबीर एक ही साथ तीन बड़ी-बड़ी धाराओं को आत्मसात कर सके थे, लेकिन इससे उनके रामानंद के शिष्य होने में कोई बाधा नहीं पड़ी। ये तीन धाराएँ इस प्रकार हैं :

(1) उत्तर-पूर्व के नाथ पंथ और सहजयान का मिश्रित रूप, (2) पश्चिम का सूफी मतवाद और (3) दक्षिण का वेदांत - भाषित वैष्णव धर्म। कबीर के दोहे, पद यहाँ तक कि उलटबाँसियाँ भी, नाथपंथ और सहजयान के साधकों के ढंग पर हैं।¹²

भारतीय धर्म साधना की परम्परा से स्पष्ट होता है कि संतकाव्य बौद्ध धर्म और उसके साहित्य से प्रभावित है। बौद्ध धर्म से महायान और हीनयान संप्रदायों का आविर्भाव हुआ। महायान से वज्रयान और इसी वज्रयान की तांत्रिकता की प्रतिक्रिया में नाथ सम्प्रदाय का विकास हुआ और नाथ सम्प्रदाय के प्रेरणामूलक तत्वों को ग्रहण करके संत मत अवतरित हुआ। बौद्ध धर्म से लेकर नाथ सम्प्रदाय तक इस प्रक्रिया में जो जीवन तत्व उभरे, उन सबका समावेश संत काव्य में हुआ। इसमें बौद्ध धर्म का शून्यवाद, नाथ सम्प्रदाय का योग तत्व तथा वज्रयानी सिद्धों की सन्ध्या भाषा की उलटबाँसियों तक का समाहार है।

नाथों एवं सिद्धों के साथ ही कबीर आदि निर्गुण संतों पर महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर और नामदेव का प्रभाव भी देखा जा सकता है। सामाजिक क्षेत्र में समानता की भावना का विचार आलवारों, महाराष्ट्र के संतों और उत्तर भारतीय निर्गुण संतों में एक समान है। कबीर आदि निर्गुण संत रामानंद के शिष्य होते हुए भी श्री सम्प्रदाय से नहीं जुड़े। इन संतों ने अपना स्वतंत्र विकास किया।

संत साहित्य में नाम स्मरण या राम नाम पर बल वैष्णव धर्म के प्रभाव स्वरूप ही है लेकिन संतकाव्य के राम अवतारी पुरुष नहीं हैं। वे अजन्मा और निर्विकार हैं। वे निर्गुण हैं। संतों के यहाँ निर्गुण का संदर्भ 'गुणरहित' या 'गुणहीन' से नहीं बल्कि 'गुणातीत' से है। संतों के यहाँ निर्गुण किसी निषेधात्मक सत्ता का वाचक न होकर उस पारब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो 'सत्त्व', 'रज' और 'तम' इन तीनों गुणों से अतीत है। वाणी जिसके स्वरूप का वर्णन करने में असमर्थ है अर्थात् जो गूँगे के गुड़ के समान अनुभूति का विषय है। इन संतों ने विभिन्न विवादों को छोड़कर निर्गुण के आधार पर राम और रहीम को एकाकार करने का अनूठा कार्य किया। धार्मिक सहिष्णुता को संत कवियों ने सामाजिक विकास के लिए आवश्यक माना।

संत कवियों के लिए भक्ति शरणभूमि नहीं थी बल्कि यह उनकी कर्मभूमि थी। इसी से वे लोक हृदय को आस्था का संबल दे सके तथा समतामूलक समाज की ओर अग्रसर हो सके। यदि सामान्य अर्थ में देखा जाए तो ईश्वर के प्रति सहज आसक्ति ही भक्ति है। इसमें श्रद्धा और प्रेम के तत्वों का योग आवश्यक है। प्रेम की दृष्टि से संत काव्य में नारदी भक्ति के प्रेम तत्व के साथ-साथ सूफियों की इश्क भावना का प्रभाव भी लक्षित होता है। संत कवियों ने भक्ति के अनुभूति पक्ष को ही प्रधान रूप से चित्रित किया है -

“अकथ कहाँगी प्रेम की, कछु कही न जाई,

गूँगे केरी सरकरा, बैठे मुसुकाई।”¹³

ईश्वर के प्रति अनुराग प्रकट करने के लिए इनकी साधना पद्धति स्वानुभूतिपरक आत्मनिवेदन तथा नामस्मरण की साधना को स्वीकार करती है। संतों के यहाँ ‘दाम्पत्य’ और ‘दास्य’ भाव की भक्ति अधिक महत्व रखती है -

“कबीरा कुता राम का, मुतिया मेरा नाउं।

गलै राम की जेवड़ी, जित खैचे तित जाउं।”¹⁴

“हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया,

राम बड़े मैं छुटक लहुरियां।”¹⁵

संतों की भक्ति में ‘अहम्’ का त्याग आवश्यक है। वहाँ भक्ति हृदय की प्रवृत्ति है -

“जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहि।

सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि।”¹⁶

संतों की भक्ति में आध्यात्मिकता प्रधान है। ईश्वर का सामीप्य प्राप्त कर उसके साथ एकात्म हो जाना ही भक्त का लक्ष्य है। संतों के यहाँ ‘प्रपत्तिपरकता’ भक्ति भावना का प्राण है। यहाँ प्रपत्ति का अर्थ ‘आत्मनिवेदन’ से है। संत कवियों की भक्ति में सभी मनुष्यों के लिए समानता की भावना है। यहाँ धार्मिक कर्मकाण्ड को स्थान नहीं दिया गया है। यह भक्ति ईश्वर के दरबार में सबकी समानता और एकता की पक्षधर हैं -

“ऐसा चाहौं राज मैं, जहाँ मिलै सबन को अन्न।

छोट बड़ो सभ सम बसैं, रैदास रहै प्रसन्न।”¹⁷

संतों ने परम तत्व, जीव, माया, सृष्टि आदि पर विचार किया है जो अनुभवजन्य ज्ञान पर आधारित है। संतों के यहाँ ब्रह्म एक है। उसका कोई रूप, आकार, व्यक्तित्व नहीं है। वह सगुण और निर्गुण दोनों से परे है। वह अवतार ग्रहण नहीं करता। उसे किसी मूर्ति, किसी देवालय, किसी तीर्थ में नहीं पाया जा सकता। वह कण-कण में व्याप्त है। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता, उसे सिर्फ अनुभव द्वारा पाया जा सकता है। संतों ने ईश्वर को विविध नामों से पुकारा जैसे- राम, गोविंद, हरि, केशव, करीम, रहीम, खुदा, अल्लाह, निरंजन आदि। नाम की विभिन्नताओं के बावजूद परमतत्व एक है; उसे वर्ग, धर्म, जाति में नहीं बाँटा जा सकता-

“रैदास कोउ अल्लइ कहइ, कोउ पुकारइ राम।

केसउ क्रिस्न करीम सभ माधव मुकन्दह नाम।”¹⁸

संतों ने ‘माया’ के कारण जीव और ब्रह्म के अस्तित्व को अलग-अलग स्वीकार किया है। अज्ञानता के कारण भी जीव ब्रह्म से अलग प्रतीत होता है। ज्ञानोदय की दशा में जीव ब्रह्म का अंश हो जाता है। संतों ने परमतत्व के साक्षात्कार में माया को बहुत बड़ी बाधा मानते हैं। वे उसे ठगिनी, पापिनी, मोहिनी, सर्पिणी आदि की संज्ञा देते हैं -

“कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठि हाटि।

सब जग तो फंधै पड़या, गया कबीरा काटि।”¹⁹

संतों ने माया को मिटाने की बात नहीं की बल्कि उसे वश में करने या उस पर विजय प्राप्त करने की बात की है। संतों की बानियों में जो कुछ दिखाई दे रहा है, उसे गोचर जगत की संज्ञा दी गयी है। संतों ने इस जगत को चंचल, गतिशील, क्षणिक और नश्वर माना है। माया ने ही इस जगत की रचना की है इसीलिए यह जगत भ्रान्तिजनक है। संतों ने धन, वैभव, आडम्बर आदि को जगत के रूप में ही स्वीकार किया है। राजा हो या रंक सभी क्षणभंगुर, मरणशील या नश्वर हैं -

“माटी केरा पूतला, काहै गरब कराये रे।

दिवस चार को पेखनौ, फिर माटी मिलि जाये रे।’²⁰

संत कवियों ने जगत की निस्सारता और क्षणभंगुरता पर बहुत सारे पद रचे हैं -

“काजल केरी कोठढ़ी, तैसा यहु संसार।

बलिहारी ता दास की, पैसि रे निकसणहार।”²¹

संतों में मोक्ष के प्रति अटूट आस्था है। मोक्ष की धारणा एक वैचारिक दार्शनिक-रूढ़ि के रूप में प्राचीन काल से ही चली आ रही है। संतों ने भी इस मोक्ष को जीवन-मरण के चक्र, इस संसार में बार-बार आवागमन के चक्र से छुटकारे के अर्थ में ही ग्रहण किया है। प्राचीन समय से समाज में यह रूढ़ि व्याप्त रही है कि जीव जीवन-मरण के बंधन से मुक्त होकर भवसागर पार हो जाता है और ‘बैकुंठ’ या ‘स्वर्गलोक’ में पहुँच जाता है। पर इन संतों ने इस बैकुण्ठ या स्वर्गलोक की कड़ी आलोचना की-

“चलन चलन सब को कहत है, नाँ जाँनों बैकुंठ कहाँ है।

जोजन एक प्रमिति नहीं जानै, बातन ही बैकुंठ बषानै।

जब लग है बैकुंठ की आसा, तब लग नाही हरि चरन निवासा।”²²

संतों की दृष्टि में सांसारिक विषय-वासनाओं से विमुख हो जाना ही जीवन की मुक्ति या मोक्ष है।

भक्ति आंदोलन की केन्द्रीय विशेषता भक्ति के द्वारा समतामूलक समाज का निर्माण था। यह आंदोलन रूढ़िग्रस्त समाज और उसकी अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश की तीव्रतम अभिव्यक्ति था। समाज की निम्न समझी जाने वाली जातियों में जन्में इन संत कवियों ने समझौते का रास्ता छोड़कर विद्रोह का क्रांतिकारी मार्ग अपनाया। भक्ति ने इन कवियों में आत्मसम्मान का बल भर दिया। संतों का समय राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टि से उथल-पुथल का था। एक तरफ हिन्दू समाज की शास्त्रीय धर्म पर आधारित वर्णाश्रमवादी व्यवस्था थी जिसका विरोध बौद्ध, सिद्ध, नाथ आदि ने भी किया, तो दूसरी ओर इस्लाम की धार्मिक कट्टरता, उग्रता और सामाजिक विषमता थी। इन दोनों ही स्थितियों में आम जनता पीड़ित थी। इन विकट परिस्थितियों में संत कवियों ने ‘मनुष्यता’ को सर्वोपरि रखते हुए निर्भीकता पूर्वक इन विसंगतियों का विरोध किया। ‘मानुष सत्य’

केवल संत कवियों का ही नहीं बल्कि भक्ति आंदोलन के सभी कवियों का जीवन मूल्य था। संत कवि ईर्ष्या, क्रूरता, कपट, लोभ, अहंकार की जगह प्रेम, दया, करुणा, उदारता, अहिंसा और समता का विकास चाहते थे। संतों ने अपना अधिकांश पद सामाजिक, धार्मिक विडम्बनाओं के विरोध में रचा और ईश्वर के समक्ष एक मनुष्य और एक सत्य का उद्घाटन किया।

1.1.2 सूफी काव्य या प्रेम काव्य

सूफी काव्य अपनी आंतरिक विशेषताओं के कारण प्रेमाश्रयी, प्रेममार्गी, प्रेमकाव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्य के नाम से जाना जाता है। इस काव्य धारा की मूल चेतना प्रेम है। लोक प्रचलित कथाएँ इन काव्यों का आधार रही हैं। इन कहानियों के नायक ऐतिहासिक हो सकते थे, लेकिन यह जरूरी नहीं था कि इन कहानियों में ऐतिहासिकता हो। सूफी कवियों ने कल्पना का सहारा लेकर उन प्रेम कहानियों को जन-जन तक पहुँचाया। वे इन प्रेम कहानियों में प्रेमी और प्रेमिका के उत्कट प्रेम, उनके मिलन के मार्ग की बाधाएँ, मिलन का वर्णन इत्यादि बड़े रोचक ढंग से करते हैं। सूफियों ने इस्लाम की शरीअत के विपरीत इस्लाम में भक्ति और माधुर्य का समावेश कर एक नये दर्शन की नींव रखी। धीरे-धीरे सूफीमत पर ईसाइयत, नवअफलातूनी मत, भारतीय वेदांत और बौद्ध दर्शन का प्रभाव पड़ने लगा। अर्थात् सूफीमत किसी खास नियम या शास्त्र से बनी हुई कोई प्रणाली नहीं है; इतना जरूर है कि वह परम्परा, शास्त्रों या कतेबों से वैचारिक ऊर्जा अवश्य ग्रहण करती रही है। इस संदर्भ में शिवसहाय पाठक की टिप्पणी महत्वपूर्ण है- “वस्तुतः सूफीमत कई अर्थों को मिलाने वाला एक शब्द है और इसकी प्रमुख रूप रेखाओं का चित्रण करने में व्यक्ति को एक प्रकार का संपूर्ण चित्र ही बनाना पड़ता है जो किसी हद तक पद्धति का प्रतिनिधित्व नहीं करता।”²³

सूफी साधक बाह्याडम्बरों के स्थान पर भीतरी तत्वों पर बल देते हैं। वे व्यक्तिगत रूप से साधनारत होते हुए भी लोक की अनदेखी नहीं करते। सूफियों ने साधना के चार सोपान माना है- शरीअत, तरीकत, मारिफत और हकीकत। साधना के इन सोपानों से गुजरते हुए वह काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि चित्रवृत्तियों और मनोविकारों से मुक्त हो जाता है। यह ‘फना’ की अवस्था होती है।

प्रियतम या ईश्वर के सिवाय उसे कुछ भी नजर नहीं आता। आत्मा-परमात्मा के मिलन के बाद, अब कोई फर्क नहीं रह जाता वह ब्रह्ममय हो जाता है। इसे ही 'बका' कहते हैं।

भारतीय कविता में प्रेम तत्व प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से केन्द्र में रहा है। भौतिक जीवन ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक क्षेत्र में भी प्रेम को विशेष स्थान दिया गया है। भक्ति के क्षेत्र में मधुरा भक्ति इसका सुंदर उदाहरण है। सूफी कवियों की साधना का आधार भी प्रेम है। वे 'मजाजी प्रेम' को 'हकीकी प्रेम' की तरफ ले गये। इस संदर्भ में जायसी के हवाले से शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि- "इश्क हकीकी की बात जाने भी दें तो लौकिक तथा मानवीय भूमि पर भी जायसी द्वारा चित्रित प्रेम किसी प्रकार के 'इश्क हकीकी' से कम नहीं है। जायसी के यहाँ प्रेम कोई शौकिया वस्तु नहीं है, मन बहलाने की चीज नहीं है और गोकि सूर के प्रेम की भाँति वह लम्बे साहचर्य से उपजा न होकर फारसी प्रेम कथाओं तथा कुछ भारतीय प्रेम कथाओं जैसा गुण श्रवण, चित्रदर्शन आदि से उपजा तात्कालिक प्रेम है, फिर भी, जायसी के भारतीय संस्कारों ने उसे एकांतिक नहीं होने दिया है, और वह फारस की प्रेमगाथाओं वाले प्रेम की तरह लोकपक्ष से शून्य भी नहीं होने पाया है।"²⁴

भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यान की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद एवं महाभारत के अनेक आख्यान इस परम्परा के आदि स्रोत कहे जा सकते हैं। भारतीय प्रेमाख्यानक की परम्परा में दुष्यंत-शकुंतला, नल-दमयंती, उषा-अनिरुद्ध तथा माधवानल-कामकंदला आदि का प्रेम चित्रित किया गया है। संस्कृत के 'कालिदास' से लेकर अपभ्रंश के 'धनपाल' तथा 'अदहमाण' तक अनेक कवियों ने विशुद्ध प्रेम कथाएँ लिखीं। सूफी कवियों ने अपने पूर्व के इन्हीं प्रेमपरक काव्यों के आधार पर अपने प्रेमाख्यानक ग्रंथों की रचना की। सूफियों के प्रेमाख्यानक कुछ प्रेमकथाओं को लेकर और कुछ भारतीय लोककथाओं को लेकर लिखे गए। सूफी मत का अपना पूर्ण स्वरूप ग्रहण करने के बाद उसमें अनेक मसनवियाँ लिखी गईं। इन मसनवियों को प्रेमाख्यान कहा जाता है। ये मसनवियाँ अरब-फारस की प्रसिद्ध लोककथाओं पर आधारित थीं। फारसी की मसनवी शैली के संयोग से इन प्रेमाख्यानकों में अभिव्यक्त प्रेम का स्वरूप परम्परागत काव्य से भिन्न एवं विशिष्ट हो गया। भारतीय काव्य की प्रायः सभी आरंभिक प्रेम कथाएँ वैदिक और पौराणिक प्रेम कथाओं के आधार पर लिखी गई हैं। संस्कृत

साहित्य के बाद पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की प्रेम कथाओं का आधार प्रायः ऐतिहासिक और काल्पनिक है। सूफियों से पहले जैनियों ने भारत की प्रचलित प्रेम कथाओं के आधार पर चरित्र काव्य लिखे और उनके द्वारा जैन धर्म का प्रचार किया। इसी तरह सूफी कवियों ने भी लोक प्रचलित प्रेम कथाओं या ऐतिहासिक प्रेम कथाओं के आधार पर सूफीमत का प्रतिपादन किया। इस तरह संस्कृत से लेकर पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की प्रेम कथाओं में आदर्शवादी प्रेम का चित्रण किया गया है तथा प्रेम को उदात्त बनाने की कोशिश की गयी है। जायसी कहते हैं कि तीन लोक और चौदह भुवन में प्रेम से सुन्दर कोई भी चीज नहीं है -

“तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहि सुझि।

पेम छाँड़ि किछु औरु न लोना जौं देखौं मन बूझि।”²⁵

हिंदी साहित्य की प्रेम गाथाओं में ‘मुल्ला दाऊद’ की ‘चंदायन’, ‘कुतुबन’ की ‘मृगावती’, ‘मंझन’ की ‘मधुमालती’, ‘जायसी’ की ‘पदमावत’, ‘उसमान’ की ‘चित्रावली’ आदि रचनाएँ अपना विशेष महत्व रखती हैं।

सूफी कवियों के आख्यानो में उनकी रचना दृष्टि और समय की आवश्यकताएँ दोनों मौजूद हैं। उस युग का जीवन चरित्र उन रचनाओं में अपने वैविध्य के साथ चित्रित है। रति, शोक, उत्साह, भय, हास, ईर्ष्या, उत्सुकता, सहानुभूति, विवशता आदि जीवन के प्रमुख भाव प्रेमाख्यानों में संदर्भ-सापेक्ष होने के कारण जीवंत बन गये हैं, लेकिन प्रेम की शक्ति जीवन के तमाम भावों में सर्वोपरि है -

“प्रीति बेलि जनि अरुझै कोई। अरुझें मुँ न छूटै सोई।”²⁶

प्रेम के संयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग पक्ष की प्रधानता इनके यहाँ दिखाई पड़ती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जायसी के वियोग पक्ष के संदर्भ में लिखते हैं - “जायसी का विरह-वर्णन कहीं-कहीं अत्यंत अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक की हद तक नहीं पहुँचने पाया है, उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़तीं, हृदय की अत्यंत तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होते हैं।”²⁷

सूफी रचनाकारों की प्रणय भावना साहस संघर्ष की भावना से परिचालित रही है। इनके यहाँ न सामाजिक रूढ़ियों का बंधन स्वीकार्य है न शास्त्र का अनावश्यक हस्तक्षेप। सूफी कवियों ने नायिका को अलौकिक शक्ति का प्रतीक मानकर उसमें अनुपम सौंदर्य का विधान किया। सौंदर्य निरूपण में इन्होंने शरीर और मन दोनों के सौंदर्य का चित्रण किया है। नख-शिख, रूप-रंग, हाव-भाव आदि का समावेश किया है। सूफी प्रेमाख्यानों का नायक अनेक बाधाओं को झेलकर भी निरंतर लक्ष्य की ओर बढ़ते चलते हैं। सूफियों के यहाँ विरह-दशा की प्रधानता देखने को मिलती है। जायसी के यहाँ रानी नागमती का तमाम अहंकार वियोग के दौरान खण्ड-खण्ड हो जाता है और कोमल मानवीय भावनाएँ अपने वास्तविक रूप में प्रकट होती दिखायी पड़ती है। विरह के संदर्भ में जायसी कहते हैं कि जिसके बोल अर्थात् कविता विरह का घाव हों उन्हें अन्न की भूख और छाया अर्थात् घर में रहने की इच्छा नहीं होती -

“जेहि के बोल बिरह के घाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया।”²⁸

सूफी कवियों ने मनुष्यता के सामान्य भावों को अपने प्रेमाख्यानों द्वारा चरितार्थ कर इन्होंने मिली-जुली संस्कृति और लोक जीवन का निर्माण किया जहाँ व्यक्ति, सम्प्रदाय, मत, सिद्धांत, वाद की दूरियाँ स्वयं मिट जाती हैं। उन्होंने मनुष्य के भीतर छिपे प्रेम की रचनात्मक शक्ति को पहचाना और तत्कालीन मुहावरे में उसे रचा -

“मानुस पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह छार एक मूँठी।”²⁹

1.1.3 कृष्ण काव्य

भारतीय संस्कृति में कृष्ण भक्ति काव्य या कृष्ण कथा की एक लम्बी परम्परा देखने को मिलती है। कृष्ण का व्यक्तित्व या कृष्ण कथा में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। इतिहास, गाथा, पुराण, मिथकीय जगत सब उसमें घुले-मिले हैं। मध्यकाल में कृष्ण का अवतारी रूप भारतीय भाषाओं की रचनाशीलता में स्थापित हुआ। ‘श्रीमद्भागवत’ को भक्ति का प्रस्थान ग्रंथ स्वीकार किया जाता है जहाँ कृष्ण कथा के उत्स मौजूद हैं।

छठी से नौवीं शताब्दी के बीच तमिल आलवार संतों ने 'दिव्यप्रबंधम्' की रचना की, जहाँ कृष्ण भक्ति को पूरी रागमयता में प्रस्तुत किया गया है। पुराणों में कृष्ण का मानुषीकरण भक्ति काव्य को नयी दिशाओं में अग्रसर करता है और उसे व्यापकता मिलती है। जयदेव, चण्डीदास से लेकर अष्टछाप कवियों आदि तक इसकी लीला का प्रसार है। यदि दक्षिण के आचार्यों की बात की जाए तो पायेंगे कि मध्यकाल में 'दिव्यप्रबंधम्' के संकलनकर्ता 'नाथ मुनि' ने भक्ति का मार्ग सभी जातियों के लिए खोल दिया। बाद के आचार्यों जैसे रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, निम्बार्क तथा विष्णु स्वामी जैसे आचार्यों ने शंकराचार्य के अद्वैतवादी व्याख्या से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए, भक्ति का प्रवृत्ति मार्गी दर्शन निर्मित किया। रामानुजाचार्य ने प्रपत्ति दर्शन अथवा शरणागति भाव का प्रतिपादन किया, जिसे संपूर्ण भक्तिकाव्य में देखा जा सकता है। इन आचार्यों ने दक्षिण भारत और उत्तर भारत को सांस्कृतिक स्तर पर जोड़ने का प्रयत्न किया। यदि दार्शनिक निष्पत्तियों के संदर्भ में देखा जाए तो निम्बार्क देव कृष्ण को ब्रह्म मानते हैं जो सत्, चित्त और आनंद से संपन्न है, जो राधा भागवत में अनुपस्थित हैं वे निम्बार्क में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती हैं। कृष्ण और राधा की स्थिति लगभग समान है। इससे कृष्ण भक्ति काव्य को, लीला प्रसंग को नयी गति मिली। कृष्ण भक्ति काव्य को नयी दिशा देने का श्रेय वल्लभाचार्य को है। वल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' है। उन्होंने कृष्ण को पारब्रह्म या परमानंद के रूप में चित्रित किया। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य जैसे आचार्यों ने कृष्ण भक्ति काव्य को बौद्धिक आधार दिया, परन्तु कृष्ण भक्त कवियों ने उस कृष्ण कथा को संवेदना की धरातल पर उतारकर लोक जीवन से सहजता पूर्वक जोड़ दिया। कृष्ण भक्तिकाव्य नारायण को नर की भूमिका में प्रस्तुत करता है और देवों के 'मानुषीकरण' की प्रक्रिया को गति देता है। कृष्ण भक्त कवियों का एहसास है कि वह जिस देव का वर्णन मानव रूप में कर रहा है, वह कहीं न कहीं विशिष्ट भी है। सामान्य के साथ विशिष्ट और साधारण के साथ असाधारण की इस द्वंद्वात्मक स्थिति को पार करते हुए भक्तिकाव्य जिस भक्तिदर्शन का संकेत संवेदन धरातल पर करता है उसकी प्रेरणा तो उसे वैष्णवाचार्यों से मिली, पर कविता दर्शनशास्त्र, विचारधारा को अतिक्रमित करती हुई अधिक व्यापक विश्वसनीय संवेदन-संसार निर्मित करती है। कृष्ण भक्ति साहित्य के संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद

द्विवेदी लिखते हैं कि- “श्रीकृष्ण भक्ति का साहित्य मनुष्य की सबसे प्रबल भूख का समाधान करता है। वह मनुष्य को बाह्य विषयों की आसक्ति से तो अलग कर देता है, लेकिन उसे शुष्क तत्त्ववादी और प्रेमहीन कथनी का उपासक नहीं बनाता। वह मनुष्य की सरसता को उद्बुद्ध करता है, उसकी अंतर्निहित अनुराग-लालसा को उर्ध्वमुखी करता है, और उसे निरंतर रससिक्त बनाता रहता है।”³⁰

कृष्ण का मानुषीकरण लीलाओं के माध्यम से व्यक्त हुआ है। व्यापक रूप से विचार करें तो सगुण-निर्गुण की अपनी धारणाएँ हैं। मध्यकाल में जिस रूप में कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद, आडम्बर, मिथ्याचार आदि का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा था, उससे मुक्ति का उपाय खोजते हुए संत कवि निर्गुण का आग्रह करते हैं। निर्गुण संतों का आग्रह मूर्ति पूजा की जगह ज्ञान पर अधिक है। सगुण भक्तों के अनुसार मन चंचल है, उसे स्थिर एकाग्र करने के लिए कोई आश्रय या आलंबन चाहिए। निर्गुण ज्ञानमार्गियों के लिए तो संभव है, पर सामान्य जन के लिए साकार या सगुण ही गम्य और सहज है। उधव जब गोपियों को कृष्ण को छोड़कर निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने की बात कहते हैं तब गोपियाँ निर्गुण को लेकर बहुत ही तर्कपूर्ण प्रश्न करती हैं -

“निर्गुन कौन देस को बासी?

मधुकर ! हँसि समुझाय, सौँह दै बूझति साँच, न हाँसी।

को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी?

कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी।”³¹

कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण का पूरा लीला-संसार रचा, जिसमें उन्होंने मिथकीय कथाओं का भी उपयोग किया। सगुण भक्त कवियों ने अपनी कल्पनाशीलता से उसे एक ऐसा स्वरूप दिया कि सब समरस हो सकें। उन कवियों ने भागवत की तरह कृष्ण के देवत्व का स्मरण कराना आवश्यक नहीं समझा बल्कि कृष्ण की लीलाओं के माध्यम से ही उनके बहुरंगी व्यक्तित्व को उद्घाटित किया है।

कृष्ण काव्य में भले ही निर्गुण संतों की तरह विद्रोह का भाव या तुलसी की तरह कलिकाल का वर्णन न हो लेकिन इसका सबसे उल्लेखनीय पक्ष लोक की सहज और रसमय अभिव्यक्ति है। कृष्ण भक्ति काव्य का लीला-संसार ब्रजमण्डल से अधिक सम्बद्ध है; यहाँ गोकुल-वृंदावन अपनी पूरी लोक

छवि के साथ उपस्थित है। यमुना तो जैसे कृष्ण लीला का परम साक्ष्य है। कृष्ण का जन्म, दधि-माखन चोरी, वृंदावन-विहार के साथ ब्रज के अनेक लोकोत्सव का विशद चित्रण मिलता है। नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगांठ से लेकर अन्य सामाजिक उत्सवों में ऐसा लगता है जैसे पूरा गोकुल शामिल हो। वसंत के दृश्य कृष्ण काव्य में बहुलता से मिलते हैं; यहाँ रागात्मक जीवन की सहज अभिव्यक्ति है। शास्त्र की स्थिति गौण और लोक का स्वर प्रधान बन गया है।

कृष्ण काव्य में राधा-कृष्ण को अराध्य मानकर बड़े विस्तार से प्रेम तत्व की अभिव्यक्ति की गयी है। सूरदास ने 'सूरसागर' में कृष्ण जन्म से लेकर कृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा कही है। उन्होंने कृष्ण के बाल सुलभ भावों और चेष्टाओं का स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है। इस संदर्भ में प्रो. मैनेजर पाण्डेय की टिप्पणी महत्वपूर्ण है - “हिंदी में सूर से बड़ा प्रेम का कवि दूसरा कोई नहीं है। सूर का वात्सल्य वर्णन अमानवीय व्यवस्था के बीच भी मनुष्य की मनुष्यता को जगाने और उसकी रक्षा करने में समर्थ है। सूर का भक्ति मार्ग प्रेममार्ग है उसमें जीवन के रागात्मक संबंधों के सहज, उदात्त और मानवीय रूपों की अभिव्यक्ति है। सूर का काव्य जीवन और जगत के प्रति सच्चे अनुराग से पैदा हुआ है और वह जीवन जगत में सच्चा अनुराग जगाने वाला काव्य है। वह जीवन की समग्रता का काव्य है, जिसमें मानव-जीवन के बचपन, किशोरावस्था और यौवन के रूप, भाव तथा कर्म के सौंदर्य की व्यंजना है।”³²

स्त्री-पुरुष संबंधों के चित्रण में जितना अधिक खुलापन कृष्ण काव्य में है उतना अन्य भक्ति काव्य में नहीं है। संभवतः कृष्ण भक्ति काव्य में उन्मुक्तता का एक कारण कृषि चरागाही संस्कृति भी है; जिसका उपयोग बहुलता से हुआ है। ग्राम का सरल, निश्छल जीवन यहाँ चरागाही संस्कृति के माध्यम से उभरता है। कृषि चरागाही संस्कृति से लोक जीवन की एक संपूर्ण तस्वीर बनती है।

कृष्ण भक्तिकाव्य के प्रमुख पद मंदिरों में गायन-परम्परा का अंग बन गए जिससे उनका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। उन्हें राग-रागिनियों में बाँधा गया और एक ओर वे शास्त्रीय गायन में स्वीकृत हुए दूसरी ओर लोक गायन में प्रचलित हुए लगभग सभी भाषाओं के भक्ति काव्य में भजन-गायन की व्यवस्था रही है। चण्डीदास, जयदेव, शंकरदेव आदि ने कीर्तन भाव से भक्ति को व्यापकता दी। इस

संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की टिप्पणी महत्वपूर्ण है कि - “जिस प्रकार बंग देश में कृष्ण चैतन्य ने, उसी प्रकार उत्तर भारत में वल्लभाचार्य जी ने परम भाव की आनंदविधायिनी कला का दर्शन कराकर, जिसे प्रेम कहते हैं, जीवन में सरसता का संचार किया। दिव्य प्रेम संगीत की धारा में इस लोक का सुखद पक्ष निखर आया और जमती हुई उदासी या खिन्नता बह गई।”³³

कबीर, नानक तथा निर्गुणिये संतों के पद भी गाए जाते हैं। भक्तिकाल में जिस राग-रागिनियों के द्वारा संगीत की कल्पना की गयी वह आज भी जीवित है। शास्त्र और लोक का ऐसा संयोजन भक्तिकाव्य में प्राप्त होता है जो अन्यत्र दुर्लभ है।

वस्तुतः कृष्ण का व्यक्तित्व, कृष्ण भक्ति साहित्य के माध्यम से कई रूपों में सामने आता है। लीला पुरुषोत्तम से लेकर लोक देवता के रूप में उनका महत्व जनमानस में व्याप्त है। कृष्ण भक्ति काव्य के संदर्भ में श्रीमद्भागवत का विशेष महत्व है। भागवत में भक्ति को सर्वजन-सुलभ बताया गया है। कृष्ण भक्ति के संदर्भ में दार्शनिक वाद-विवादों की अपेक्षा उसका लोकरूप अधिक प्रभावशाली होकर उभरा है। सूरदास के काव्य को पशुचारण काव्य की संज्ञा दी गयी है। कृष्ण भक्त कवियों के यहाँ अनुभूति की तन्मयता है; जिससे उनमें संगीतात्मक चेतना का प्रसार दिखायी पड़ता है। इसी कारण कृष्ण भक्त कवि जनता में लोकप्रिय हुए। कृष्ण भक्त कवियों के प्रभाव से ब्रजभाषा भारतीय स्तर पर लोकप्रिय हुई। कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्णकाव्य को सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में जन-जन तक पहुँचाया।

1.1.4 राम काव्य

हिंदी साहित्य में रामभक्ति काव्यधारा ने सगुण भक्ति की मूल संवेदना को जन-भाषा के माध्यम से लोक की भाव भूमि पर दृढ़ता से प्रतिष्ठित किया। वाल्मीकि ने देवताओं पर काव्य रचने की परम्परा को अस्वीकार किया तथा ‘मर्यादा पुरुषोत्तम राम’ के द्वारा मनुष्य की सत्ता को स्थापित करने एवं प्रतिष्ठित करने का काम किया। इसे ‘नर-काव्य’ या ‘आदिकाव्य’ की संज्ञा दी गयी। बौद्धों ने राम को ‘बोधिसत्व’ मानकर रामकाव्य को जातक साहित्य में स्थान दिया। बौद्धों की भाँति जैनियों ने भी राम-कथा को अपनाया और पर्याप्त लोकप्रियता प्रदान की। जैनियों ने विपुल राम-साहित्य की सृष्टि की।

जैन कवि विमलसूरि ने ‘पउमचरिय’ प्राकृत भाषा में लिखकर रामकथा को जैन धर्म के साँचे में ढाल दिया। संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं में रामकाव्य की विशाल परम्परा है। जैसे- संस्कृत में भवभूति का ‘उत्तररामचरित’, तमिल में कवि कम्बन कृत ‘तमिल रामायण’, तेलुगु में ‘रंगनाथ रामायण’ तथा ‘भास्कर रामायण’, कन्नड़ में ‘तोवेर रामायण’ इत्यादि हैं।

रामानंद को रामकाव्य परम्परा के चिंतन का आधार बिन्दु कहा जा सकता है। रामानंद का रूढ़िवाद-पुरोहितवाद विरोधी चिंतन ही कबीर और तुलसीदास में रचनात्मक निष्पत्ति पाता है। रामानंद ने शास्त्र-परम्परा और संस्कृत भाषा के स्थान पर लोक भाषा में काव्य-सृजन की भूमिका तैयार की। रामानंद सम्प्रदाय में विशिष्टाद्वैत को ही मान्यता प्राप्त है। रामानंद ने अपने मत को ‘आनंद-भाष्य’ में प्रस्तुत किया और विशेष दार्शनिक विचारधारा को ‘श्रीरामार्चन पद्धति’ ‘श्रीवैष्णव-मताब्ज भास्कर’ में स्पष्ट किया। रामानंद के अराध्य हैं ‘श्रीराम’ वे शील, शक्ति एवं सौंदर्य के केन्द्र हैं। रामानंद का यह प्रतिमान तुलसीदास ने ‘श्रीरामचरितमानस’ में अपनाया है।

भक्तिकाल में किसी रचनाकार के कृतित्व में तत्कालीन यथार्थ का इतना विशद और दारुण चित्र नहीं मिलता; जितना तुलसीदास के साहित्य में प्राप्त होता है। कवितावली में तुलसीदास कहते हैं कि काल बड़ा कराल है, राजा निर्दयी है और राज-समाज छली कपटी है। जीवन की विभीषिका सम्पूर्ण यथार्थ को एक दुःस्वप्न में बदल चुकी है। दिनोंदिन दरिद्रता, दुःख, पाप और कुराज्य बढ़ते जा रहे हैं, इस भयंकर वास्तविकता से भय खाकर सुख संकुचित हो रहे हैं। भले आदमी का बुरा हो रहा है-

“दिन-दिन दूनो देखि दारिदु, दुकालु, दुखु,
दुरितु दुराजु सुख-सुकृत सकोच है।
मार्गे पैत पावत पचारि पातकी प्रचंड,
काल की करालता, भले को होत पोच है।”³⁴

तुलसीदास अपने समय के यथार्थ से साक्षात् रूबरू होते हैं। उनके अनुसार इस संसार का संकट तीर्थाटन करते हुए विविध स्थानों पर विचरने से नहीं कटेगा, इसके लिए वैराग्य और ज्ञान की आवश्यकता है-

“न मिटै भवसंकटु, दुर्घट है तप, तीरथ जन्म अनेक अटो।

कलि में न बिरागु, न ग्यानु कहूँ, सबु लागत फोकट झूठ-जटो।”³⁵

धन की लूट-खसोट पर अवलम्बित समाज में तुलसी अपनी हैसियत, अपनी वास्तविक स्थिति की दो टूक और निर्मम समीक्षा करते हैं - मेरा मन ऊँचा है और मेरी रुचि भी ऊँची है, पर मेरा भाग्य कपट नीचा है। मैं लोकरीति के लायक कभी नहीं रहा, बल्कि उलटे हमेशा स्वच्छंद और वाचाल बना रहा। इतने साधन थे ही नहीं कि अपने स्वार्थ की पूर्ति करता, भला परमार्थ कैसे कर पाता। इस पेट की भूख के कारण मेरी जिंदगी जी का जंजाल हो गई है, चूंकि न तो कोई चाकरी मिली, न खेती की, न कभी व्यापार किया और न कभी धंधे के रूप में भिक्षावृत्ति अपनायी। हकीकत में हालत यहाँ तक पहुँच गई है कि यदि राम सहारा न दें तो अपने पितरों को भेंट चढ़ाने के लिए मेरे सिर पर बाल भी नहीं हैं -

“ऊँचो मनु, ऊँची रुचि, भागु नीचो निपट ही,

लोकरीति-लायक न, लंगर लबारु है।

स्वारथु अगमु परमारथ की कहा चली,

पेट कीं कठिन जगु जीव को जवारु है।

चाकरी न आकरी, न खेती, न बनिज-भीख,

जानत न कूर कछु किसब कबारु है।

तुलसी की बाजी राखी रामही कें नाम, न तु,

भेंट पितरन को न मुड़हू में बारु है।”³⁶

तुलसीदास अपने अभाव, अपनी निपट दरिद्रता और बेरोजगारी की दारुण अवस्था का जो चित्र खींचते हैं; वह चित्र केवल तुलसीदास का नहीं बल्कि जन-साधारण की बदहाली का चित्र है -

“लालची ललात, बिललात द्वार-द्वार दीन,

बदन मलीन, मन मिटै ना बिसूरना।

ताकत सराध, कै बिबाह, कै उछाह कछू,

डोलै लोल बूझत सबद ढोल-तूरना।
प्यासेहूँ न पावै बारि, भूखें न चनक चारि,
चाहत अहारन पहार, दारि घूर ना।
सोक को अगार, दुख भार भरो तौलौं जन,
जौलों देबी द्रवै न भवानी अन्न पूरना।”³⁷

अकाल और सूखा पड़ने के समय निर्धन, जन-साधारण की तबाही-बर्बादी का विश्वसनीय चित्र देने में तुलसी का अद्वैतवाद बाधक नहीं बनता है। तुलसीदास अपनी रचनाओं में दैन्य और अभाव के प्रति एक संवेदनशील रचनाकार के रूप में सजग दिखायी पड़ते हैं। इसका एक प्रमाण तो यही है कि अपने उपास्य को सामर्थ्यवान, सर्वशक्तिमान, पराक्रमी और अलौकिक गुणों से संपन्न बताने मात्र से वे संतुष्ट नहीं होते। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि इतना बताने मात्र से राम के प्रति अनुराग उत्पन्न होने वाला नहीं है। अतः बार-बार कृपा विधान, करुणा के सागर, दीनदयालु, गरीब नवाज और विपन्न-वंचित जनों के शरणदाता के रूप में राम की महिमा का बखान किया गया है।

राम भक्ति काव्य में ‘लोक चिंता’, ‘लोक रक्षा’ तथा ‘लोक मंगल’ की भावना का प्राधान्य है। तुलसी काव्य के नैतिक मूल्यों का संघर्ष साधारण जन संघर्ष से जुड़ा संघर्ष है। स्वयं तुलसी ने भूख-गरीबी, अकाल, काम-क्रोध-मद-लोभ से संघर्ष किया है और उस आत्मसंघर्ष के चित्र कवितावली, गीतावली, दोहावली, विनयपत्रिका में विशेष रूप से मिलते हैं। निर्गुण-सगुण में अभेद भाव, सगुण में गहरी आस्था ही राम भक्ति नहीं है। भक्ति रसपान के लिए भक्त कवि में याचक भाव और अहं का विलयीकरण है। तुलसी के यहाँ रचना और भक्ति एक साथ सक्रिय है। इस संदर्भ में राम स्वरूप चतुर्वेदी का कथन है कि- “तुलसी की विलक्षण प्रतिभा इस बात में है कि उन्होंने भक्त और रचनकार की भूमिकाओं का एक साथ सफल निर्वाह किया है। भक्त मूलतः दैवी शक्ति के किसी स्वरूप में आस्था रखता है, जबकि रचनाकार अपनी आस्तिकता-नास्तिकता के बाद एक मूलतः ऐहिक या कि धर्म-निरपेक्ष कर्म में प्रवृत्त होता है।”³⁸

ये भक्त कवि अपने को सबसे पतित कहते हैं, यह इनका विनय भाव है। प्रपत्तिवाद शरणागत भाव से उपजी दास्य भक्ति का चरम प्रतिमान हनुमान भाव की भक्ति में है, जिसमें राम से बड़ा राम भक्त है -

“मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा।

राम ते अधिक राम कर दासा।”,³⁹

नाम, ध्यान, स्मरण, जप नवधा भक्ति के सभी रूपों को राम भक्ति में अपनाया गया है। राम भक्ति का सार यही है -

“सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि।”,⁴⁰

तुलसीदास ने दार्शनिक और ज्ञानी से भक्त को बड़ा घोषित किया है और योग तंत्र के चमत्कारवादी विधान का खंडन किया। उन्होंने शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, नारद भक्ति सूत्र, गीता के भक्ति मार्ग को छांटकर भक्ति-रस का लोकमंगलमय स्वरूप निर्मित किया। इस भक्ति पर सभी का समान अधिकार है। तुलसीदास ने धर्म और दर्शन को जोड़कर ‘भक्ति’ का एक विशिष्टाद्वैतवादी ढाँचा निर्मित किया; जिसमें कोई भी पराया नहीं है। रामभक्ति धारा ने वैष्णव भक्ति को सरल बनाने के लिए लोकचित्र को आकृष्ट करने के लिए अवतारवाद, लीलावाद को अपनाया। ‘श्रीरामचरितमानस’ महाकाव्य से अधिक ‘लीला काव्य’ या ‘चरितकाव्य’ है। भक्तों के लिए राम करुणा के सागर हैं। तुलसी के अनुसार ज्ञानमार्ग, कर्मयोग मार्ग से भक्ति मार्ग श्रेष्ठ है। तुलसीदास ने ‘श्रीरामचरितमानस’ के उत्तरकाण्ड में ज्ञान और भक्ति की विस्तार से चर्चा की है। इस प्रकार रामकाव्य परम्परा ‘निर्वाण’ तथा ‘मोक्ष’ को न चाहकर राम के चरणों की भक्ति या अनन्य भक्ति का प्रतिपादन करती है।

एक तरफ बौद्धों तथा जैनियों द्वारा रचित रामकाव्य की परम्परा दिखायी पड़ती है तो दूसरी तरफ नैतिक मूल्यों पर आधारित राम-भक्त कवियों की मर्यादावादी परम्परा है, जिसमें तुलसीदास हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी राम भक्ति साहित्य की तुलना कृष्ण भक्ति साहित्य से करते हुए रामकाव्य की मर्यादावादी दृष्टि का उल्लेख करते हैं- “राम भक्ति का साहित्य सामाजिक मर्यादा के

रक्षण का साहित्य है, जबकि कृष्ण भक्ति का साहित्य प्रधान रूप से रागानुग भक्ति का साहित्य है। ... यही कारण है कि कृष्ण भक्ति-साहित्य में सामाजिक विधि-निषेध की मर्यादा की ओर कम ध्यान दिया गया है और ऐकांतिक प्रेम की ओर अधिकांश दूसरी ओर राम का आश्रय करके लिखे गए साहित्य में सामाजिक विधि-निषेध की ओर काफी ध्यान दिया गया है।⁴¹

तुलसीदास ने प्रबंध-मुक्तक गेय परम्पराओं की सभी लोक शैलियों को अपनाकर जन-मन में अपना स्थान बनाया। भारतीय मिथक शास्त्र, काव्यशास्त्र, सौंदर्य-दर्शन और संस्कृत-प्राकृत के रचनात्मक साहित्य को निचोड़कर तुलसी ने रामकाव्य में शील, भक्ति, सौंदर्य का निरूपण किया। दरअसल रामकाव्य का विकास 'लीलाकाव्य' के रूप में हुआ। रामकथा के 'राम' अन्याय के विरोध के प्रतीक बन गए। रामभक्ति काव्य परम्परा ने लोक और शास्त्र दोनों के सामंजस्य से अपना पथ-प्रशस्त किया। रामकाव्य को ऊपर से देखने पर स्वान्तः सुखाय या आत्मनिवेदन का भाव है लेकिन गहराई से देखने पर उसमें लोकचिंता या लोकमंगल का भाव दिखाई पड़ता है। ये सभी भक्त कवि 'भक्ति' को लोक कल्याण के रूप में देखते हैं जिसमें अहं का विसर्जन आवश्यक है।

भक्ति आंदोलन का पूरा चरित्र सामंतवाद और पुरोहितवाद का विरोधी रहा है। कबीरदास का पद 'धन संचते राजा मूये ... बेद पढ़े-पढ़े पंडित मूये', कुंभनदास का पद 'संतन को कहा सीकरी सो काम' या तुलसीदास का पद 'प्राकृत जन कीन्हे गुन गाना' इत्यादि प्रशस्ति परम्परा का विरोध करता है। ये पद गहरे अर्थों में चारण भाट-सामंत पूजा का तिरस्कार करते हैं। भक्ति आंदोलन भक्ति के माध्यम से ईश्वर के समक्ष समानता का प्रतिपादन करता है जहाँ केवल धार्मिक या आध्यात्मिक समानता की बात नहीं है बल्कि वे रचनाकार जानते हैं कि सामाजिक समानता के बगैर इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उनकी रचनाओं में गहन मानवीय मूल्य बोध दिखायी पड़ता है जो जाति, क्षेत्र और सम्प्रदाय की सीमाओं का अतिक्रमण करता है।

संदर्भ

- ¹ सिंह, गोपेश्वर. सं. भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, पृ.सं. 45
- ² पाण्डेय, मैनेजर. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, भूमिका
- ³ शरण, जगदीश. सं. रैदास ग्रंथावली, पृ.सं. 110
- ⁴ दादूदयाल. दादू दयाल की बानी, भाग-1, पृ.सं. 129
- ⁵ सिंह, गोपेश्वर. सं. भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, पृ.सं. 57
- ⁶ सुन्दरदास. सुन्दर बिलास, पृ.सं. 137
- ⁷ सिंह, गोपेश्वर. सं. भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार, पृ.सं. 11
- ⁸ शर्मा, रामविलास. परंपरा का मूल्यांकन, पृ.सं. 45
- ⁹ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 27
- ¹⁰ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 111
- ¹¹ वही, पृ.सं. 224
- ¹² द्विवेदी, हजारी प्रसाद. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ.सं. 55-56
- ¹³ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 104
- ¹⁴ वही, पृ.सं. 15
- ¹⁵ वही, पृ.सं. 95
- ¹⁶ वही, पृ.सं. 12
- ¹⁷ शरण, जगदीश. सं. रैदास ग्रंथावली, पृ.सं. 128
- ¹⁸ वही, पृ.सं. 66
- ¹⁹ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 25
- ²⁰ वही, पृ.सं. 166
- ²¹ वही, पृ.सं. 38
- ²² वही, पृ.सं. 75
- ²³ पाठक, शिवसहाय. हिंदी सूफी काव्य का समग्र अनुशीलन, पृ.सं. 25
- ²⁴ मिश्र, शिवकुमार. भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, पृ.सं. 116-117
- ²⁵ अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 93
- ²⁶ वही, पृ.सं. 242
- ²⁷ शुक्ल, रामचन्द्र. त्रिवेणी, पृ.सं. 37
- ²⁸ अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 22
- ²⁹ वही, पृ.सं. 159
- ³⁰ द्विवेदी, हजारी प्रसाद. हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ.सं. 120-121
- ³¹ शुक्ल, रामचन्द्र. सं. भ्रमरगीत सार, पृ.सं. 23
- ³² पाण्डेय, मैनेजर. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, भूमिका
- ³³ शुक्ल, रामचन्द्र. सं. भ्रमरगीतसार, पृ.सं. 1
- ³⁴ तुलसीदास. कवितावली, पृ.सं. 105
- ³⁵ वही, पृ.सं. 108
- ³⁶ वही, पृ.सं. 98
- ³⁷ वही, पृ.सं. 137
- ³⁸ चतुर्वेदी, रामस्वरूप. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.सं. 48
- ³⁹ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 95

⁴⁰ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 949

⁴¹ द्विवेदी, हजारी प्रसाद. हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ.सं. 138-139

द्वितीय अध्याय

भक्ति काव्य में अभिव्यक्त राज्यव्यवस्था का स्वरूप

2.0 राज्य का स्वरूप

भक्तिकाल में हमारे देश में राज्य का स्वरूप तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ कैसी थीं? इसको समझने के लिए भक्तिकाव्य के साक्ष्यों के अतिरिक्त ऐतिहासिक और राजनैतिक पृष्ठभूमि को भी समझना आवश्यक है। साहित्य अपने समय की उपज होता है लेकिन वह अपने ही ढंग से समय का समर्थन, आलोचन भी करता है और उसका अतिक्रमण भी। वैसे साहित्य के लिए ऐतिहासिकता का अतिक्रमण करना उचित नहीं क्योंकि यह साहित्य को बहुत हद तक वायवीय ही बनाता है; पर साहित्य में कल्पना के लिए जरूरी जगह होती है। भक्तिकालीन साहित्य को लेकर इतिहासकार हरबंस मुखिया का विचार है कि - “हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल से संबंधित भाग, न सिर्फ एक गैर-सरकारी स्रोत हैं बल्कि मध्यकालीन भारतीय राजसत्ता और समाज के प्रति जनता के रवैयों की एकमात्र अभिव्यक्ति है।”¹

अतः मध्यकालीन राज्यव्यवस्था के स्वरूप को भक्तिकाव्य के माध्यम से अन्वेषित करना समीचीन होगा। राज्य एक प्रादेशिक संगठन होता है जो किसी निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से बसा होता है। अपने आप में यह स्वतंत्र होता है जिसमें एक सुसंगठित सरकार होती है जिसके आदेशों का पालन करना नागरिकों के लिए अनिवार्य होता है। सरकार लोकतंत्र में जनता द्वारा चुनी जाती है और राजतंत्र में सम्राट वंशानुगत होता है। युद्ध के बल पर भी विभिन्न ढंग से राज्य और सरकारें बनती हैं। भक्ति काव्य का विश्लेषण तत्कालीन राजतंत्र के साथ इसके संबंध को लेकर किया जाना रोचक है। वैसे तो उस समय एक केन्द्रीय शासन प्रणाली का विकास हो रहा था हमें उस समय की राज्य व्यवस्था को समझना आवश्यक है। डॉ. नगेन्द्रनाथ बसु के ‘इनसाइक्लोपीडिया इण्डिका’ (हिंदी विश्व कोश) के अनुसार निम्नांकित सप्ताङ्गों (सात अंगों) को राज्य कहते हैं।

“अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र और राजा अथवा स्वामी” इसके साथ ही “कहीं लाख गाँवों के समूह को भी राज्य कहते हैं”²

व्यवस्था से तात्पर्य है: “शास्त्र-निरूपित विधि। शास्त्र में जो विधान कहे गए हैं, उन्हें शास्त्रीय व्यवस्था कहते हैं या नियम, स्थिति और स्थिरता।”³

राज्यव्यवस्था से आशय है : “वह नियम या व्यवस्था जिसके अनुसार प्रजा के शासन का विधान किया जाता हो या राज्य नियम।”⁴

प्राचीन भारतीय राज्यों के लिए राज्य के सात अंग (स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड अथवा सेना और मित्र) महत्वपूर्ण माने गये हैं जिसे सप्ताङ्ग राज्य भी कहा गया है। इन सात अंगों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

1. स्वामी

राजा राज्य का प्रधान अंग था और राजा की महत्वपूर्ण स्थिति को ध्यान में रखते हुए उसे स्वामी कहा गया। स्वामी से तात्पर्य आदेश देने वाला या शासन करने वाले से है। तुलसीदास ने बताया है कि अच्छे या बुरे राज्य का मूल कारण उसके राज्य का श्रेष्ठ या निम्न कोटि के राजा का होना है-

“जथा अमल पावन पवन पाइ कुसंग सुसंग।

कहिअ कुबास सुबास तिमि काल महीस प्रसंग।”⁵

राजा में अनेक गुण होने चाहिए जैसे- विनय, विवेक, शास्त्र ज्ञान, समयानुकूल व्यवहार करने की योग्यता, प्रजा के पोषण और रक्षण की क्षमता, शत्रु और मित्र का ज्ञान इत्यादि। राजा को राज्य हित के लिए कोई भी कार्य करने की छूट थी लेकिन राजा धर्म और नीति से परे नहीं था। तुलसीदास कहते हैं कि-

“धरम धुरंधर नीति निधाना। तेज प्रताप सील बलवाना।”⁶

2. अमात्य

राज्य में अमात्यों का विशेष महत्व है। अमात्य का आशय मंत्रियों और उच्च प्रशासनिक अधिकारियों से है। इन्हें सचिव भी कहा गया है-

“मातु सचिव गुर पुर नर नारी।

सकल सनेह बिकल भए भारी।”⁷

अमात्य या मंत्री राज्य का अनिवार्य अंग होते हैं। राजा को योग्य मंत्रियों से मंत्रणा करके ही कोई राजकीय निर्णय लेना चाहिए। तुलसीदास जी कहते हैं कि कुमंत्रणा से राजा बहक भी सकता है।

“संग ते जती कुमंत्र ते राजा।

मान ते ग्यान पान तें लाजा।”⁸

3. जनपद

जनपद का अर्थ है जनयुक्त भूमि। जिसे वर्तमान काल में हम जनता और भूमि कहते हैं। जनता सरल हृदयवाली, निष्ठावान, स्वाभिमानी तथा संपन्न होनी चाहिए। वह ऐसी होनी चाहिए कि राजा द्वारा लगाए गए कर्षकों को चुकाने की क्षमता रखती हो तथा उन्हें स्वेच्छा से अदा करती रहे। जनता में शासक की आज्ञाओं का स्वाभाविक रूप से पालन करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। जनपद की भौगोलिक स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि उसकी रक्षा कर पाना संभव हो।

4. दुर्ग

दुर्ग भी राज्य का उतना ही महत्वपूर्ण अंग था जितना जनता, भूमि और राजा। दुर्ग राज्य की रक्षात्मक शक्ति और आक्रामक शक्ति दोनों का प्रतीक था। दुर्ग चार प्रकार के होते थे- औदिक जो चारों ओर से पानी से घिरे हुए हों। पार्वत, जो पर्वतों के बीच में हो। धान्वन, जो निर्जन मरु प्रदेश में बना हो। वन दुर्ग, जो वनों के बीच में हो। औदिक दुर्ग और पार्वत दुर्ग राज्य की रक्षा की दृष्टि से उपयोगी होते थे। दुर्ग का उल्लेख लगभग सारे मध्यकालीन कवियों ने किया है, जिसमें सबसे अधिक जायसी के यहाँ मिलता है-

“गढ़ तर सुरंग कुंड अवगाहा। तेहि महं पंथ कहौ तोहि पाहा।”⁹

5. कोष

कोष का महत्व राज्य में बहुत ही अधिक होता है। राज्य के पास भरा-पूरा कोष और आय के स्थायी स्रोत होने चाहिए। किसी भी राज्य की सेना पूर्णतया कोष पर ही निर्भर होती थी। पहले उपज

का छठा भाग कोष के लिए राज्य को देना होता था जिससे राज्य के विपत्ति के समय में राज-काज सुदीर्घ काल तक चल सके। मुश्किल तब होती थी जब राजा विलासी होता था।

6. दण्ड अथवा सेना

राज्य की सुरक्षा के लिए सेना का महत्व अत्यधिक है। सैनिक अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में भी भली-भांति प्रशिक्षित, वीर, स्वाभिमानी तथा राष्ट्र प्रेमी होने चाहिए।

7. मित्र

मित्र भी राज्य का एक आवश्यक अंग है। मित्र ऐसा हो जो सहायता की आवश्यकता पड़ने पर सहायता करे तथा जिसमें संबंध विच्छेद की संभावना कम हो। साहित्य में इसके अनेक उदाहरण मिल जाएँगे। जैसे- राम का वानरी सेना से मिलना-

“जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।

निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना।”¹⁰

राज्य और राजसत्ता के स्वरूप को लेकर तरह-तरह के विचार देखने को मिलते हैं जैसे यह माना जाता है कि राज्य लोगों के आपसी समझौते का फल है। यह सामाजिक समझौता सामुदायिक भावना का प्रतीक था जिसमें राज्य समाज के सभी लोगों का प्रतिनिधित्व सामान्य इच्छा के आधार पर करता है। सामान्य इच्छा समाज के सभी लोगों की वास्तविक इच्छाओं का एक सामूहिक रूप है। हम राज्य का समर्थन इसलिए करते हैं कि हमारी इच्छा वही होती है जो राज्य की इच्छा होती है; पर ऐसा अनुभव तो सदैव नहीं होता। बहुत सारे अवसरों पर ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य की इच्छा हमारी निजी इच्छा के विरुद्ध है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि हमको अपनी वास्तविक इच्छा का सदैव अनुभव नहीं होता। इस स्थिति में राज्य को मनुष्य के जीवन में हस्तक्षेप करने का बहाना मिल जाता है तथा राज्य और उसकी सरकारें हमारे जीवन में सर्वशक्तिमान और निरंकुश बनकर उभरती हैं जो अपनी इच्छाओं को हमारे ऊपर आरोपित करती रहती हैं।

ऐसा भी माना जाता है कि प्राचीन समय में ‘राज्य’ नामक संस्था नहीं थी। सब लोग स्वच्छंद थे। कबीलाई समाज से पहले भी मनुष्य छोटी-बड़ी टुकड़ियों में रहते होंगे। इस बात को स्वीकार किया

जा सकता है कि इन मनुष्य के समुदायों ने आपसी क्रियाकलापों के लिए कुछ नियम बनाये होंगे, लेकिन इन नियमों को न तो हम कानून की संज्ञा दे सकते हैं न ही इस समुदाय को राज्य की। धीरे-धीरे मनुष्य की अवस्थाएँ बदली और वह सभ्यता की ओर बढ़ने लगा। जहाँ मनुष्य समुदाय का स्वरूप जटिल होता चला गया। मनुष्य श्रम, संपत्ति इत्यादि से जुड़ता चला गया। वर्ग-व्यवस्था का आविर्भाव स्वाभाविक था। आर्थिक वैषम्य की स्थिति पैदा हुई। उँच-नीच या शोषक-शोषित का भाव प्रबल हो उठा। इन परिस्थितियों में राज्य नामक संस्था का आविर्भाव इसलिए हुआ कि वह सबसे ऊपर निष्पक्ष होकर न्याय कर सके, लेकिन क्या इस प्रकार न्याय संभव हो पाया? इस संदर्भ में डॉ. संपूर्णानंद का एक लम्बा उद्धरण देखा जा सकता है जो कि किसी भी राज्य एवं उसकी निरंकुशता के वास्तविक स्वरूप को समझने में मदद करेगा-

“यदि न्याय का अर्थ सबको अपना-अपना हक दिलवाना है तो राज्य उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों को अपना हक दिलवाता होगा, परंतु उत्पीड़क का हक कैसा होता है? जो लुट रहा हो उसका तो हक मारा जा रहा है। अतः उसकी रक्षा होनी चाहिए पर लूटने वाले डाकू का कौन-सा हक है जो उसको दिलवाया जायेगा? अतः यदि राज्य न्याय पर तुला था तो उसके लिए एकमात्र यही मार्ग था कि वह उत्पीड़ितों को, छोटी मछलियों का साथ देता। पर यदि राज्य ने ऐसा किया होता तो बड़ी मछलियाँ बच ही न जाती। वस्तुस्थिति यह है कि आज तक न तो राज्य ने इस प्रकार का न्याय करना अपना कर्तव्य समझा, न इसके लिए प्रयत्न किया, यद्यपि लोगों के सामने बराबर इसकी दोहाई दी जाती थी और है। राज वस्तुतः वर्ग संघर्ष को, मात्स्यन्याय को मिटाने के लिए नहीं वरन् उसको सुव्यवस्थित करने के लिए स्थापित हुआ। ...राज्य वस्तुतः शोषक वर्ग के अधिकारों की रक्षा का साधन है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह अधिकार उन्होंने आप अपने को दे दिया है। राज्य के भीतर जो कानून चलते हैं वह शोषक वर्ग के बनाये होते हैं और उनका उद्देश्य इस वर्ग के आधिपत्य को अक्षुण्ण बनाये रखना होता है। राज्य की इच्छा वस्तुतः जनता की वास्तविक इच्छा नहीं है। इस जनता शब्द से जनसाधारण अर्थात् यदि देश के सब निवासी नहीं तो उनमें से बहुत बड़े भाग का बोध होता है। पर बहुत बड़ा भाग तो उन्हीं लोगों का है जो उत्पीड़ित या शोषित हैं। एक ओर राज्य की,

अर्थात् मुट्ठी भर उत्पीड़कों की, वास्तविक इच्छा, दूसरी ओर जनता की अर्थात् बहुसंख्यक उत्पीड़ितों की वास्तविक इच्छा- यह दोनों इच्छाएँ कदापि एक नहीं हो सकतीं, क्योंकि इन दोनों वर्गों के हित पृथक-पृथक हैं।¹¹

इस प्रकार हम पाते हैं कि राज्य का 'निष्पक्ष-न्याय' करने का सिद्धांत एक आदर्श मूल्य है, और राज्य की वास्तविक इच्छा आम आदमी या शोषक वर्ग की इच्छा कभी नहीं बन पाती है। राज्य वर्ग विभेद को कलात्मक तरीके से बनाये रखने में विश्वास करता है।

2.1 मध्यकालीन राज्य का स्वरूप

भक्तिकालीन राज्य राजनैतिक दृष्टि से तुगलक वंश से लेकर मुगल वंश के बादशाह शाहजहाँ के शासन काल तक दिखाई पड़ता है। तुर्कों के आक्रमण के पूर्व भारत की राजनैतिक स्थिति यह थी कि मुलतान और सिंध के राज्य 8वीं शताब्दी के आरंभ में ही अरबों द्वारा जीत लिए गए थे। हिन्दू-शाही राज्य जो कि उत्तरी भारत का विशाल राज्य था कश्मीर की सीमा से मुलतान की सीमा तक फैला हुआ था। कश्मीर का राज्य महमूद गजनवी के आक्रमण के समय राजनैतिक अव्यवस्था का शिकार हो चुका था। राजपूत राज्य की सत्ता का उत्कर्ष 8वीं शताब्दी में हुआ और तुर्क आक्रमणों तक में उत्तरी भारत के शासक बने रहे। आरंभ में ये प्रतिहार शासकों के अधीनस्थ सामंतों के रूप में रहे, लेकिन प्रतिहारों की शक्ति के पतन से लाभ उठाकर इन्होंने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना कर ली। जैसे- दिल्ली पर तोमर वंश का शासन, कन्नौज और काशी पर प्रतिहार वंश का शासन, बुंदेलखण्ड में चंदेलों का शासन तथा गुजरात में सोलंकी वंश का शासन इत्यादि।

राजपूतों की शासन प्रणाली सामंती प्रथा पर आधारित थी। राजपूत अनेक जातियों तथा कबीलों में विभक्त थे जिनके अंतर्गत अनेक उप-जातियाँ थीं और प्रत्येक के अपने-अपने सरदार थे। इन सभी का सहयोग प्राप्त करने के लिए राजा द्वारा इन्हें राज्य में कुछ भूमि प्रदान कर दी जाती थी। उन्हें अपने क्षेत्रों में लगान वसूलने, प्रशासनिक कार्य देखने और राजा को सैनिक सेवा प्रदान करने का दायित्व भी सौंपा गया था। इस प्रथा के अंतर्गत उप-सामंतवाद की प्रवृत्ति भी विकसित हुई। अधिकतर सामंतों के अधीन अन्य सरदार थे जैसे- ठाकुर, रावत इत्यादि जिन्हें उसी प्रकार के अधिकार और

दायित्व दिए गए थे जो सामंत को राजा द्वारा दिए गए थे। परन्तु व्यक्तिगत मतभेद और अहंकार की भावना ने इन सभी के बीच परस्पर विरोध, प्रतिस्पर्धा और संघर्ष की स्थिति पैदा कर दी। अतः इनमें एकता का अभाव हो गया और संगठित होकर किसी विदेशी आक्रमणकारी से संघर्ष करने की संभावना नहीं रही।

भारत में तुर्कों के आक्रमण महमूद गजनवी द्वारा 11वीं शताब्दी के आरंभ में होने लगे थे। लगभग तीन दशकों में महमूद ने उत्तरी भारत के प्रमुख शासकों को पराजित करके तुर्कों का सैनिक वर्चस्व सिद्ध कर दिया था। इसके बाद बारहवीं शताब्दी के अंतिम समय में मुहम्मद गोरी ने भारत में तुर्कों की राजनैतिक सत्ता स्थापित कर दी। इन दोनों ही अवसरों पर भारतीय शासक तुर्कों के आक्रमण का विरोध करने में असफल सिद्ध हुए। तुर्कों के सैनिक अभियान के फलस्वरूप दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। विभिन्न राज्यों के स्थान पर दिल्ली सल्तनत के रूप में एक संगठित राज्य का निर्माण हुआ, साथ ही साथ राजनैतिक सत्ता में परिवर्तन आया और राजपूत शासक वर्ग के स्थान पर तुर्कों की सत्ता संगठित हुई। प्रशासनिक क्षेत्र में एक केन्द्रीकृत शासन प्रणाली का विकास आरंभ हुआ।

भक्तिकाल का समय मुख्य रूप से दो काल या शासन व्यवस्था के अंतर्गत आता है-

1. दिल्ली सल्तनत
2. मुगल काल।

2.1.1 सल्तनत काल

तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में भारत पर तुर्कों की विजय हुई और दिल्ली सल्तनत के रूप में उन्होंने एक नये राज्य का गठन किया। इन नये राज्य को सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित रूप देने के लिए एक कुशल प्रशासनिक व्यवस्था का विकास अनिवार्य था और इल्तुतमिश एवं उसके उत्तराधिकारी शासकों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास किए। यह प्रशासनिक व्यवस्था अब्बासियों के प्रशासन प्रबंध पर आधारित थी, विशेषकर केन्द्रीय प्रशासन के स्तर पर। मुस्लिम राज्य सैद्धांतिक रूप से एक धर्मावलम्बी या धर्म प्रधान राज्य था। राज्य का प्रमुख धर्म का भी प्रमुख होता था और उसे अपनी सत्ता और शक्ति ईश्वर से प्राप्त मानी जाती थी। अतः खलीफा पूरे मुस्लिम जगत का सर्वोच्च प्रधान

होता था। किन्तु तुर्कों के भारत आगमन से बहुत पहले ही खलीफागीरी विखंडित हो चुकी थी। खलीफाओं की जगह सुल्तान की आवश्यकता तथा शक्ति के परिवर्तन के पीछे कारण यह था कि कुरान के उपदेशों ने मदीना के कबीलाई वातावरण और प्रबल प्रजातांत्रिक परम्पराओं में लगभग संतोषजनक रूप से कार्य किया; किन्तु जब इस्लाम का नगर राज्य की सीमा से बाहर प्रसार होने लगा तो 'ईश्वरीय शब्द' तथा खलीफा से विचार-विमर्श अधिक विस्तृत राजनैतिक ढाँचे के अनुकूल विस्तार प्राप्त करने में असमर्थ रहे। इस संदर्भ में के.एम. अशरफ लिखते हैं कि- “इस्लाम का राजनैतिक और प्रादेशिक विस्तार तीव्र गति से होता रहा, शीघ्र ही अरब कबीलों के बिखरे हुए टुकड़ों को विस्तृत और बढ़ते हुए भू-भाग पर शासन करने वाले शक्तिशाली और स्थायी शासन के अंतर्गत संगठित करने की आवश्यकता महसूस की गई। कुरान के फतवे और मदीना तथा उसके प्रारंभिक खलीफाओं के पूर्व-निर्देशों की अपेक्षा एक शक्तिशाली और ठोस राजनैतिक ढाँचे की आवश्यकता अधिक महसूस हुई।”¹²

राजनीतिक कारणों तथा सुल्तानों की शरीअत के प्रति अनभिज्ञता के कारण सुल्तान के कार्यों में भी विभाजन हुआ। धार्मिक कार्यों की देखरेख 'उलेमाओं' द्वारा की जाती थी तथा प्रशासनिक कार्यों का प्रबंध, आयोजन और पर्यवेक्षण सुल्तान द्वारा किया जाता था।

सुल्तान दिल्ली सल्तनत का प्रमुख था। वह राज्य की समस्त शक्तियों का स्रोत था। वह सेना का सर्वोच्च सेनापति होता था। वह प्रशासन का प्रमुख था और अधिकारियों को नियुक्त करना उसका कार्य था। वह न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था और मुस्लिम विधि वेत्ताओं की सहायता से निर्णय करता था। उसकी सत्ता निरंकुश थी। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से वह शरीअत के अनुसार उलेमा की व्याख्याओं तथा परामर्श के अनुसार शासन करता था लेकिन व्यवहार में उस पर कोई अंकुश नहीं था।

खलीफा के संदर्भ में सुल्तान के विचार को देखने से पता चलता है कि सुल्तान केवल ऐसा प्रदर्शित करते थे मानो वे खलीफा को अपना वैधानिक शासक मानते हैं। इस्लामी विधि के अनुसार समस्त मुसलमानों का शासक खलीफा था। सुल्तानों ने खुतबा में खलीफा का नाम रखा और सिक्कों में भी उसका नाम अंकित कराया। उन्होंने खलीफा के प्रति अधीनता प्रकट करने वाली उपाधियाँ भी

धारण की। इसके बावजूद व्यवहार में देखा जाए तो खलीफा को सल्तनत में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। हालाँकि वास्तव में सुल्तान पूर्ण स्वतंत्र था फिर भी उसकी सर्वोच्च सत्ता पर कुछ प्रतिबंध थे। उदाहरण के लिए, सबसे स्पष्ट प्रतिबंध तो यही था कि अंतिम रूप में उसे 'शरीअत' और इस्लामी परम्पराओं के अनुकूल कार्य करना पड़ता था। सोलहवीं शताब्दी में अकबर ने इस परम्परा की उपेक्षा करते हुए अपनी स्वतंत्र विचारधारा 'दीन-ए-इलाही' की घोषणा की थी। इसके बारे में राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि-

“अकबर धर्म में अशोक की तरह की ही उदारता रखना चाहता था। वह लामजहब या धर्म-विरोधी नहीं था। ...पुराने धर्मों में हरेक के साथ उसने सहानुभूति दिखलाई और चाहा कि सभी इस ढंग को अपनायें। उसमें सफलता न देख उसने सारे धर्मों के सार को लेकर एक नये धर्म दीन-इलाही (भगवान का धर्म) का आरंभ किया। ... अब तक गुप-चुप पकती योजना को उसने खुले तौर से सामने रखते हुए अपने को नये धर्म का संस्थापक और मुखिया बनाना चाहा। इस धर्म को कुछ मुहम्मद के कुरान से, कुछ ब्राह्मणों की पुस्तकों से और कुछ हद तक अपने अनुकूल इंजील की बातों को लेकर बनाया गया।”¹³

इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय तक राजनीतिक नीति और धर्म के पारम्परिक संबंधों में परिवर्तन हो चुका था। यद्यपि अकबर का वह “दीन-ए-इलाही” वाला मत चल नहीं पाया।

इस्लाम का धार्मिक वर्ग अनेक महत्वपूर्ण दलों, जैसे- धर्मशास्त्रियों, संन्यासियों, सैयदों, पीरों और उनके वंशजों से मिलकर बना था। इनमें धर्मशास्त्री सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। सल्तनत के विशेष कृपापात्र और सहयोगी उलेमा या राजकीय धर्मशास्त्री थे- “इस्लाम में कोई पुरोहित वर्ग नहीं होता, किंतु उलेमा का मुस्लिम समाज पर एक निश्चित प्रभाव रहता है। फतवों के लिए लोग उन्हीं के पास जाते हैं। ये फतवे उलेमा की मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं। ये उस मनोवृत्ति को प्रकट करते हैं, जो कि उलेमा मुस्लिम समुदाय में पैदा करना चाहते हैं।”¹⁴

सुल्तान की शक्ति पर उलेमा का कोई अंकुश नहीं था। सुल्तान मुस्लिम राज्य का मुख्य कार्यपालक अधिकारी होता था। उसका मुख्य कार्य शरीअत के अनुसार शासन करना था। इस

मुस्लिम विधि की व्याख्या करने का अधिकार उलेमा को था। सुल्तान स्वयं शरीअत की व्याख्या नहीं कर सकता था। उसके लिए आवश्यक था कि उलेमा की व्याख्याओं में से वह किसी को चुन सकता था।

इस प्रकार उलेमा को प्रशासन में अधिकार प्राप्त था और वे सुल्तान की शक्ति पर अंकुश का काम कर सकते थे लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं था। अलाउद्दीन खिलजी के समय उलेमा की शक्ति कमजोर हुई थी। मुहम्मद तुगलक ने उलेमा को कोई महत्व नहीं दिया और उनके परम्परागत विशेषाधिकारों की उपेक्षा की। केवल फिरोज तुगलक का शासन काल ऐसा था जब इस वर्ग को महत्व प्राप्त हुआ था।

धार्मिक राज्य के अंतर्गत राज्य धर्म के अधीनस्थ होता था और शासन धर्म से मार्गदर्शित होता था। इस संदर्भ में धर्म की व्याख्या एवं धर्म के आदर्शों के क्रियान्वयन से सम्बद्ध वर्ग राजनीतिक प्रशासनिक ढाँचे में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता था। उपरोक्त बातों के आधार पर हम कह सकते हैं कि सल्तनत की राजनीतिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में उलेमा एक प्रतिष्ठित एवं सम्मानित वर्ग के रूप में था और राज्य व्यवस्था में उसे एक उच्च स्थान प्राप्त था, लेकिन राजनीतिक-प्रशासनिक नीति-निर्धारण में सामान्य तौर पर उलेमाओं की भूमिका प्रभावी नहीं थी, यद्यपि कमजोर शासकों की उपस्थिति में उन्होंने प्रभावी भूमिका जरूर निभायी।

सुल्तान की सहायता के लिए अनेक मंत्री होते थे जिनका चयन खुद वही करता था और वे सुल्तान की इच्छा के अनुसार ही पद पर रह सकते थे। मंत्रियों की संख्याओं, शक्तियों और अधिकारों में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते थे। तेरहवीं सदी के अंतिम भाग में प्रशासन की एक सुस्पष्ट व्यवस्था विकसित हुई। प्रशासन में केन्द्रीय स्थान वजीर का था। आरंभिक काल में वजीर मुख्यतः सेना प्रमुख होते थे। चौदहवीं सदी में वजीर को राजस्व के मामलों का विशेषज्ञ अधिक माना जाने लगा और वे एक बड़े विभाग के प्रमुख हो गए जिसका संबंध आय और व्यय दोनों से होता था।

वजीर के बाद केन्द्रीय प्रशासन का महत्वपूर्ण विभाग 'दीवान-ए-अर्ज' या सैनिक विभाग था। इस विभाग का प्रमुख अधिकारी 'आरिज-ए-ममालिक' था। सल्तनत प्रशासन में तीसरा मंत्री 'दीवान-

ए-इंशा' था। उसका कार्य पत्र-व्यवहार करना था। चौथा विभाग 'दीवान-ए-रसालत' था। इसे विदेश विभाग की संज्ञा दी जाती है मगर यह विभाग धार्मिक अनुदानों से संबंधित था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दिल्ली सल्तनत का केन्द्रीय प्रशासन सुव्यवस्थित और सुसंगठित था। इसके बावजूद आम जन-जीवन काफी अस्त-व्यस्त था। प्रशासनिक कार्य विभिन्न विभागों के बीच विभक्त थे और प्रत्येक के लिए महत्वपूर्ण पदाधिकारी एवं उनके सहयोगी उत्तरदायी थे। महत्वपूर्ण कार्यों के लिए स्वतंत्र पदाधिकारी भी नियुक्त किए गए थे जो किसी विभाग से संबंधित न होकर प्रत्यक्ष रूप से सुल्तान के प्रति उत्तरदायी थे।

2.1.2 मुगलकाल

सल्तनत काल की तुलना में मुगलकाल में राज्य का स्वरूप परिवर्तित हुआ। निरंकुश राजतंत्र की परम्परा और प्रबल हुई। यद्यपि जन कल्याण की भावना अकबर जैसे शासक में देखने को मिलती है। मुगल शासकों ने भारत में एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया जो मौर्य साम्राज्य के पतनोपरांत भारतीय इतिहास का सबसे विशाल साम्राज्य था। साम्राज्य के साथ-साथ एक शक्तिशाली केन्द्रीकृत शासन प्रणाली का भी मुगलों ने भारत में निर्माण किया। मुगल साम्राज्य की नींव बाबर ने रखी जरूर, लेकिन मुगल प्रशासन का वास्तविक निर्माता अकबर था।

“अकबर कालीन भारत में दो लक्ष्य सर्वोपरि थे। एक, पर्याप्त मात्रा में कर लगाना और उगाहना और दूसरा, सेना के लिए पर्याप्त सैनिक दस्ते जुटाना। ये दोनों बुनियादी कार्य बहुत अंश तक अधिकारियों के एक ही समूह के हाथों में थे, हालांकि इन अधिकारियों को राज्य के शेष कर्तव्यों में से भी अधिकांश का निर्वाह करना पड़ता था और खासकर आंतरिक शांति सुव्यवस्था कायम रखनी पड़ती थी। इस प्रकार प्रशासन केन्द्रीकृत या एकात्मक था।”¹⁵

तुर्क-अफगान शासन काल की विकसित शासन प्रणाली में अकबर ने मौलिक परिवर्तन लाए। इस क्रम में अकबर ने मंगोल और तैमूरी परम्पराओं को अपनाया तथा शेरशाह द्वारा विकसित शासन प्रणाली की मुख्य विशेषताओं को भी ग्रहण किया। मुगल प्रशासन इस प्रकार एक मिली-जुली व्यवस्था थी, जिसमें भारतीय और विदेशी, पूर्व प्रचलित और नवीन तत्व दोनों ही मौजूद थे। मुगलों ने

सुल्तान की पदवी के स्थान पर बादशाह की पदवी का प्रयोग आरंभ किया। और इस प्रकार शासक के पद को खलीफा की छाया से लगभग मुक्त किया। ‘सुल्तान’ और ‘बादशाह’ दोनों का समानार्थक जिक्र जायसी ‘पद्मावत’ में करते हैं-

“धनि सुलतान जेहिक संसारा।”¹⁶

“बादसाह हठि कीन्ह पयाना।”¹⁷

मुगल शासन व्यवस्था मुख्यतः सैनिक थी और आधारभूत रूप में केन्द्रीकृत सामंतशाही थी। इस शासन-व्यवस्था का परिवेश धार्मिक था। जहाँ तक मुसलमानों का संबंध था बादशाह राज्य और धर्म का सरताज होता था किन्तु गैर-मुस्लिमों के लिए वह केवल राज्य का स्वामी था। मुगल साम्राज्य और उसके शासन की वास्तविक धुरी बादशाह ही होता था। उसके पद में असैनिक तथा सैनिक दोनों ही शक्तियाँ निहित थीं। वह मुख्य सेनापति, मुख्य कार्यपालिका अधिकारी तथा मुख्य न्यायाधीश हुआ करता था। वह जो भी निर्णय देता था, उसके विरुद्ध अन्यत्र किसी भी प्रकार की कोई अपील नहीं की जा सकती थी। वह जितना चाहता था, उतना ही कर राज्य से वसूल कर सकता था। लगान वसूल होने के बाद वह अपनी इच्छानुसार उसका व्यय करने के लिए स्वतंत्र होता था।

मुगल शासन में राज्य के सारे मामले मुगल सम्राट के इर्द-गिर्द घूमा करते थे फिर भी अत्यधिक केन्द्रीकृत मुगल प्रशासन की विविध गतिविधियों को संचालित करना अकेले सम्राट से संभव नहीं था। प्रशासन का कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए एक मंत्रिपरिषद का होना अत्यंत आवश्यक था किन्तु इन मंत्रियों की नियुक्ति स्वतंत्र रूप से राज्य की सेवा के लिए नहीं, अपितु प्रशासन के कार्य में सुल्तानों की सहायता करने के लिए उनके निजी सेवकों के रूप में की जाती रही। अपने सत्ताधिकार के किसी भी क्षेत्र में ये मंत्री स्वतंत्र नहीं रहते थे और सुल्तान उन पर कड़ी निगरानी रखते थे। मुगल साम्राज्य के केन्द्रीय प्रशासन में प्रधान अधिकारी वकील कहलाता था। इस संदर्भ में अबुल फजल ने लिखा है कि- “राज्य के अमीर लोग - जो अपने ऊपर विश्वास कर प्रत्येक कार्य को उत्तम ढंग से पूरा करते हैं और युद्ध क्षेत्र को मित्रता के सम्मान की दीप्ति से प्रकाशित कर प्राण देने में भी मुँह नहीं मोड़ते। वैभवशाली दरबार के ये भाग्यवान पुरुष अग्नि के समान हैं जो हृदय प्रकाशक भी हैं और शत्रु दाहक भी। इस वर्ग

का अध्यक्ष वकील है जो अपनी बुद्धिमता से सद्भक्ति (इखलास) के चार पदों पर पहुँचकर बादशाह का राजनीतिक तथा आर्थिक सहायक होता है। पवित्र मंत्रणा सभायें उसके ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होती हैं और अपनी गंभीर दृष्टि से राज्य के बड़े-बड़े कार्यों का प्रबंध करता है।¹⁸

वकील सभी अधिकारियों में श्रेष्ठ था, परंतु किसी भी प्रशासनिक विभाग पर उसका प्रत्यक्ष नियंत्रण नहीं था। उसका वस्तुतः एक सम्मानजनक पद था जिसकी व्यावहारिक उपयोगिता मात्र इतनी ही थी कि वह अन्य अधिकारियों, विशेषकर दीवान और बख्शी द्वारा उनकी सत्ता के दुरुपयोग को रोकने में सहायक था। प्रशासनिक क्रियाकलाप में वकील की भूमिका अनिवार्य नहीं थी और अकबर के अधीन यह पद कई वर्षों तक रिक्त भी रखा गया।

सल्तनत काल में बादशाह की सहायता के लिए वजीर या प्रधानमंत्री होता था। वह सुल्तान के बहुत से अधिकारों तथा विशेषाधिकारों को हथिया लिया करता था और इस प्रकार निरंतर सम्राट वजीर और अमीरों के मध्य कलह का कारण बनता था। अकबर ने पूर्ण अधिकार संपन्न वजीर का पद समाप्त कर दिया तथा अपने अधिकारों तथा कार्यों को चार मंत्रियों में बाँट दिया, जिनमें दीवान, मीर बख्शी, मीर समन और मीर सदर थे, जिन्हें लगभग बराबर का ओहदा तथा अधिकार प्राप्त थे। उसने किसी भी श्रेणी, ओहदे, कौम या वर्ग से दीवान चुन लिए जाने की प्रथा चलाई।

मुगल साम्राज्य का प्रांतीय प्रशासन सूबा या प्रांतों में विभाजित था। एक प्रांत के प्रमुख कार्यवाही अफसर या प्रांतीय अफसर को अकबर के समय सिपहसालार तथा बाद में नजीम कहा जाता था; लेकिन वह सूबेदार या सूबा के नाम से अधिक लोकप्रिय था। उसका मुख्य काम प्रांत में कानून और व्यवस्था बनाए रखना तथा शाही फरमानों की तालीम कराना था।

प्रशासन की दृष्टि से प्रत्येक सूबे को अनेक इकाइयों में बाँटा गया था। इन इकाइयों को सरकार कहा जाता था। प्रत्येक सरकार को पुनः परगना में विभाजित किया गया था। इन परगनों में जिले या दस्तूर बनाए गए थे। यह प्रशासन की छोटी इकाई थी। प्रजा और सेना का कल्याण सूबेदार के न्यायपूर्ण प्रशासन पर निर्भर करता था। उसे लगातार अपने मातहत अफसरों पर निगरानी रखनी पड़ती थी और इस बात की सावधानी रखनी पड़ती थी कि कहीं वे प्रशासन में गड़बड़ी तो नहीं कर रहे हैं।

2.1.3 सामंतवाद

आज का पूँजीवाद सामंतवाद का विकसित रूप है। पूँजीवाद और सामंतवाद दोनों ही अलग-अलग तरीके से श्रम के शोषण में विश्वास रखते हैं। सामंतवाद एक मध्यकालीन मूल्य है। इसका विकास अलग-अलग देशों में अलग-अलग समय में हुआ। भारत में लगभग सातवीं शताब्दी से ही सामंतवाद का विकास हो रहा था।

सामंतवाद भूमि से निबद्ध वह उत्पादन व्यवस्था थी, जिसमें उत्पादन को स्थानीय उपभोग के लिए नियंत्रित किया गया। व्यापक परिप्रेक्ष्य में सामंतवाद एक ऐसी मनोदशा थी जो आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धर्म तथा कला सभी क्षेत्रों में प्रतिबिंबित हुई। इस व्यवस्था के अंतर्गत भूमिदान से भू-वितरण की असमान प्रणाली स्थापित हुई तथा नये भूमि स्वामियों के रूप में सोपानात्मक भूमि संबंध स्थापित हुए। इस सोपान की चर्चा रामशरण शर्मा ने अपने निबंध ‘सामंती मानसिकता’ में की है- “इस विन्यास में सबसे ऊपर स्वभावतः राजा का स्थान होता है, जिसके नीचे वे लोग आते हैं जो अपनी जीविका के लिए लगान पर निर्भर होते हैं और वसूल किए गए लगान का निश्चित भाग्य राज्य को देते हैं। उनके नीचे दर-लगानदारों की श्रेणियाँ होती हैं, जिनके नीचे जमीन के जोतदारों और दर-जोतदारों के स्थान होते हैं। सबसे नीचे जमीन को सचमुच कोड़ने-कमाने वालों का वर्ग होता है।”¹⁹

उपर्युक्त सोपानात्मक भूमि, भू-वितरण की असमान प्रणाली को ही दर्शाता है जहाँ निचले स्तर के श्रम की महत्ता नगण्य है। सामंतवाद की इस असमान प्रणाली ने वर्ग-वैषम्य को और अधिक मजबूत बनाया।

इन नए भू स्वामियों के रूप में ही सामंतों के भू स्वामित्व संबंधी सर्वोच्च अधिकार स्थापित हुए तथा इन क्षेत्रों में राजस्व वसूली, प्रशासन के अधिकार स्थापित हुए। परिणामस्वरूप सामंतों द्वारा कृषकों की अधीनस्थता स्थापित हुई। श्रम-शोषण को रेखांकित करते हुए हरबंस मुखिया लिखते हैं कि- “किसान-परिवार के अतिरिक्त श्रम और भू-स्वामी की श्रम-संबंधी मांग का आपसी अनुपात बराबर नहीं था। श्रम के गहन उपयोग पर आधारित खेतिहर उत्पादन व्यवस्था में, जहाँ श्रम पर मिलने वाला फल बहुत कम होता था और खेतिहर कामों की अवधि संक्षिप्त और निश्चित होती थी, वहाँ

चाहे भू-स्वामी की जमीन हो या किसान की, लगाया जाने वाला श्रम थोड़ा-सा भी कम रह गया तो इससे परिणाम में काफी फर्क पड़ जाता था।²⁰

सामंती युग में आर्थिक असमानता के साथ ही सामाजिक असमानता भी बढ़ी। जाति-पांति, छुआछूत, ऊँच-नीच आदि मूल्य जो आज भी भारतीय समाज के पूर्ण विकास में बाधक बने हुए हैं, सामंती मूल्य ही हैं, जिनका विकास सामंती युग में हुआ। सही मायने में सामंतवादी दौर वहाँ से शुरू होता है जब समाज परस्पर विरोधी स्वार्थों वाले वर्गों में विभक्त हो गया और समाज के शासन की बागडोर या राज्य धनिक वर्ग के हाथ में चला गया। धर्म और समाज के अगुवों ने शासन व्यवस्था के प्रति सुरक्षात्मक रवैया अपनाया। इस संदर्भ में राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं कि- “भारत के सामंतकाल पर भी यदि हम नजर डालें तो यही बातें यहाँ भी पायी जायेंगी। यहाँ भी मनु और दूसरे धर्म शास्त्रकारों ने राजा-प्रजा के कर्तव्य पर खूब कलम दौड़ाई है और गौर से देखने पर वहाँ राजा और शासन वर्ग के अधिकारों को पूरा करने के लिए अपने श्रम और जीवन का सबसे बड़ा भाग देना जहाँ साधारण जनता का कर्तव्य था, वहाँ उनके अधिकारों की तालिका में परजन्म और परलोक में पाई जाने वाली चीजें ही ज्यादा हैं। समाज की असमानता की लीपा-पोती और आकर्षक व्याख्या से ढाँकने की कोशिश की गई है। समाज को शरीर और भिन्न वर्गों को उसका अंग बतलाकर इस वर्ग-विद्वेष को नरम करने की कोशिश में ही वेदों का पुरुष सूक्त लिखा गया।²¹

लेकिन उपर्युक्त कथन से रामविलास शर्मा जैसे मार्क्सवादी आलोचक सहमत नहीं हैं- “राहुल सांकृत्यायन को वेदों में ओज पूर्ण काव्य नहीं मिलता, उन्हें वहाँ वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा, आर्य-अनार्य रक्त का सम्मिश्रण और समाज की सम्पदा उड़ाने वाले ऋषि मिलते हैं। राहुल जी वैदिक ऋषियों का उल्लेख सम्मान के साथ तभी करते हैं, जब उन्हें निषिद्ध मांस-भक्षण का समर्थन करना होता है।²²

उपर्युक्त दोनों ही आलोचक वैदिक साहित्य की मुकम्मल व्याख्या करने में चूकते दिखाई पड़ते हैं। दोनों ही अपने-अपने अनुकूल संदर्भों की पहचान कर उसकी व्याख्या करते हैं।

यूरोपीय सामंतवाद को देखें कि भारतीय सामंतवाद की तुलना में वह कैसा था?

यूरोपीय सामंतवादी व्यवस्था में सामंती वर्ग अधिक संगठित रूप में थे। यूरोपीय सामंती व्यवस्था में कृषकों के लघु भूमि क्षेत्र भू-स्वामियों के विशालकाय भूमि क्षेत्र से जुड़े थे। यहाँ कृषकों की स्थिति दासों के रूप में स्थापित थी। यूरोपीय संदर्भ में कृषकों के अधिकारों और स्वतंत्रता को अधिक प्रतिकूल रूप में प्रभावित होते देखा जा सकता है, जबकि भारत में कृषकों की स्थिति अर्द्ध दासता की थी।

भारतीय सामंतवाद की कुछ विशेषताएँ यूरोपीय सामंतवाद जैसी हैं। पुरोहितों को भूमि-अनुदान देने के चलन की तुलना मध्यकालीन यूरोप में चर्च को जागीर देने की प्रथा के साथ की जा सकती है। अंतर सिर्फ इतना था कि भारत के ब्राह्मण और मंदिर किसी संगठित संस्था के अंग नहीं थे, लेकिन पूर्व मध्यकालीन भारत में धर्मेत्तर जागीरें देने का चलन उतना व्यापक नहीं था जितना की मध्यकालीन यूरोप में था। यद्यपि राज्याधिकारियों को वृत्ति स्वरूप जमीन दी जाती थी, लेकिन यह जमीन, उनके जिम्मे प्रशासनार्थ जितना क्षेत्र होता था उसका छोटा-सा हिस्सा भर हुआ करती थी। यह न तो यूरोपीय ढंग की जागीर थी और न ताल्लुका ही थी। इस कोटि में शायद ब्राह्मणों को दिए गाँवों को ही रखा जा सकता है। इसके अलावा, भारत में सामंतों को मुख्यतः अपने प्रभु की सैनिक सेवा ही करनी पड़ती थी। यहाँ वे यूरोप की तरह प्रशासनिक सेवा नहीं किया करते थे, लेकिन यूरोपीय सामंतवाद की प्रमुख विशेषताएँ यहाँ भी मौजूद थीं। यह देश भी आर्थिक दृष्टि से छोटी-छोटी आत्मनिर्भर इकाइयों में बँटा हुआ था और इन इकाइयों के बनने और कायम रहने का कारण व्यापारिक आदान-प्रदान का अभाव था। यहाँ भी एक जबर्दस्त भूमिधर मध्यवर्ग का उदय हुआ, जिससे किसान निरंतर अधिकाधिक पराधीन होते चले गए।

2.2 रामकाव्य में अभिव्यक्त राज्यव्यवस्था का स्वरूप

2.2.1 राज्य का स्वरूप

भक्तिकालीन प्रतिकूल राजनैतिक परिस्थितियों का प्रभाव भक्त कवियों पर भी पड़ा। तत्कालीन राज्य-समाज के समानांतर उन्होंने अपने काव्य में अपने काल्पनिक आदर्श राज्य स्थापित किए, जो उनके सारे मानदण्डों पर खरा उतरता है, लेकिन जब वे यथार्थ से रूबरू होते हैं तो समाज की

भयावहता उन्हें आहत करती है। श्रीरामचरितमानस अपने महाकाव्यात्मक प्रवृत्ति के अनुरूप है, जिसकी पूरी कथा राजा और रानी के इर्द-गिर्द घूमती है। महाकाव्य अपने आप में सामंती समाज की उपज होते हैं जहाँ कवि कथा की बुनावट में जाने अनजाने सामंती मूल्यों का अनुसरण करता रहता है। लगभग यह पूरी कथा 'रामराज्य' और 'रावणराज्य' के राजनैतिक चरित्रों को ही उजागर करती है, जिसे हम आदर्श और यथार्थ का द्वंद्व भी कह सकते हैं। रावण का राज्य तत्कालीन राज्य-समाज के चरित्रों से मिलता जुलता है; लेकिन भक्त कवियों की चिंता एक ऐसे राज्य की है जो समतामूलक हो, इसीलिए उन्होंने एक रामराज्य जैसे आदर्श राज्य की परिकल्पना की। तत्कालीन राज्य का चित्रण तुलसीदास जी 'कवितावली' में करते हैं-

“एक तौ कराल कालिकाल सूल-मूल ता में,

कोढ़ में की खाजु-सी सनीचरी है मीन की।

वेद-धर्म दूर गए, भूमि चोर भूप भए,

साधु सीधमान जानि रीति पाप पीन की।”²³

तुलसीदास जी का रामराज्य या सुराज्य जो दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्त जान पड़ता है, तत्कालीन परिवेश की प्रतिक्रिया स्वरूप बनपा है। तुलसी के क्षोभ का कारण एक तो मुस्लिम शासकों की अमानवीयता थी दूसरा महत्वपूर्ण कारण विचारधारा का था। जर्जर होती ब्राह्मणवादी व्यवस्था के पुनर्गठन की कोशिश तुलसीदास जी के श्रीरामचरितमानस में दिखायी पड़ती है। इसलिए तुलसी के आदर्श राज्य का निर्माण धार्मिक वातावरण में होता है। तुलसी का राज्य तंत्र बार-बार धर्म-तंत्र की पैरवी करता दिखायी पड़ता है- “तुलसी आदि ने साधनों को ही प्रतीक में रूपांतरित कर दिया है, आध्यात्मिक और धार्मिक संस्थाओं पर ही बल दिया है। वर्ग के स्थान पर वर्ण के कार्य धर्मों को परिनिष्ठता दी है, और चरम मूल्य के रूप में मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति को प्रतिष्ठित किया है। इनके सामाजिक मूल्य चक्र में अर्थ और काम को सबसे नीचा दर्जा दिया गया है, धर्म का पौराणिक उद्धार हुआ है तथा मोक्ष हिन्दू संस्कृति का चरम प्रतीक हो गया है।”²⁴

धार्मिकता या धार्मिक वातावरण को केवल तुलसी में ही नहीं बल्कि मध्यकालीन सभी रचनाकारों एवं उनके साहित्य में देखा जा सकता है। जिस प्रकार सगुण भक्तों पर वैष्णव मत का प्रभाव है; उसी प्रकार निर्गुण संतों पर नार्थों, सिद्धों तथा सूफी दर्शन के प्रभाव को देख सकते हैं, बशर्ते कि सभी का रूप अलग-अलग है। तुलसीदास जी तत्कालीन राज्य-समाज को धार्मिक मानदण्डों के आधार पर देखते हैं कि वह किस प्रकार कुमार्ग पर चला गया है? तुलसीदास जी तत्कालीन सामाजिक अस्थिरता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

“बेद पुरान बिहाइ सुपंथु, कुमारग, कोटि कुचालि चली है।
कालु कराल, नृपाल कृपाल न, राज समाजु बड़ोई छली है।
बर्न-बिभाग न आश्रम धर्म, दुनी दुख-दोष-दरिद्र-छली है।
स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम प्रतापु बली है।”²⁵

तुलसीदास जी जिन मूल्यों के आधार पर मानस में राज्य की परिकल्पना करते हैं वे मूल्य समानता का प्रतिपादन करने में चूकते हुए दिखायी पड़ते हैं। उनका मूल आधार पौराणिक एवं शिष्ट समुदाय है। हरिहरनाथ त्रिपाठी मनु के राज्य की चर्चा करते हुए बताते हैं कि- “आचार के साथ उन्होंने शिष्टाचार का महत्व स्वीकार किया। फलस्वरूप श्रेणी, गुण आदि के उन्हीं आचारों को मान्यता दी गयी औ वे ही राज्यविधि की सीमा में आ सके जो ‘शिष्टाचार’ से अनुमोदित हों। शिष्टों में बौद्ध, जैन, अन्य अवैदिक धर्मज्ञ और जातियाँ नहीं स्वीकार की गयीं। उनमें द्विजाति और वैदिक धर्मज्ञ ही शिष्ट माने गये। इस प्रकार मनु ने आचार, व्यवहार, परम्परा आदि का समन्वय राज्यविधि के आधार पर (कौटिल्य के समान) न कर विधि (धर्म) के आधार पर किया।”²⁶

तुलसीदास जी भी अपने आदर्श राज्य का निर्माण धार्मिक मूल्यों के आधार पर ही करते हैं; इसीलिए जब कहीं उन्हें सामाजिक अस्थिरता दिखाई पड़ती है तब वे वेद और धर्म की दुहाई देने लगते हैं। अनेक आलोचक पाते हैं कि मानस में दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से मुक्त सुराज्य की कल्पना करने वाला कवि कवितावली में यथार्थ से रूबरू ही नहीं होता बल्कि तिलमिला उठता है-

“पेट को पढ़त गुन गढ़त, चढ़त गिरि,

अटत गहन-गन अहन अखेटकी।

ऊँचे-नीचे करम, धरम अधरम करि,

पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेट की।²⁷

तुलसीदास जी पूरे भक्तिकाव्य के एकमात्र ऐसे कवि हैं जो केवल वर्ण व्यवस्था का समर्थन ही नहीं करते बल्कि कलिकाल का बहुत ही सूक्ष्म और मार्मिक वर्णन भी करते हैं। वे अकाल, भुखमरी, निर्धनता इत्यादि का विशद चित्रण करने वाले भक्तिकाल के महत्वपूर्ण कवि हैं। तुलसीदास के एक विशिष्ट अध्येता डॉ. रमेश कुंतल मेघ का मानना है कि श्रीरामचरितमानस का आदर्श राज्य हो या 'कलिकाल' का वर्णन दोनों में अतिरंजना है। वे लिखते हैं- “हिन्दू मध्यकालीन पौराणिक इतिहासवाद का यह यकीन था कि जो सोता रहे वह 'कलिकाल' है और जो संचरण शील होकर चलने लगे वह 'सतयुग' है। बीच में अँगड़ाने वाला 'द्वापर' तथा उठ खड़ा होने वाला 'त्रेता' युग है। तो, एक सोते युग और गतिशील युग की धारणाओं को तुलसी ने भी अपने समाज के यथार्थ और आदर्श के रंग में रंग दिया। उनके अनुभवों तथा स्वप्नों का समाज 'कलिकाल' तथा 'रामराज्य' दोनों में ही अपनी छतनार छाँह फैलाये हैं, दोनों ही विवरणों में अतिशयोक्ति लिए हैं। अतः इनके अंतराल से तत्कालीन समाज और सामाजिक दर्शन को अवरेखित करना एक जटिल समस्या है।²⁸

हमें यह देखना होगा कि तुलसी के आदर्श राज्य को लेकर क्या सभी आलोचकों की राय एक जैसी है? क्या सभी उसे वायवीय या एक ऐसे आदर्श राज्य के रूप में देखते हैं जो सामाजिक सरोकारों से नहीं जुड़ पाता है जहाँ समतामूलक मूल्य लोकपक्ष शून्य ठहरता है, या तुलसी ने जो आदर्श गढ़ा वह तत्कालीन राज्य की यातनाओं के खिलाफ एक विकल्प था कि राज्य ऐसा होना चाहिए, या तुलसी उन मानदण्डों के प्रति यथार्थ जगत को एक प्रक्रिया के रूप में देखना चाहते हैं? इस संदर्भ में डॉ. युगेश्वर का मत है कि- “राज्य और जनता ऊँचे आदर्शों से बँधे हैं। उच्च आदर्श के अभाव में कोई समाज चल नहीं सकता। आदर्श से रामराज्य की स्थापना हुई। आदर्शों ने उसे रखा। सभी जानते हैं कि प्रत्येक क्रांति और उसकी सरकारें आदर्शों पर गठित होती हैं। आदर्श हीन राष्ट्र पतित हो जाता है। राम राष्ट्र के आदर्श हैं- सत्य और अहिंसा। आचरण की पवित्रता। सबके प्रति समता। विषमता का

अभाव। शासक को उच्च चरित्र वाला होना चाहिए। भगवान के कुछ गुण हैं, उन गुणों को अपनाना चाहिए। शासक के गुणों का सामान्य जन में अनुकरण होता है। तुलसी की राज्य व्यवस्था के आदर्श पूर्णतः लोकतांत्रिक हैं। भौतिक लोक तांत्रिकों से उनका एक फर्क है। तुलसी की जनता का आदर्श भौतिक सुख के साथ आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आनन्द है। तुलसीदास भौतिक शोषण को आध्यात्मिक आदर्शों द्वारा भी कम करना चाहते हैं।²⁹

युगेश्वर ने शासक के चरित्रवान और गुणवान होने पर उचित ही बल दिया है और लगता है कि वस्तुतः तुलसीदास का मंतव्य ऐसा ही था क्योंकि तुलसीदास मानस में मुख्य रूप से दो राज्यों का चित्रण करते हैं, एक राम का राज्य जो तुलसी के आदर्श के सारे मानदण्डों पर खरा उतरता है और दूसरा रावण का राज्य जो भौतिक समृद्धि के बावजूद तत्कालीन करालता, भयावहता इत्यादि को लिए हुए है और विनाश को प्राप्त होता है। तुलसीदास के अपने जमाने के इस्लामी राज्य के संदर्भ में इन्द्रनाथ मदान लिखते हैं - “तुलसीदास के समय के शासकों के अत्याचारों और उनकी राजनीति तथा धार्मिक कट्टरता को आप रावण की उस क्रूरता से मिलायें तो आपको शायद ही कहीं असमानता मिले। वे मानो तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के ही सजीव चित्र हैं, जिनमें दलित और पीड़ित मानव के लिए एक संदेश निहित है। रावण के अन्यायों का वर्णन कर तुलसी ने अपने समय के शासकों के राजनीतिक अत्याचारों की ओर ही संकेत किया है इसलिए उन्होंने राम जैसे आदर्श राजा और रामराज्य जैसे आदर्श राज्य की कल्पना की।”³⁰

उपर्युक्त कथन में आलोचक ने ‘दलित और पीड़ित मानव’ के संदेश को स्पष्ट नहीं किया है। यदि मध्यकालीन शासकों की बात करें तो निश्चित ही अधिकांश शासक धार्मिक कट्टरता से ग्रस्त और निरंकुश थे, लेकिन तुलसी के समकालीन शासक अकबर की नीतियाँ बहुत सारे मामलों में उदार थी। इसलिए रावण की क्रूरता को यथावत तत्कालीन शासक में देखना बहुत उचित नहीं है। इस संदर्भ में रमेश कुंतल मेघ की यह टिप्पणी महत्वपूर्ण है - “तुलसी ने कलिकाल का वर्णन (मानस तथा कवितावली) रावण की मृत्यु के बाद किया है, इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि कलिकाल का समाज

राक्षस रावण का 'आर्येतर' समाज न होकर वर्ण-आश्रम-श्रुति की मर्यादा से गिरा स्वार्थी हिन्दू समाज ही है।',³¹

यदि हम 'राम' और 'रावण' को आर्य और द्रविड़ दो संस्कृतियों के प्रतीक के रूप में लेंगे तो उपर्युक्त व्याख्या तर्कसंगत नहीं होगी। उपर्युक्त कथन से यही बात समझ में आती है कि आर्य संस्कृति महान थी और द्रविड़ संस्कृति के अधिकांश पात्र खल थे। रामायण की कथा को रामधारी सिंह दिनकर तीन संस्कृतियों का समन्वय मानते हैं- "रामायण में जो तीन कथाएँ हैं, उनके नायक क्रमशः राम, रावण और हनुमान हैं, और ये तीन चरित्र तीन संस्कृतियों के प्रतीक हैं, जिनका समन्वय और तिरोधान वाल्मीकि ने एक ही काव्य में दिखाया है। संभव है, यह बात सच हो कि "राम, रावण और हनुमान के विषय में पहले स्वतंत्र आख्यान-काव्य प्रचलित थे और इसके संयोग से रामायण काव्य की उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार, आर्य और आर्येतर जातियों के धार्मिक संस्कारों से शैव धर्म की उत्पत्ति हुई, उसी प्रकार, वैष्णव धर्म की रामाश्रयी शाखा में भी आर्येतर जातियों के योगदान हैं।",³²

जब हम रावण को आर्येतर या द्रविड़ संस्कृति के नायक के रूप में देखते हैं तो लंका राज्य की नकारात्मक छवि वाली व्याख्या बहुत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती है। दरअसल तुलसी के राम मनुष्य के भीतर के देवत्व की कथा कहता है, जो हरेक संस्कृति में उपस्थित है। विभीषण, केवट, निषादराज गुह, शबरी, हनुमान, सुग्रीव आदि उसी देवत्व के पक्ष में चित्रित किए गए हैं। जीवन की अच्छाई-बुराई हर संस्कृति में मिलती है, प्रश्न शुभ पक्ष का साथ देने का है।

तुलसीदास जी ने मुख्यतः तीन तरह के राज्यों को चित्रित किया है- पहला अयोध्या का राज्य। दूसरा किष्किंधा का राज्य और तीसरा लंका का राज्य। कोशल के राजा दशरथ के विषय में तुलसी ने लिखा है कि सब राजा दशरथ महाराज की कृपा चाहते रहते थे क्योंकि जो लोग उनकी कृपा दृष्टि प्राप्त करते थे उन्हें वे लोकपाल बना देते थे। वे कैकेयी से मान-भंग की प्रार्थना करते हुए कहते हैं-

“कहु केहि रंकहि करौं नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासौं देसू।”,³³

उधर किष्किंधा के सुग्रीव हैं। शृंगवेरपुर स्थित निषादराज गुह जो कि जनजाति समूह के मुखिया प्रतीत होते हैं। ये तुलसी के छोटे-बड़े राज्य हैं जो अपनी विविध वृत्तियों को लिए हुए हैं। रावण राज्य की प्रवृत्तियाँ यह है कि राजा मद्यपान कर सोया रहता है। राजा नीति धर्म और ज्ञान से च्युत हो गया है-

“करसि पान सोवसि दिनु राती। सुधि नहीं तव सिर पर आराती।

राज नीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा।”³⁴

परन्तु दशरथ का राज्य सत्य और दृढ़ वचन पर आधारित है-

“रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहुं बरु बचनु न जाई।

X X X X X X X X X

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए।”³⁵

इस प्रकार तुलसीदास जी ने अपनी रचनाओं में विविध राज्यों का चित्रण किया है। उन्होंने तत्कालीन राज्य की मुश्किलों को चित्रित करते हुए एक आदर्श राज्य के मानदण्डों को भी रेखांकित किया है।

2.2.2 राजा और राज्य

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में राजा के लिए विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है जैसे- भूप, भूपति, नरपति, नृपति, महीप, महिपाल, नरेश, भुआल, भूपाल, नृप, जगदीश, रघुनाथ, साहिब इत्यादि। तुलसीदास की दृष्टि में प्रजा का सुख, सुरक्षा ही राजा का मुख्य धर्म है-

“जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवस नरक अधिकारी।”³⁶

तुलसी ने प्रजा का पालन और उसकी रक्षा राजा का मुख्य धर्म माना है। प्रजा-पालन मन, वचन और कर्म से होना चाहिए। इससे तुलसी की समाज सापेक्षता और सैद्धांतिक दृढ़ता का पता चलता है। राम अपना संदेश भरत को भेजते हुए कहते हैं-

“कहब संदेसु भरत के आए। नीति न तजिअ राजपदु पाए।

पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मानु सकल समजानी।”³⁷

तुलसीदास की प्रसिद्ध पंक्ति मुखिया या राजा के संदर्भ में है कि -

“मुखिआ मुखु सो चाहिए खान पान कहुं एका

पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवेका।”³⁸

राजा को धर्मधुरन्धर, नीति में चतुर, सत्य, स्नेह, शील और प्रीति का पालन करने वाला, प्रजा की रक्षा करने वाला होना चाहिए इसके साथ ही उसे देश, काल, वातावरण का ज्ञान और इनके प्रति सजगता आवश्यक है-

“धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर।

देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू।”³⁹

तुलसीदास जी राजा के दो मूल्यों की पैरवी अधिक करते हैं। पहला प्रजा पालन और दूसरा प्रजा रक्षण। तत्कालीन प्रजा की रक्षा का भाव मध्यकालीन सामंती मूल्य वीरता और शौर्य से भी जुड़ा हुआ है। रक्षा का संदर्भ सामाजिक, राजनैतिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

“मध्यकाल में इतिहास को शौर्य, कर्तव्य और वफादारी के अतिरंजित वातावरण में देखा गया है। उनमें सामंतीय गुणों और शौर्य को गौरवान्वित किया गया है। सेना, दूत, मंत्री आदि का एकमात्र आदर्श अपने स्वामी की अंधभक्ति थी और स्वामी का एकमात्र लक्ष्य शौर्य प्रदर्शन था। कानूनी दृष्टि से कोई विवाद अपना ‘महत्व’ खोकर ‘प्रतिष्ठा’ का सवाल हो जाता था। सारा संघर्ष न्याय धुरी के बजाय प्रतिशोध की धुरी पर बँध जाता था अर्थात् प्रतिशोध ही राजा का कर्तव्य था। तुलसी ने रावण को प्रतिशोध और अहंकार के उत्कर्ष तक पहुँचे अभिमान का प्रतीक बनाकर उसमें मध्यकालीन ऐतिहासिक शूरता का झूठ उद्घाटित किया है।”⁴⁰

तुलसीदास राजा को ईश्वर स्वरूप मानने के बावजूद भी उसके क्रिया-कलापों को वैदिक धर्म के आवरण में ही देखते हैं, जहाँ पुराणों और स्मृति ग्रंथों के मूल्य ज्यादा प्रभावकारी दिखायी पड़ते हैं। तुलसीदास सत्यकेतु राजा के संदर्भ में लिखते हैं कि-

“धरम धुरंधर नीति निधाना। तेज प्रताप सील बलवाना।”⁴¹

अर्थात् वे नीति, तेज या शील की बात भले ही करें, धर्म राजा की धुरी है और उपर्युक्त सारी चीजें उसमें समाहित हैं। तुलसीदास का समय भक्ति और नीति के पतन का समय था अतः युग-प्रवर्तक

की भाँति उन्होंने एक आदर्श खड़ा किया। राज्य में धर्म और न्याय व्यवस्था पर लिखते हुए काशीप्रसाद जायसवाल बताते हैं- “राजा को अभिषेक के समय प्रतिज्ञा तो करनी ही पड़ती थी और पौर-जानपद तथा परिषद की ओर से उसके लिए अनेक प्रकार के बंधन और नियंत्रण आदि भी होते ही थे, पर इन सबसे अधिक शक्तिशाली हिन्दुओं का धर्मशास्त्र था जिसके संबंध में बार-बार कहा गया है कि वह धर्म राजा से भी बढ़कर और सब राजाओं का राजा है। मनु ने तो राजा पर अर्थदण्ड या जुर्माना तक करने की व्यवस्था की है।”⁴²

तुलसीदास यदा-कदा उलेमाओं की भी याद दिला देते हैं। ऐसे तो तुलसीदास जी पर वैचारिक प्रभाव वेद, पुराणों का ही माना जायेगा लेकिन तत्कालीन फारसी प्रभाव को भी जहाँ-तहाँ उनकी भाषा एवं विचारों में देख सकते हैं। तुलसी का समय अकबर का है जब उलेमाओं की सत्ता कमजोर हो गयी थी लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि शासन व्यवस्था में उनकी भागीदारी नहीं थी। हम देखेंगे कि इस्लाम के शरीअत वाले शासन के समानान्तर तुलसी भी पुरोहितवाद या ब्राह्मणवादी व्यवस्था का फरमान जारी करते हैं। इस धर्मतंत्र और राजतंत्र पर ब्राह्मणों और सामंतों का किस प्रकार एकाधिकार था तथा वैश्य एवं शूद्रों की स्थिति कैसी थी उसे डी.आर. जाटव की एक छोटी-सी टिप्पणी से हम देख सकते हैं- “शासक वर्गों या जातियों में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय लोग ही थे। कभी-कभी सत्ता के लिए उनमें संघर्ष रहता था; अधिकतर उन्होंने संयुक्त रूप से शासन किया और एक दूसरे को परस्पर समायोजित किया। अन्य लोगों को, उन्होंने नीचे दबाये रखा। धीरे-धीरे जैसे ही व्यापार एवं उद्योग में वृद्धि हुई, वैश्य वर्ग धनी और प्रभावशाली बन गया, और जैसे ही कालांतर में उसकी महत्ता बढ़ी, उसको समुदायों के आंतरिक मामलों का प्रबंध करने के लिए कुछ सुविधाएँ एवं स्वतंत्रता दी गई। लेकिन फिर भी राज्य की शक्ति में उसका कोई वास्तविक प्रभाव नहीं था। जहाँ तक निर्धन शूद्रों का प्रश्न है, वे आदि से अन्त तक निम्नतम स्तर पर ही बने रहे।”⁴³

हालाँकि इतिहास में इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि वैश्य और शूद्र राजाओं के भी छोटे-छोटे राज्य अस्तित्व में रहे हैं। चूंकि तुलसी भक्त कवि हैं इसलिए उनके कहने में उदारता अधिक दिखायी

पड़ती है। राजतंत्र और धर्मतंत्र के गठजोड़ में कभी-कभी धर्मतंत्र राजतंत्र पर भावनात्मक दबाव बनाता दिखाई पड़ता है-

“मुनि तापस जिन्ह तें दुखु लहहिं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं।

मंगल मूल बिप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भुसुर रोषू।”⁴⁴

तुलसी की राजनीति धर्म-समन्वित राजनीति है। राजा ईश्वर होते हुए भी धर्म से बंधा हुआ है, जहाँ धर्म सर्वोपरि है। वह धर्म मार्ग से विचलित नहीं होता। मध्यकालीन धर्मतंत्र की अपनी नीतियाँ और अपना संजाल है जो प्रभुता में विश्वास रखता है। उसका यह चरित्र राजतंत्र से काफी मिलता-जुलता है।

तुलसी के यहाँ धर्म से विचलित होने का मतलब विनाश है जिसके अनेकानेक उदाहरणों में एक रावण है। रावण का अभिमान और अहंकार उसके राज्य को नष्ट कर देता है। मंदोदरी के बार-बार समझाने पर भी रावण अपने अहंकार को नहीं त्यागता है-

“तब रावन मयसुता उठाई। कहै लाग खल निज प्रभुताई।

सुनु तैं प्रिया वृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना।”⁴⁵

इसके विकल्पस्वरूप तुलसीदास को एक ऐसे राजा की तलाश है जिसमें सत्य, शील और स्नेह हो। जिसका आचरण धर्म के अनुकूल हो तथा जो नीति को जानने वाला हो। तुलसी के अनुसार राम का चरित्र ऐसा ही है-

“राम सत्यव्रत धरमरत सब कर सीलु सनेह।

संकट सहत सकोच बस कहिअ जो आयसु देह।”⁴⁶

तुलसीदास का मानना है कि राज्य नीति के जाने बगैर टिक नहीं सकता। नीति का जानने का व्यंग्यार्थ नीति-मार्ग पर चलने से है-

“राजु कि रहइ नीति बिनु जानें। अघ कि रहहिं हरि चरित बखानें।”⁴⁷

तुलसीदास नीति के माध्यम से व्यावहारिक क्रियाकलाप, धर्मगत आचरण और परम्परागत शास्त्रीय सिद्धांतों की बात करते हैं। रावण का आचरण या तत्कालीन राजाओं का आचरण इसके विपरीत है। इस तरह के निरंकुश राजा प्रजा को हमेशा दंडित करते रहते हैं-

“नृप पाप परायण धर्म नहीं। करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं।”⁴⁸

वस्तुतः तुलसीदास का मानना है कि राजा को केवल दण्ड नीति ही नहीं अपनाना चाहिए बल्कि उसके साथ साम, दान और भेद को भी ध्यान में रखना चाहिए-

“साम दान अरू दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा।”⁴⁹

तुलसीदास जिस प्रकार यह मानते हैं कि राजा को साम, दान, दण्ड, भेद का पालन करना चाहिए उसी प्रकार उसे अपने जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का भी पालन करना चाहिए। वे राजा प्रतापभानु के बारे में लिखते हैं कि वह अर्थ, धर्म और काम का सेवन करने वाला था-

“स्वबस बिस्व करि बाहुबल निजपुर कीन्ह प्रबेसु।

अरथ धरम कामादि सुख सेवइ समयं नरेसु।”⁵⁰

मध्यकाल में धर्म, अर्थ और काम ये तीनों मूल्य अपनी तत्कालीन परिस्थितियों से जुड़े हुए थे। धर्म पर पुरोहितों का एकाधिकार था तो अर्थ पर सामंतों एवं अमीरों का। काम भाव की प्रबलता इस रूप में देखी जा सकती है कि सुंदर स्त्रियों या रानियों के लिए राजा और सामंत एक दूसरे पर चढ़ाई करते हैं। हिंदी के मध्यकालीन महाकाव्यों में इसके उदाहरण स्पष्ट देख सकते हैं। धर्म में तुलसी की अटूट आस्था है-

“जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।”⁵¹

अर्थात् जब-जब धर्म का हास होता है तब-तब नीच अभिमानी राक्षस बढ़ जाते हैं। आगे की चौपाई में कहते हैं-

“करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।

तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा।”⁵²

वे ऐसा अन्याय करते हैं जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जब ब्राह्मण, गौ, देवता और संपूर्ण पृथ्वी कष्ट पाते हैं तब ईश्वर विविध रूप धारण करके सज्जनों की पीड़ा हरते हैं। इस उपर्युक्त पंक्ति में तुलसी ने धर्म को एक असीमित दायरे में रख दिया जिसका संबंध धरती से आसमान तक सबसे है। यहाँ धर्म का पुरोहिती या ब्राह्मणवादी संस्करण भी सामने आ जाता है, लेकिन तुलसी के यहाँ धर्म तथा बहुत सारे मूल्य-संदर्भ सापेक्ष होते हैं यानी संदर्भानुसार उसके अर्थ बनते हैं-

“धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।

मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा। तजें तिहूँ पुर अपजसु छावा।”⁵³

महत्वपूर्ण है कि सत्य के समान कोई दूसरा धर्म नहीं है जिसका संबंध सामाजिक सरोकारों से जुड़ता है। यह बात इसका प्रमाण है कि केवल तुलसीदास का ही नहीं, बल्कि मध्यकाल का सारा चिंतन लोक-परलोक से आबद्ध था। एक ओर हजारीप्रसाद द्विवेदी तुलसीदास को लोकनायक मानते हुए उन्हें बुद्ध के बाद सबसे बड़ा सामाजिक व्यक्तित्व मानते थे, सबसे बड़ा समन्वयवादी और समाज की विभिन्नता को सूत्रबद्ध करने वाला बताते थे, वहीं कई अध्येता इसके विपरीत राय रखते हैं- “मध्यकालीन चिंतन की मूल प्रवृत्ति ईश्वरवादी थी। समान रूप से, यह बात भी महत्वपूर्ण है कि अधिकतर व्यक्तियों एवं आंदोलनों ने, यदि प्रत्यक्ष शिक्षा द्वारा नहीं तो निहितार्थ द्वारा, जातिगत भेदभाव की प्रामाणिकता को अस्वीकार कर दिया, किन्तु दुर्भाग्यवश उन्होंने सामाजिक नियतिवाद के दर्शन का निषेध नहीं किया। उनके दृष्टिकोण में, यह सबसे बड़ा अंतर्विरोध था। एक ही ईश्वर की मान्यता पर अधिक बल दिया गया। उसे सर्वोच्च, दयालु तथा पालनकर्ता माना गया। उसके प्रति भक्ति भाव से ही मोक्ष का मार्ग खुल सकता था। दैविक जीवन ईश्वर में आस्था पर ही निर्भर था। ईश्वरवादी नियतिवाद के दर्शन के संदर्भ में, भारतीय सामाजिक नियतिवाद के तत्वों में आस्था रखते थे और जिन्हें वे कतई त्यागने के लिए तैयार नहीं थे। भारतीय समाज के इतिहास का दुर्भाग्य इसी बात में निहित है कि तात्त्विक एकता पर अत्यधिक बल देने के बावजूद भी, व्यक्तियों तथा विभिन्न समुदायों में पारस्परिक विद्वेष बना रहा और मानव एकता का विचार व्यावहारिक रूप धारण न कर पाया।”⁵⁴

द्विवेदी जी भले ही तुलसी को लोकनायक मानते हैं, पर तुलसीदास जी लोकनायक से पहले एक भक्त हैं जिनके लिए चार पुरुषार्थों में मोक्ष अधिक महत्व रखता है। मध्यकाल में भले ही सामाजिक विद्वेष व्यावहारिक रूप धारण नहीं कर पाया लेकिन भक्तों ने ईश्वर के समक्ष समानता का प्रतिपादन करने में सफलता जरूर पायी जो समाज के लिए एक मार्गदर्शक मूल्य था।

तुलसीदास जी राजा को, खासकर राम को, ईश्वरस्वरूप मानते हैं, उन्हें विश्वरूप तथा सर्वव्यापक भी-

“यह कछु नहिं प्रभु कइ अधिकाई। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई।”⁵⁵

राजा को ईश्वर अंश या सर्वव्यापक मानने के बावजूद भी तुलसीदास राजा को द्वितीय श्रेणी की ही नागरिकता प्रदान करते हैं प्रथम में वे ब्राह्मणों को रखते हैं-

“बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत राम हित मंगल काजा।”⁵⁶

संभवतः तुलसीदास राज सत्ता और ज्ञानसत्ता में ज्ञानसत्ता की महत्ता को अधिक स्वीकारते हैं।

तुलसीदास जी का पुरोहिती संस्कृति में अटूट विश्वास था। वे सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए विकल्प स्वरूप वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हैं। वर्ण व्यवस्था को बचाये रखने में दो महत्वपूर्ण बातें हैं पहला कि सामाजिक उथल-पुथल के दौर में एक सामाजिक विकल्प देना दूसरा कि इस विकल्प में हिन्दूवादी संस्कृति को बचाने के नाम पर ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता को बचाना। जिसमें तुलसी बहुत हद तक सफल भी होते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तुलसी के इस चिंतन का समर्थन करते हैं- “शास्त्रों का पठन पाठन कम लोगों में रह गया, इधर ज्ञानी कहलाने की इच्छा रखने वाले मूर्ख बढ़ रहे थे जो किसी ‘सतगुरु के प्रसाद’ मात्र से ही अपने को सर्वज्ञ मानने के लिए तैयार बैठे थे। अतः सतगुरु भी उन्हीं में निकल पड़ते जो धर्म का कोई एक अंग नोचकर एक ओर भाग खड़े होते थे, और कुछ लोग झाँझ-खजड़ी लेकर उनके पीछे हो लेते थे। दंभ बढ़ रहा था ‘ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरी बात’ - ऐसे लोगों ने भक्ति को बदनाम कर रखा था ‘भक्ति के नाम पर ही वे वेद शास्त्रों की निंदा

करते थे, पंडितों को गालियाँ देते थे और आर्य धर्म के सामाजिक तत्व को न समझकर लोगों में वर्णाश्रम के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर रहे थे। यह उपेक्षा लोक के लिए कल्याणकर नहीं।”⁵⁷

आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त कथन कई चीजों की तरफ इशारा करता है। पहला कि वे शास्त्रों के पुनरुत्थानवादी दृष्टि में विश्वास रखते हैं। गुरु की महत्ता निर्गुण संतों के यहाँ ज्यादा दिखायी पड़ती है। शुक्ल जी का यह कहना कि वे संत अपने को सर्वज्ञ मानने लग गये थे, तो इस सर्वज्ञता में कर्मकांडों का विरोध अधिक मुखर है ‘मन चंगा तो कठौती में गंगा’। इसमें आत्मपरिष्कार का भाव अधिक है और शास्त्रवाद द्वारा निर्मित बहुदेववाद की जगह मनुष्य केन्द्र में है। वहाँ अहं भाव की अभिव्यक्ति की जगह समानता का भाव प्रबल है। ऐसा नहीं कि निर्गुणिये ईश्वरीय सत्ता में विश्वास नहीं रखते, वे भी भक्त हैं और ईश्वरवादी भी, लेकिन उनका ईश्वर साम्प्रदायिक और धार्मिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक अधिक है। यदि शुक्ल जी को अपने को सर्वज्ञ मानने वाले विचार का खण्डन ही करना था तो उन्हें ‘अहं ब्रह्मास्मि’ कहने वाले आर्य धर्म के पुरोधाओं का करना चाहिए था। दूसरी बात कि शुक्ल जी को हाशिये के समाज की तार्किकता पसंद नहीं इसलिए अपरोक्ष रूप से वे निम्न जाति के संतों का उपहास उड़ाते हैं। सही मायने में वे जिसको दंभ कह रहे हैं, वह संतों की तार्किक शक्ति है।

तीसरी बात कि शुक्ल जी का यह कहना कि ‘धर्म का एक भाग नोच कर भाग खड़ा होना’ यह लक्षण ब्राह्मणवादी या जो अपने को मुख्यधारा का समाज कहता है, उसका है, क्योंकि वहाँ हाशिये का समाज चाहे वह स्त्री हो, आदिवासी या दलित, उपेक्षित है, और यदि है भी तो सेवक रूप में। यानी शुक्ल जी कितना भी यह कह लें कि वर्णाश्रम की उपेक्षा लोक कल्याणकर नहीं’ उनका आर्य धर्म मुकम्मल तस्वीर बनाने में चूकता है। शुक्ल जी जहाँ-जहाँ लोकधर्म के कल्याण की बात करते हैं यदि वहाँ ब्राह्मण धर्म कर दिया जाए तो ज्यादा अर्थगर्हित होगा। तुलसीदास के राजनैतिक और धार्मिक चिंतन को विश्वनाथ त्रिपाठी अपने तर्कों द्वारा लोकतांत्रिक बताते हैं- “तुलसी की रचनाओं में तत्कालीन राजाओं के प्रति निंदा का भाव भी मिलता है। वे किसी राजा का नाम लेकर विरोध नहीं करते। सामान्यतः सभी भक्त कवियों का और विशेष रूप से तुलसी का जीवन और कृतित्व तत्कालीन सामंती शासन-व्यवस्था का विरोध करता है। ऐसा नहीं कि तुलसीदास सामंतवादी व्यवस्था

के स्थान पर किसी जनवादी या समाजवादी व्यवस्था की कल्पना करते हैं।..... इस्लाम के विरोध में हिन्दुत्व की रक्षा की साम्प्रदायिक चिंता से वे अधिक ग्रस्त होते तो अकबर से लोहा लेने वाले महाराणा प्रताप के दरबार में चले जाते या उनकी वीरता के गीत गाते। तुलसी ने ऐसा नहीं किया क्योंकि 'प्राकृत जनों' की स्तुति करना वे सरस्वती को दुःखित करना समझते थे।''⁵⁸

उपर्युक्त आलोचनात्मक टिप्पणी राजतंत्र को लेकर है न कि धर्मतंत्र को लेकर। त्रिपाठी जी बताते हैं कि तुलसी सामंती मूल्यों या तत्कालीन राजतंत्र का विरोध करते हैं तथा तुलसी की चिंता हिन्दुत्व को बचाने की या साम्प्रदायिक नहीं है, लेकिन रामचन्द्र शुक्ल इन्हें आर्यधर्म के संरक्षक के रूप में देखते हैं।

“गोस्वामी तुलसीदास की आत्मा ने उस समय भारतीय जनमानस के बीच अपनी ज्योति जगाई जिस समय नए-नए संप्रदायों की खींचतान के कारण आर्यधर्म का व्यापक स्वरूप आँखों से ओझल हो रहा था, एकांगदर्शिता बढ़ रही थी।”⁵⁹

आचार्य शुक्ल तुलसी को आर्यधर्म के संरक्षक के रूप में देखते हैं। शुक्ल जी के अनुसार तुलसी ने हताश, निराश हिन्दू जनता को रामकथा के माध्यम से जगाने या एकजुट करने का प्रयास किया, परन्तु विश्वनाथ त्रिपाठी तुलसी को हिन्दू धर्म तक सीमित नहीं करना चाहते इसीलिए वे तुलसी को किसी एक धर्म की चौहद्दी से बाहर लाने के लिए विविध तर्क देते हैं।

राजा का प्रजा-प्रेम, उसकी कर वसूली की नीति पर निर्भर होता है। श्रेष्ठ राजा फसल पक जाने पर कर लगाता है। मध्यम राजा कच्चे फसलों पर कर लगाता है तथा निम्न कोटि का राजा खेतों के क्षेत्रफल के आधार पर कर लगाता है। श्रेष्ठ राजा का प्रतिनिधित्व राम करते हैं जबकि निम्न राजा का प्रतीक रावण है। तुलसीदास जी रावण के भोग-विलास को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि-

“लंका सिखर उपर आगारा। अति विचित्र तह होइ अखारा।

X X X X X X X X

बाजहिं ताल पखाउज बीना। नृत्य करहिं अपछरा प्रबीना।”⁶⁰

लंका की चोटी पर अत्यंत विचित्र महल था। वहाँ नाच, गाना का अखाड़ा जमता था तथा अप्सराएँ नृत्य करती रहती थीं। उपर्युक्त बातें केवल रावण के संदर्भ में लागू नहीं होती बल्कि तुलसी के समकालीन राजाओं की स्थिति लगभग यही थी। परायी स्त्रियों का हरण उनके भोग विलास का हिस्सा था। रावण के संदर्भ में तुलसीदास कहते हैं-

“देव जच्छ गंधर्व नर किन्नर नाग कुमारि।

जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुंदर बर नारि।”⁶¹

अर्थात् देवता, यक्ष, गंधर्व, मनुष्य, किन्नर और नागों की कन्याओं तथा बहुत सी अन्य सुंदरी और उत्तम स्त्रियों को उसने अपनी भुजाओं के बल से जीतकर ब्याह लिया। इन कुकृत्यों को देखकर तुलसीदास जी कहते हैं कि यदि इस राज-समाज को लज्जा भी देखे तो लजा जायेगी-

“साधु भूप बोले सुनि बानी। राज समाजहि लाज लजानी।”⁶²

वे राजा भोग-विलास में इतने लिप्त रहते थे कि शत्रु की भी चिंता नहीं रहती-

“सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास।

परम प्रबल रिपु सीस पर तद्यपि सोच न त्रास।”⁶³

तुलसीदास जी राजाओं की तरह कभी-कभी देवताओं के दुर्गुणों को भी सामने लाते हैं। देवताओं द्वारा किया गया सरस्वती से निवेदन कि किसी प्रकार से राम को वनवास दिला दें। देवताओं की निकृष्टता को उजागर करता है-

“बार बार गहि चरन संकोची। चलि बिचारि बिबुध मति पोची।

ऊंच निवासु नीचि करतूति। देखी न सकहिं पराइ बिभूति।”⁶⁴

अर्थात् इन देवताओं का निवास तो ऊँचा है, पर इनकी करनी नीची है। ये दूसरे का ऐश्वर्य नहीं देख सकते। तुलसीदास जी ‘कवितावली’ में कहते हैं कि देवता या राजा बिना सेवा या स्वार्थ के धन या कुछ भी नहीं देते-

“सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों,

बिहूने गुन पथिक पिआसे जात पथ के।

लेखें-जोखें चोखें चित 'तुलसी' स्वारथ हित,
नीकें देखे देवता देवैया बने गथ के।’’⁶⁵

उपर्युक्त पद में सेवा का संदर्भ भक्ति के अलावा दास प्रथा से भी है जो मध्यकालीन सामंती तत्वों में से एक है।

भक्ति आंदोलन के कवियों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने राज दरबार का मार्ग न अपनाकर भक्ति का मार्ग अपनाया। भक्त कवियों ने तत्कालीन राजाओं के समानांतर राम और कृष्ण जैसे लोकनायक खड़ा किए जो भजन और भक्ति के लिए आलम्बन भी है और लोक रंजक के साथ लोकरक्षक भी। तुलसी यदा-कदा तत्कालीन राजाओं का विरोध करते दिखायी पड़ते हैं उनके लिए एकमात्र आलम्बन राम हैं-

“जाचै को नरेस, देस-देस को कलेसु करै,
देहैं तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौड़िए।
कृपा-पाथनाथ लोकनाथ-नाथ सीतानाथ,
तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओड़ियो।’’⁶⁶

तुलसी केवल राज्य के लिए आदर्श मानदण्ड तैयार नहीं करते बल्कि वे राजा के लिए भी एक आदर्श जीवन पद्धति निर्मित करते हैं। तुलसी बार-बार राजा के लिए सत्य आचरण और प्रेम युक्त जीवन की बात करते हैं-

“राखेउ रायं सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी।’’⁶⁷

तुलसीदास जी आदर्श राज्य के लिए आदर्श राजा को आवश्यक मानते हैं। आदर्श राजा के सारे गुण-धर्म उन्हें राम में दिखायी पड़ता है, क्योंकि राम के लिए प्रजा प्राणों से भी प्रिय है, इसलिए राम के जंगल चले जाने के बाद अयोध्या की जनता व्याकुल हो-हो कर एक दूसरे से राम के बारे में पूछती है-

“सुनइ न श्रवन नयन नहिं सूझा। कहहु कहां नृप तेहि तेहि बूझा।’’⁶⁸

तुलसीदास जी राजपद को मद या आसक्ति के केन्द्र के रूप में भी देखते हैं। उनके अनुसार राज पद एक ऐसा मद है जिसे पा जाने पर आदमी बौरा जाता है-

“भरतहि दोसु देइ को जाएं। जग बौराइ राज पदु पाएं।”⁶⁹

तुलसीदास जी वंशवाद के समर्थक हैं, चूंकि तुलसी का समय राजतंत्र का है जिसकी अपनी सीमाएँ हैं, वहाँ हम किसी समाजवाद या लोकतंत्र की कल्पना नहीं कर सकते-

“बेद बिदित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका।”⁷⁰

इस वंशवाद के बावजूद भी तुलसी प्रजा को केन्द्र में रखते हैं-

“अवसि नरेस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोकु परिहरहू।”⁷¹

तुलसी युवराज पद के लिए चारित्रिक योग्यता और प्रजा की अनुमति को अधिक प्राथमिकता देते हैं-

“लछिमन तुरत बोलाए पुरजन बिप्र समाज।

राजु दीन्ह सुग्रीव कहं अंगद कहं जुबराज।”⁷²

तुलसीदास जी जागरूक प्रजा का निर्माण नहीं करते। राजा की सोच ही प्रजा की है, चाहे वह उसके अनुकूल हो या प्रतिकूल। इसके बावजूद तुलसी प्रजा को थोड़ी सी छूट देते हैं कि यदि राजा कुछ गलत करे तो उसे रोकना चाहिए-

“सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई।

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई।”⁷³

उपर्युक्त पहली पंक्ति में राजा का विचार, उसकी आज्ञा ही सर्वोपरि है, और वे ही सेवक या प्रजा उन्हें प्रिय हैं जो उनकी आज्ञा को स्वीकार करते हैं। दूसरी पंक्ति में प्रजा को थोड़ी सी छूट मिलती दिखायी पड़ती है जो कि राजतंत्र में कम देखने को मिलता है। प्रजा के संदर्भ में डॉ. रामरतन भटनागर अपनी पुस्तक ‘तुलसी साहित्य की भूमिका’ में लिखते हैं- “तुलसी ने ‘मानस’ में प्रजा चित्रण नहीं किया है। तुलसीदास की प्रजा किसी प्रकार आदर्श प्रजा नहीं है। वह राजा की प्रत्येक बात का, चाहे

वह अन्यायपूर्ण ही हो, उल्लंघन नहीं करती यदि राजनीतिक जागृति तुलसी का ध्येय होता, तो वह तेजस्वी प्रजा की अवतारणा करने से नहीं चूकते।’⁷⁴

तुलसी के राज-काज में प्रजा की भूमिका महत्वपूर्ण भले ही न हो लेकिन वहाँ साधुमत, लोकमत और शास्त्रमत की भूमिका महत्वपूर्ण है। तुलसी तत्कालीन उथल-पुथल वाले राज-समाज के समानान्तर एक आदर्श यानी रामराज्य का यूटोपिया गढ़ते हैं, जो समानता का प्रतिपादन करता हुआ दिखायी पड़ता है। चारों तरफ सुराज्य है। सारा समाज मंगल और आनंद के साथ जीवन यापन कर रहा है-

“अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहु ओरा।

बेलि बिटप तून सफल सफूला। सब समाजु मुद मंगल मूला।’⁷⁵

इस रामराज्य को आलोचकों द्वारा काफी सराहा गया इस ‘रामराज्य’ को महात्मा गाँधी ने लोकतांत्रिक समाज के लिए एक मॉडल के रूप में भी अपनाया। वह रामराज्य किन-किन रूपों में महत्वपूर्ण था। इसके संदर्भ में राजपति दीक्षित लिखते हैं- “राजा और प्रजा के लिए धर्म अर्थात् कर्तव्यनिष्ठता या आधुनिक पदावली में नियमबद्धता ही सर्वोपरि होनी चाहिए। राम राज्य में यही था, इसी से न कोई दीन था, न दुःखी-दरिद्र, न मूर्ख न कुलक्षणा। सभी निर्दम्भ, सदाचारी, धर्मप्राण, गुणज्ञ, कृतज्ञ ज्ञानवान और पण्डित थे। तुलसीदास जी रामराज्य की चर्चा दो दृष्टियों से करते हैं। एक ओर तो वे राजन्य वर्ग को सचेत करते हैं कि राज्य वही टिकने वाला हो सकता है जो प्रजासम्मत हो। दूसरे वे प्रजा को भी चेतावनी देते हैं कि उसे ऐसे ही आदर्श राज्य के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।’⁷⁶

दैहिक, दैविक तापों से मुक्त रामराज्य के इस मॉडल से सारे आलोचक सहमत नहीं हैं क्योंकि उन्हें ऐसा लगता है कि यह रामराज्य हाशिये के समाज के साथ न्याय करने में चूक रहा है। तुलसीदास जी के वर्ण व्यवस्था के समर्थन में समानता का अभाव दिखता है। वे कहते हैं कि सब एक दूसरे का हित, उपकार करने वाले हैं-

“सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी।’⁷⁷

तुलसीदास जी एक तरफ राम राज्य में ऊँच-नीच के भेद-भाव को मिटाते हैं, सामंती वर्चस्व को नकारते हैं तो दूसरी तरफ उपर्युक्त पंक्ति में नर-नारी को ब्राह्मणों के चरणों की सेवा करने का उपदेश दे डालते हैं। उनकी यह सोच ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता को ही दर्शाता है। कहीं न कहीं वे ईश्वर की दासता के साथ ब्राह्मणवादी व्यवस्था की दासता को स्वीकृति दिलाना चाहते हैं, जो कि उनके रामराज्य में भी दिखायी पड़ता है। इस मॉडल पर कुछ आलोचकों ने सवाल भी खड़ा किया है- “कहाँ हैं रामराज्य में दलित और अल्पसंख्यक, शूद्र और स्त्रियाँ? शूद्रों और स्त्रियों के लिए यदि किंचित ‘स्पेस’ है भी तो वह सदियों की गुलामी के साथ, कर्तव्य के बोझ से दबी हुई और अधिकारों से वंचित घृणा की सीमा तक अपमानित और तिरस्कृत - ‘अधम ते अधम अधम अति नारी।’ आकस्मिक नहीं है कि पौराणिक समाज में निरीह पशुओं की कतार में खड़े किए गए हैं- शूद्र और स्त्रियाँ। पशुओं की तरह ही अपने मालिक के खूंटे से बंधे हुए हैं। जरा सी ढील देने से इनके बिगड़ जाने की चिंता पुराणकारों को बराबर सताती रहती है- ‘जिमि सुतंत्र भए बिगरहिं नारी।’”⁷⁸

तुलसी की अटूट आस्था रामराज्य में है लेकिन वे इसमें सामाजिक सद्भाव अपने शास्त्रीय मूल्यों के आधार पर चाहते हैं। तुलसी का आदर्श राज्य निश्चित रूप से कुचाल, कुबुद्धि, दुःख और दारिद्र्य से मुक्त दिखायी पड़ता है लेकिन वह राज्य एक मुकम्मल तस्वीर बनाने में चूकता है क्योंकि ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता सामाजिक समानता या जनवादी पक्षधरता का पक्षधर नहीं है। तुलसीदास जी भक्ति के क्षेत्र में समानता का प्रतिपादन करते हैं -

“हैं तो दीन दूबरो, बिगारो-ढारो रावरो न,

मैहू तैहू ताहिको, सकल जगु जाहिको।”⁷⁹

अर्थात् मैं भी और तुम भी उसी ईश्वर के अंश हैं, जिसका यह सारा संसार है। तुलसीदास जी जब भक्ति-भाव से ओत-प्रोत होते हैं तो छोटा-बड़ा उन्हें कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता। वे अपने को राम का गुलाम भी बताते हैं-

“साहेबु सुजान, जिन्ह स्वानहुं को पच्छु कियो,

राम बोला नामु, हौं गुलामु राम साहि को।”⁸⁰

लेकिन जब वे सामाजिक मूल्यों की बात करते हैं तो वहाँ उन्हें ब्राह्मण, देवता, शास्त्र इत्यादि सबसे श्रेष्ठ दिखायी पड़ते हैं। वर्ण व्यवस्था की चिंता सताने लगती है। शूद्रों की तार्किकता खलने लगती है-

“बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।”⁸¹

2.2.3 कर्मचारीगण

शासन व्यवस्था को ठीक ढंग से संचालित करने के लिए मंत्री परिषद या मंत्रियों की भूमिका प्राचीन काल से ही निर्णायक रही है- “हिन्दू राष्ट्र संगठन का यह एक निश्चित नियम और सिद्धांत है कि बिना मंत्रियों की परिषद की स्वीकृति और सहयोग के राजा कोई काम नहीं कर सकता। इस संबंध में धर्मसूत्र, धर्मशास्त्र तथा राजनीति संबंधी सभी ग्रंथ एक मत हैं। स्वयं ही सब शासन-कार्य करने का प्रयत्न करने वाले राजा को मनु ने मूर्ख कहा है। वह ऐसे राजा को अयोग्य समझता है। उसने यह विधान किया है कि राजा को अपने साथी या मंत्री अवश्य रखने चाहिए और राज्य के साधारण तथा असाधारण कार्यों पर उन्हीं के मध्य में बैठकर और उन्हीं के साथ मिलकर विचार करना चाहिए।”⁸²

तुलसीदास जी सचिव अमात्य की चर्चा हमेशा करते हैं। विकट परिस्थिति में राजा मंत्री से मंत्रणा भी करता है। जब कैकेयी ने भरत को राज्य तथा राम को वनवास माँगा तो राजा असमंजस में पड़ गए इस स्थिति में उन्होंने मंत्रियों से मंत्रणा की-

“नृप बूझे बुध सचिव समाजू। कहहु बिचारि उचित का आजू।”⁸³

अबुल फजल शासन के स्तंभों पर विचार करते हुए मंत्री के गुण-धर्म का जिक्र करता है-

“प्राचीन काल के बुद्धिमानों ने शासन के चार स्तंभों का इस प्रकार उल्लेख किया है। पहला ‘ईमानदार आमील’ जो किसानों का रक्षक, प्रजा का निरीक्षक, देश का विकास करने वाला, कोष की पूँजी बढ़ाने वाला हो। दूसरा ‘तीमार दारे सिपाह’ जो अपने अधीनस्थों को कृतज्ञ बनाने का इच्छुक न हो। तीसरा ‘मीरदाद’ जो लोभ तथा स्वार्थ से मुक्त होकर सूक्ष्मदर्शिता तथा दूरदर्शिता के शिखर पर विराजमान हो और केवल साक्षियों और शपथों पर निर्भर न रहकर विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछ कर

अपने लक्ष्य पर पहुँच जाये। चौथा जासूस जो वर्तमान समय की घटनाओं का समाचार बिना घटाये-बढ़ाये पहुँचाये और सत्य तथा दूरदर्शिता के धागे को हाथ से न जाने दे।”⁸⁴

सचिव राजा को हर प्रतिकूल या दुःख की परिस्थितियों में समझाते हैं। सीता के विदाई के समय राजा जनक को सचिव रीति और नीति की बातें समझाते हैं-

“समुझावत सब सचिव सयाने। कीन्ह बिचारू न अवसर जाने।”⁸⁵

तुलसीदास जी कहते हैं कि यदि मंत्री योग्य हो तो उसे रैयत, राज-समाज, धर्म इत्यादि की जिम्मेदारी राजा को सौंप देनी चाहिए-

“रैयत, राज-समाज, घर, तन, धन, धरम, सुबाहु।

सांत सुसचिवन सौंपि सुख बिलसहिं नित नरनाहु।”⁸⁶

तुलसीदास जी मंत्री या सचिव को राज्य के आलोचक के रूप में देखते हैं यानी राज्य की पूर्ण समीक्षा आवश्यक है। सचिव को विवेकवान होना जरूरी है। उसे मुँहदेखी नहीं बल्कि तटस्थता के साथ सलाह देनी चाहिए। वे कहते हैं कि यदि सचिव, वैद्य और गुरु कुछ ज्यादा ही प्रिय बोलने लगे तो विनाश की स्थिति पैदा होती है-

“सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आसा।

राजधर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नासा।”⁸⁷

तुलसीदास जी मंत्रियों की दो कोटियाँ बनाते हैं, पहला वे बुद्धिमान, चतुर मंत्रियों की चर्चा बार-बार करते हैं, जो उन्हें प्रिय है-

“जागत सब निसि भयउ बिहाना। भरत बोलाए सचिव सुजाना।”⁸⁸

दूसरा वे हैं जो निम्न कोटि के हैं, वे मुँहदेखी बात करते हैं। वे उचित सलाह नहीं देते-

“कहहिं सचिव सठ ठकुर सोहाती। नाथ न पूर आव एहि भांती।”⁸⁹

तुलसीदास जी जासूस, गुप्तचर या दूत का भी उल्लेख करते हैं-

“नृपहिं धीर धरि हृदयं बिचारी। पठए अवध चतुर चर चारी।”⁹⁰

2.3 कृष्णकाव्य में अभिव्यक्त राज्यव्यवस्था का स्वरूप

2.3.1 राज्य का स्वरूप

राजनैतिक दृष्टि से देखा जाए तो सूरदास का रचनात्मक जीवन मुगल काल से संबंधित है- “महाकवि सूरदास का जन्म लोदी वंश के सुल्तान बहलोल लोदी के समय में हुआ था; पर उनके जीवन का अधिकांश समय मुगल बादशाहों के शासन-काल में व्यतीत हुआ। यह वह समय था, जब मुगल साम्राज्य भारत में अपनी जड़ें मजबूत कर रहा था। सूरदास ने मुगलवंश के तीन शासकों- बाबर, हुमायूँ तथा अकबर का शासन देखा था।”⁹¹

अक्सर मध्यकालीन काव्यों के राजनैतिक पहलुओं पर बात कम की जाती है। चर्चा होती भी है तो यदा-कदा क्योंकि उसे साहित्यिक मूल्य के रूप में नहीं देखा जाता है, लेकिन साहित्यिक आंदोलन को ऐतिहासिक आंदोलन के रूप में देखा-परखा जाता है। मध्यकाल को लेकर जो अधिकांश शोध कार्य हुए हैं, वे विशुद्ध कलावादी दृष्टि से या लोक-परलोक की चिंता के साथ काव्यशास्त्रीय दृष्टि से ही हुए हैं। जो भी कालजयी रचना होती है वह अपने सामाजिक संदर्भों के साथ आगे बढ़ती है। वे संदर्भ राजनैतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक भी होते हैं। सूरदास की कविता के राजनीतिक अभिप्राय क्या है? इस पर प्रो. मैनेजर पाण्डेय की टिप्पणी महत्वपूर्ण है- “हमारे सामने सवाल सूर की कविता के राजनीतिक महत्व की खोज का नहीं है, यह तो प्रत्येक लोकधर्मी कविता का स्वाभाविक गुण है। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि सूर की कविता में उस युग की राजनीति के अर्थ और अभिप्राय की पहचान कितनी है। यह प्रश्न कुछ लोगों को विचित्र लग सकता है, क्योंकि हिंदी आलोचना में भक्तिकाव्य की राजनीति अर्थात् उसके राजनीतिक अर्थ, अभिप्राय और महत्व पर विचार की कोई विकसित परंपरा नहीं है।... जो लोग यह समझते हैं कि जिस कविता में राजसत्ता का खुला विरोध या समर्थन होगा, वही राजनीतिक होगी वे भक्तिकाव्य में राजनीति की खोज करते हुए निराश होते हैं; क्योंकि उसमें राजसत्ता का सीधा विरोध नहीं है। ... राजनीति केवल राजसत्ता के विरोध या समर्थन तक सीमित नहीं होती, कविता की राजनीति तो और भी नहीं। समकालीन राजनीति

के अर्थ तथा अभिप्राय की पहचान और उसके विरोध तथा विकल्प की रचनात्मक चिंता भी कविता की राजनीतिक सजगता का प्रमाण है। भक्तिकाव्य में ऐसी ही राजनीतिक सजगता है।”⁹²

यदि कुछ कविताओं को छोड़ दिया जाए तो अष्टछाप के कवि राजसत्ता से सीधे नहीं टकराते हैं, इसके बाजवूद उनकी कविताओं में एक सजग राजनैतिक चेतना, या राजनैतिक संदर्भों की पहचान दिखायी पड़ती है। यही राजनैतिक सजगता और अपने समय की पहचान आगे चलकर ऐतिहासिक साक्ष्य बनते हैं जो कि अष्टछाप में भरे पड़े हैं।

सूरदास ने तत्कालीन समय, समाज की विसंगतियों से लड़ने के लिए श्रीकृष्ण जैसे लोक नायक का सहारा लिया जो कि लोकरक्षक भी है और लोकरंजक भी। मध्यकाल के लगभग सारे महाकाव्यों में दो तरह के नायकों का चरित्र-चित्रण विस्तार से मिलता है। पहला वे हैं जो लोकविरोधी हैं जिसमें कंस, रावण, अलाउद्दीन इत्यादि हैं। दूसरा कृष्ण, राम और रतनसेन इत्यादि हैं जो लोकहितैषी, प्रजारक्षक हैं।

“भक्तिकाव्य में लोकहितैषी व्यवस्था के लिए क्रियात्मक संघर्ष के अनेकानेक चित्र हैं। इन चित्रों में कवियों ने लोक विरोधी सामंतों को खलनायक की भूमिका में उतारा है तथा लोक हितैषी सामंतों को नायकत्व की जिम्मेदारी सौंपी है। ...राजतिलक से वंचित वनवासी राम, पद्मावती के प्रेम में राज छोड़कर भिखारी होने वाले रतनसेन, गोकुल के ग्वालों को राक्षसों से बचाने वाले तथा उनके साथ कलेवा बाँटकर खाने वाले कृष्ण अपनी संघर्षशीलता, मानवीयता एवं सामाजिकता के कारण ही भक्तिकाव्य के आदर्श नायक हैं, सामंती कुलीनता के कारण नहीं।”⁹³

तुलसी और जायसी ने भक्तिकालीन दोनों महाकाव्यों में राज-समाज को सुगमता से समझने के लिए केवल लोक-नायक का ही निर्माण नहीं किया बल्कि नायक के साथ-साथ एक प्रति नायक या खलनायक को भी खड़ा किया, जिससे तत्कालीन राज्य तथा एक आदर्श राज्य की रूपरेखा जन-मानस में स्पष्ट बन सके। इन महाकाव्यों के नायक भी सामंती परिवेश से ही आते हैं; लेकिन वहाँ लोक-चिंता या लोक-रक्षा का भाव प्रबल है। जहाँ तक सूरदास का सवाल है वे कृष्ण के माध्यम से सामंती मूल्यों का प्रतिरोध आक्रामकता के साथ नहीं करते बल्कि वे निषेधात्मक पद्धति अपनाते हैं।

उन्होंने राजवंश की दीर्घकालिक काव्य परंपरा को तोड़कर पशुपालक, गोचारक जैसे नायक को लोकनायकत्व की जिम्मेदारी सौंपी, जिसमें वे सफल भी हुए। यही कृष्ण जब द्वारिकाधीश बन जाते हैं तब वे लोकजीवन और खासकर ब्रज के गोपियों, ग्वाल-बालों से कटे हुए नजर आते हैं।

सगुण भक्त कवियों के संदर्भ में यह बात बार-बार रेखांकित की जाती है कि उनका उद्देश्य राजसत्ता का मुखर विरोध करना नहीं था, इसके बावजूद वहाँ यदा-कदा प्रतिरोधी चेतना देखने को मिल जाती है। कुंभनदास राजसत्ता के बारे में लिखते हैं-

“भक्तन कौ कहा सीकरी काम।

आवत जात पन्हैया टूटी बिसर गयो हरि नाम।

जाको मुख देखे दुख लागै ताकौ करिबौ परी सलाम।

‘कुंभनदास’ लाल गिरधर बिन यह सब झूठौ काम।”⁹⁴

सूरदास के यहाँ इस तरह का मुखर विरोध देखने को नहीं मिलता, लेकिन वे एक ऐसे राज्य के आकांक्षी हैं जहाँ प्रजा सतायी नहीं जाती हो-

“राज धरम तौ यह सूर, जौ प्रजा न जाहिं सताए।”⁹⁵

भक्तिकालीन महाकाव्य लिखने वाले कवियों पर यह आरोप लगता है कि वे प्रजा की अवतारणा करने में चूकते हैं या उनके यहाँ प्रजा का चित्रण नहीं है। यह बात सही भी है कि महाकाव्यों में सामंती मूल्यों का प्रतिफलन दिखायी पड़ता है तथा पूरी कथा राजा-रानी और कुलीन पात्रों के इर्द-गिर्द घूमती है। भले ही सूरसागर महाकाव्य की कोटि में नहीं आता लेकिन उत्तरार्द्ध की कथा में यही स्थिति देखने को मिलती है, यानी सगुण काव्यों की प्रकृति लगभग एक जैसी है। इन सबके बावजूद तुलसी की तरह सूर के यहाँ भी प्रजा की चिंता को स्पष्ट देख सकते हैं- “निर्गुण संतों की तरह सगुण भक्तों की कविता में सामंती समाज और उसकी विचारधारा के विरुद्ध ललकार की भाषा में उग्र विद्रोह की घोषणाएँ कम हैं, लेकिन उनकी कविता में चरित्रों के निर्माण, कथा की संरचना, यथार्थबोध, भावबोध और जीवन-मूल्य के बोध के स्तर पर सामंती व्यवस्था और विचारधारा का विरोध प्रकट हुआ है। ...इन कथाओं के नायक अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने वाले वीर पुरुष हैं।

सामंती समाज-व्यवस्था के अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने वाली जनता इन कथानायकों के संघर्ष में अपने संघर्ष की आकांक्षा का मूर्त रूप देखती है। यही इन कथाओं की व्यापक लोकप्रियता का रहस्य है।⁹⁶

यह बात महत्वपूर्ण है कि सगुण भक्त कवियों के यहाँ भले ही सामंती व्यवस्था का मुखर विरोध नहीं है लेकिन उनकी कथा की बुनावट ऐसी है कि उन चरित्रों, मूल्यों एवं भावबोध के धरातल पर कहीं न कहीं अप्रत्यक्ष रूप से उन सामंती मूल्यों का विरोध दिखायी पड़ता है।

सूरदास का समाज दिल्ली के निकट का समाज है जहाँ स्वतंत्रता तथा लोकतांत्रिक मूल्यों की बात करना अत्यंत दुष्कर कार्य था; इसके बावजूद सूर वृंदावन के माध्यम से एक ऐसे समाज की परिकल्पना करते हैं जो स्वतंत्र है, जो अपने लोकतांत्रिक मूल्यों पर रचा बसा है।

2.3.2 राजा और राज्य

अष्टछाप के कवियों ने राजा या शासक के लिए नृप, नृपति, नरपति, भुवाल, भूप, नृपराज, महाराज, राउ, छत्रपति इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है-

“सस्त्र धन छांड़ि कै भाजि ‘नरपति’ गये।”⁹⁷

“कहौ न जाइ उताल, जहां ‘भूपाल’ तिहारो।”⁹⁸

सूरदास ने स्वयं अपने लिए भी ‘राजा’, ‘राउ’ या ‘सुल्तान’ शब्द का प्रयोग किया है-

“हरि हौं सब पतितनि को राउ।”⁹⁹

“और हैं आजकल के राजा, मैं तिनमें सुलतान।”¹⁰⁰

उपर्युक्त ये शब्द महाराज दशरथ, रावण और कंस जैसे बड़े राजाओं के साथ नंद और वृषभानु जैसे व्यक्तियों के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। नंद को इन कवियों ने ‘ब्रजराइ’, ‘ब्रजराज’ तथा कृष्ण को यदुवंशी होने के कारण ‘जादौकुलराई’ जैसे पर्यायों से संबोधित किया है। सूरदास और तुलसीदास दोनों ही कवियों की श्रद्धा अवतारवाद में है-

“कलिमल दूर करन के काजें, तुम लीन्हौ जग मैं अवतार।”¹⁰¹

अर्थात् जब जब-इस लोक में पाप बढ़ता है ईश्वर अवतार लेते हैं। यहाँ भी राजा ईश्वर का अंश है। लोकनायक या राजा के संदर्भ में सूरदास का चिंतन दैवीय या ईश्वरवादी है। ईश्वर का मनुष्य में स्थानांतरण तथा अवतारवाद के संदर्भ में प्रो. सुवास कुमार का कथन महत्वपूर्ण है कि- “अवतारवाद के पीछे प्राकृतिक शक्तियों में देवता के आरोपण की भावना देखी जा सकती है। अवतारवाद के माध्यम से ईश्वर का मानवीकरण हुआ। अब तक देवता मनुष्य से अलग और ऊपर था। अब वह मनुष्य बनकर मनुष्यों के बीच ही उपस्थित था। ... कृष्ण के जीवन-संबंधी कई प्रसंग मौलिक और वास्तविक रहे होंगे किन्तु बाद में जनश्रुतियों और प्रवादों, दार्शनिकों और कवियों और धार्मिक सांप्रदायिक अपेक्षाओं ने उन्हें अलग ही काल्पनिक और प्रतीकात्मक रूप दे दिया। धर्म और काव्य ने ढेर सारे स्वतंत्र काल्पनिक प्रसंगों की उद्भावना करके उन्हें कृष्ण चरित्र से जोड़ा। कृष्ण जीवन के अन्य अनेकों प्रसंगों की प्रतीकात्मकता को स्पष्ट करने के लिए कुछ भी कसर नहीं छोड़ी गयी। इस प्रकार कृष्ण का व्यक्तित्व पहले सात्वतराज के रूप से जननायक में, फिर जननायक से दैवी रूप में और बाद में चलकर ब्रह्मा के अवतार के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। मनुष्य को देवता बनाने की प्रवृत्ति हर काल में रही है और अब भी है।”¹⁰²

यानी लोक-मानस पहले से ही अपने-अपने ढंग से कथा नायकों को गढ़ता रहा है। सूरदास अपने विनय के पदों में लोक नायक कृष्ण को राजा के रूप में कम ईश्वर के रूप में अधिक देखते हैं। संभवतः इसके दो कारण हो सकते हैं, पहला तो यह कि सूरदास एक भक्त कवि हैं और श्रीकृष्ण के ‘भगवत प्रेम’ में डूबे हुए हैं और उनका उद्देश्य भी भक्ति और प्रेम ही है, राजा के गुण-दुर्गुणों पर प्रकाश डालना नहीं। दूसरा यह कि सूरदास को कृष्ण का लोकरक्षक रूप ज्यादा आकृष्ट कर रहा हो। लोकरक्षक का संदर्भ तत्कालीन समाज से भी जुड़ा है, तत्कालीन शासकों का प्रभाव और अकबर की उदार शासन नीति ने संभवतः उन्हें ईश्वर स्वरूप बना दिया था- “मुगल बादशाहों के अतुल प्रताप के कारण लोगों ने उनके प्रति देवत्व भावना का विकास कर लिया था। जिस प्रकार लोग प्रातः काल सूर्य का दर्शन करते हैं, या अन्य देवी देवताओं के दर्शन करके अपने कार्य को प्रारंभ करते हैं, वैसे ही

बादशाह के रूप में जो प्रत्यक्ष देवता विद्यमान था, उसके दर्शन करना भी बहुत-से लोग अपना पुण्य कर्तव्य मानते थे।”¹⁰³

कुछ आलोचकों का मानना है कि सूरसागर में कृष्ण के ईश्वरीय रूप से ज्यादा मनुष्य या लोकनायक वाला रूप ही ज्यादा प्रबल है- “सूरसागर में चित्रित कृष्ण का जीवन संघर्ष सतह से उठते हुए सामान्य मनुष्य का संघर्ष है जो आगे चलकर लोकरक्षा के अपने प्रयत्नों से लोकनायक का गौरव अर्जित करता है।”¹⁰⁴

भारतीय समाज बहुत पहले से ही नायकत्व में देवत्व और देवत्व में नायकत्व की विशिष्टता को देखता रहा है। अवतारवाद में देवत्व और लोकरक्षण में नायकत्व को ज्यादा प्रश्रय मिला है। भक्तिकालीन कवियों ने नायकत्व की भूमिका को ज्यादा विस्तार दिया है। इनके नायक या लोकनायक ही एक आदर्श राजा के सारे मानदण्डों पर खरे उतरते हैं, यानी इन कविताओं की चिंताधारा में भक्ति और मोक्ष के साथ राजनैतिक पहलू भी जुड़े हुए हैं। संभवतः जब-जब भक्ति की भावधारा उमड़ती है तब-तब उन्हें इन नायकों में ईश्वर की छवि दिखायी पड़ने लगती है। राजा की पत्नी के लिए सूरदास ‘रानी’ शब्द का प्रयोग करते हैं-

“कोऊ हुती कंस की दासी कृपा करी भइ रानी।”¹⁰⁵

यदि एक राजा की कई रानियाँ हो तो प्रमुख को ‘पटरानी’ कहा गया है। सूरदास की गोपियाँ कुब्जा पर कृष्ण की कृपा का समाचार पाकर व्यंग्य से उसको पटरानी कहती हैं-

“कुबिजा को पटरानी कीन्हों हमैं देत बैराग।”¹⁰⁶

प्रधान रानी को ही ‘पट्टमहिषी’, ‘पट्टदेवी’ अथवा ‘पटराज्ञी’ की संज्ञा दी जाती थी। प्रायः पहली रानी को ही यह पद मिलता था। वह अपने विशेष अधिकार से राजा के साथ सिंहासन पर बैठती थी तथा यज्ञादि कर्मों में अर्धांगिनी का स्थान ग्रहण करती थी।

राजा या सम्राट का नगर ‘राजधानी’ कहलाता था। राजधानी शब्द का प्रयोग आज भी किया जाता है। सूरसागर में ‘राजधानी’ शब्द का प्रयोग गोकुल, वृंदावन और ब्रज के लिए हुआ है-

“रंगभूमि रमनीक मधुपुरी, रजधानी ब्रज की सुधि कीजो।”¹⁰⁷

अधिकांश राजधानी शब्द का प्रयोग मथुरा के लिए किया गया है क्योंकि वहीं शौरसेन जनपद का शासन केन्द्र था और वहीं राजा कंस भी रहता था-

“अब दिन चारि चलहु गोकुल में सेवहु आइ बहुरी रजधानी।”,¹⁰⁸

राजा के निवास स्थान के लिए महल, मंदिर तथा भवन इत्यादि शब्दों का प्रयोग मिलता है-

“सुनत बुलाइ महल ही लीन्हौ, सुफलक-सुत गए धाइ।”,¹⁰⁹

महलों का निर्माण कराना फारसी शासकों की एक प्राचीन और लोकप्रिय प्रथा थी। प्रत्येक शासक स्वयं के लिए एक आवासगृह चाहता था और वह अपने पूर्ववर्ती शासक द्वारा छोड़े गए भवनों का उपयोग करने का इच्छुक नहीं रहता था। वह चाहता था कि उसके महल उसके प्रशासन के स्मारक के रूप में रहे। रानियों या राजकुल की स्त्रियों के रहने का स्थान अन्तःपुर या रंगमहल के नाम से जाना जाता था-

“भीतर लै राखै नंद नीकैं, अन्तःपुर महलनि रानी कै।”,¹¹⁰

प्राचीन काल में हिन्दुओं का ‘रनिवास’ ‘अन्तःपुर’ कहलाता था। मुसलमानों के समय में वही ‘हरम’ या ‘जनानखाना’ कहलाया। राजा जिस स्थान पर बैठकर मंत्रियों, पुरोहितों और राज्य के अन्य कर्मचारियों के साथ शासन-संबंधी समस्याओं पर विचार करता था उसके लिए ‘सभा’, ‘राजसभा’ और ‘दरबार’ शब्द का प्रयोग अष्टछाप के कवियों ने किया है-

“सकल सभा में बैठि दुसासन अंबर आनि गह्यौ।”,¹¹¹

यशोदा अक्रूर से कहती हैं कि मैं कृष्ण को मथुरा नहीं भेजना चाहती हूँ, इन्हें राजसभा का बिल्कुल ज्ञान नहीं, ये बच्चे हैं। मथुरा में असुरों का समूह बसता है जो हत्यारा है-

“ये कहा जानैं राज सभा कौं, ये गुरुजन बिप्रहुं न जुहारे।

मथुरा असुर समूह बसत हैं, कर कृपान जोधा हत्यारे।”,¹¹²

उपर्युक्त पद में मथुरा के राजा कंस के माध्यम से तत्कालीन राजाओं की आसुरी प्रवृत्तियों की झलक दिखायी पड़ती है तथा इसके साथ ही नगरीय जीवन की संवेदनहीनता भी उजागर होती है। मुसलमानों के शासन में राजसभा को ‘दरबार’ कहा जाने लगा जिसका असर भक्त कवियों पर भी

पड़ा। वे अरबी-फारसी के शब्दों के साथ उनके राज-काज के तरीकों से भी प्रभावित हुए। सूरदास दरबार शब्द का प्रयोग नंद और कृष्ण के दरबार के लिए करते हैं-

“राग रंग रंगि मंगि रह्यौ नंदराइ दरबार।”¹¹³

तत्कालीन राज्य की दरबारी स्थिति हो या उसका राजनैतिक आचार-विचार उसमें समतामूलक मूल्यों का अभाव था। ये मूल्य राजा की सोच पर अधिक निर्भर करते थे। भोग-विलास, अनीति और दुराचारी शासन व्यवस्था तत्कालीन राज्य का चरित्र था; इसीलिए सूरदास हों या तुलसीदास कंस और रावण के अन्याय के समानान्तर कृष्ण और राम जैसे लोकनायक को गढ़ते हैं। ‘दानलीला-प्रसंग’ में गोपियों से दूध, दही, मक्खन आदि का ‘दान’ उगाहने वाले कृष्ण को सशक्त शासन का भय दिखाती हुई गोपियाँ जब कहती हैं कि हमारा इस प्रकार मार्ग रोक रहे हो, क्या तुम नहीं जानते कि राज्य कंस का है?

“नाहिंन राज कंस कौ जानत, मारग रोक फिरत पराए।”¹¹⁴

उत्तर में कृष्ण कहते हैं कि - जाकर कंस से फरियाद करो कि वह हमें अपने दरबार में बुलाकर उचित दण्ड दें-

“जाइ सबै कंसहि गुवरावहु।

दधि माखन घृत लेत छुड़ाए, आजु हजूर बुलावहु।”¹¹⁵

सूरदास राजसभा की अनीति और अनैतिकता पर बखूबी प्रकाश डालते हैं-

“जब गहि राजसभा मैं आनी।

द्रुपद सुता पटहीन करन कौं दुस्सासन अभिमानी।”¹¹⁶

दुस्सासन जैसे चीरहरण करने वाले राजाओं का चरित्र तत्कालीन समय, समाज का चरित्र है। इसका मुखर विरोध सूरदास अगली पंक्ति में करते हैं-

“पै ब्रज या नृपति सभा पै, कहती प्रजा अकुलानी।

बैठे हंसत करत, दुर्जोधन, रोवति द्रौपदि रानी।”¹¹⁷

इसके विकल्प स्वरूप सूरदास एक ऐसा राज या दरबार चाहते हैं जो समता पर आधारित हो। यह समता और न्याय वे श्रीपति के दरबार में देखते हैं-

“जाति-पांति कोउ पूछत नहीं श्रीपति के दरबार।”¹¹⁸

यदि तत्कालीन राज्य व्यवस्था में राजा और प्रजा के आपसी संबंधों पर बात करें जिसमें अपवादस्वरूप अकबर जैसे शासक भी हैं; तो पायेंगे कि राजा और प्रजा के बीच मधुर संबंध नहीं थे। यहाँ तक कि जब कृष्ण भी मथुरा चले जाते हैं तब वे सामान्य जन-जीवन से दूर चले जाते हैं। उनके राज दरबार तक पहुँच पाना संभव नहीं हो पाता। वहाँ बाहर राजाओं की भीड़ है और अन्दर भोग-भामिनियों की। ऐसे में साधारण ब्रजवासियों के लिए स्थान मुश्किल है-

“हौं कैसे केँ दरसन पाऊं।

सुनहु पथिक वा देश द्वारिका जौ तुम्हरे संग जाऊं।

बाहर भीर बहुत भुपनि की बुझत बदन दुराऊं।

भीतर भीर भोग भामिनी की तिहि ठां काहि पठाऊं।”¹¹⁹

ब्रज के लोगों के लिए राजनीति एक अबूझ पहेली की तरह है-

“राजनीति जानौ नहीं, गो-सुत चरवारे।”¹²⁰

राजनैतिक छल-प्रपंच तो मथुरा के लोग जानते हैं जिसे सूरदास काजल की कोठरी कहते हैं। आज के समय में राजनीति किस प्रकार झूठ, छल और भ्रष्टाचार का पर्याय बन गया है। इस अर्थ में राजनीति शब्द का प्रयोग सूरदास बहुत पहले कर चुके हैं-

“हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।

समुझी बात कहत मधुकर जो, समाचार कछु पाए।

इक अति चतुर हुते पहिले ही, अरु करि नेह दिखाए।

X X X X X X X

राज धर्म सब भए सूर जहँ प्रजा न जाय सताए।”¹²¹

अंतिम पंक्ति में सूरदास की चिंता प्रजा को लेकर है, उनकी दृष्टि में वही राज्य श्रेष्ठ है जहाँ प्रजा सतायी नहीं जाती हो। राजधर्म का उद्देश्य प्रजा को सुख-शांति देना है। सूरदास तत्कालीन राज्य व्यवस्था का चित्रण एक रूपक के द्वारा करते हैं।

“आसा कै सिंहासन बैठयौ, दंभ-छत्र सिर तान्यौ।
अपजस अति नकीब कहि टेरयौ सब सिर आयसु मान्यौ।
मंत्री काम-क्रोध निज दोऊ अपनी अपनी रीति।
दुबिधा-दुंद रहै निसि-बासर, उपजावत बिपरीति।
मोदी लोभ खवास मोह के, द्वारपाल अहंकार।
पाट बिरध ममता है मैरे, माया कौ अधिकार।
दासी तृष्णा भ्रमत टहल-हित, लहत न छिन विश्राम।
अनाचार सेवक सौं मिलि कै करत चबाइनि काम।”¹²²

अर्थात् सिंहासन पर विराजमान शासक के सिर पर दंभ का छत्र है मंत्रीगण कुमंत्रणा द्वारा राज्य में दुःख और उपद्रव फैला रहे हैं; यानी राजा और उसके कर्मचारी किस प्रकार कुरीतियों, बुराइयों के साथ अन्यायपूर्ण शासन को संचालित कर रहे हैं, उपर्युक्त पद में सूरदास ने इसका सुंदर चित्र खींचा है। सूरदास तत्कालीन राज्य व्यवस्था के आचरण से दुखी दिखायी पड़ते हैं।

“जिनकौ मुख देखत दुख उपजत तिनकौ राजा राय कहौ।”¹²³

सूरदास जी कहते हैं कि राजा का मुख्य उद्देश्य प्रजा को सुख देना और उसका पालन-पोषण करना है।

“कीजै यहै बिचार परसपर, राजनीति समुझायौ।

सेवा मातु प्रजा-प्रतिपालन, यह जुग जुग चलि आयौ।”¹²⁴

2.3.3 कर्मचारीगण

मध्यकाल में केन्द्रीय शासन प्रणाली का विकास हो चुका था। राज्य व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिए विविध पदाधिकारी नियुक्त किए जाते थे। “इस काल में निरंकुश स्वेच्छाचारी

राजतंत्र शासन-प्रणाली का चलन था तथापि यह संभव नहीं था कि शेरशाह, अकबर अथवा औरंगजेब जैसे परिश्रमी व्यक्ति भी केन्द्रीय शासन के सभी विभागों का कार्य बिना किसी विभागीय अध्यक्ष की सहायता के चला सकें।¹²⁵

राजा के बाद राजकीय कर्मचारियों में मंत्री या वजीर प्रधान होता था। वह राजा का सलाहकार भी होता था। प्राचीन शासन व्यवस्था में मंत्री के लिए ‘सचिव’ तथा ‘अमात्य’ शब्द भी प्रयोग किए जाते थे। तुलसीदास ने ‘सचिव’ शब्द का प्रयोग अधिकांश जगहों पर किया है-

“सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगबेरपुर पहुँचे जाई।”¹²⁶

सूरदास जी ने ‘मंत्री’ तथा ‘वजीर’ जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया है-

“मंत्री काम कुमति दीबै कौं, क्रोध रहत प्रतिहारी।”¹²⁷

“पाप उजीर कहयौ सोइ मान्यौ धर्म-सुधन लुटयौ।”¹²⁸

‘आईने अकबरी’ में अबुल फजल ने ‘वजीर’ को ‘दीवान’ भी कहे जाने का जिक्र किया है-

“इस वर्ग का प्रधान वजीर होता है जिसको दीवान भी कहते हैं। वह अर्थ विभाग में बादशाह का नायब होता है। राजकोषों की रक्षा और हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल उसको सुपुर्द है।”¹²⁹

सूरदास ने ‘दीवान’ शब्द का प्रयोग राम के दीवान के रूप में ‘ध्रुव’ के लिए किया है-

“भक्त ध्रुव कौं अटल पदवी, राम के दीवान।”¹³⁰

सूरदास ने मंत्री, पुरोहित इत्यादि की नियुक्ति का उद्देश्य प्रजा के जीवन पर विचार करना बताया है-

“गुरु बसिष्ठ अरु मिलि सुमंत सों परजा हेतु बिचारै।”¹³¹

सूरदास ने ऐसे मंत्रियों का भी जिक्र किया है जो निरंकुश शासक को भय वश उचित सलाह नहीं देते अथवा उन्हें उचित परामर्श देने का अवसर ही नहीं मिलता यदि अवसर मिलता भी है तो वे अपनी बात सकुचाते हुए कहते हैं-

“मंत्री ज्ञान न अवसर पावै, कहत बात सकुचातौ।”¹³²

राज्य के अन्य कर्मचारियों में अमीन, मुस्तौफी, काजी, कोतवाल, अहदी, मुजफिल, मोहरिल, सिकदार, जासूस आदि का उल्लेख अष्टछाप काव्य में मिलता है। विभिन्न पदाधिकारियों का उल्लेख ‘अबुल फजल’ ने किया है जो वजीर के निर्देशानुसार कार्य करते हैं- “अपनी दूरदर्शिता से मुस्तौफी की कठिनाइयों को वह दूर करता है। जो कठिनाइयाँ वह हल नहीं कर सकता उसको वकील हल करता है। मुस्तौफी, साहबे तौजीह, अवार्जा नवीस, मीर सामान, नाजिरे ब्यूतात, दीवाने ब्यूतात, मुशरिफे गंजूर, वाकया नवीस, आमिल खालसा उसके अधीन हैं। ये लोग वजीर के निर्देशानुसार कार्य करते हैं।”,¹³³

सूरदास ने चित्रगुप्त के लिए मुस्तौफी शब्द का प्रयोग किया है-

“चित्रगुप्त सो होत मुस्तौफी, सरन गहूं मैं काकी”,¹³⁴

‘कोतवाल’ नगर की शांति का रक्षक होता था। उसके अपने कर्तव्य पालन नहीं करने से नगर में अशांति और भय का वातावरण फैल जाता था। सूरदास ने दगाबाज कोतवाल का जिक्र किया है जो प्रजा का सर्वस्व लूट लेता था-

“दगाबाज कुतवाल काम रिपु सरबस लूटि लयौ।”,¹³⁵

किस प्रकार ‘पटवारी’ और ‘मोहरिल’ झूठी बही लिखते हैं, यानी तत्कालीन राज्य व्यवस्था के भ्रष्ट आचरण की तस्वीर सूरसागर में दिखायी पड़ती है-

“मोहरिल पांच साथ करि दीणे। तिनकी बड़ी बिपरीत।”,¹³⁶

“अहंकार पटवारी कपटी, झूटी लिखत बही।”,¹³⁷

सूरदास ने नंद को एक पद में ब्रज का ‘सिकदार’ कहा है-

“ब्रज परगन सिकदार महर, तू ताकी करत नन्हाई।”,¹³⁸

पहले जिला कई परगनों में बँटा होता था और इनका प्रधान अधिकारी ‘शिकदार’ कहलाता था।

राजा का संदेशवाहक ‘दूत’ कहलाता था। कंस ने दूत के द्वारा ही कालीदह के फूल भेजने की आज्ञा नंदराय के पास भिजवायी थी-

“कंस बुलाइ दूत इक लीन्हौ।

कालीदह के फूल मंगाए पत्र लिखाइ ताहि कर दीन्हौ।”¹³⁹

राजा का यशगान करने वाले ‘बंदी’, ‘मागध’ या ‘सूत’ कहे गए हैं-

“निंदा जग उपहास करत, मग बंदीजन जस गावता।”¹⁴⁰

राजसभा या राजमहल के सेवकों में प्रमुख द्वारपाल, प्रतिहारी, पौरिया, छरीदार, दरबान इत्यादि का उल्लेख मिलता है-

“मंत्री काम कुमति दीबै कौं, क्रोध रहत प्रतिहारी।”¹⁴¹

इनके अतिरिक्त राजा या धनिकों का व्यक्तिगत सेवक ‘खवास’ होता था। सूरदास के विनय के पदों में तथा कंस-दरबार के वर्णन में यह शब्द मिलता है-

“मोदी लोभ खवास मोह के, द्वारपाल अहंकार।”¹⁴²

राजभवनों में सेवक रखने की परम्परा प्राचीन समय से ही पायी जाती है। सूरदास ‘सेवक’ का उल्लेख करते हैं-

“अनाचार-सेवक सौं मिलिकै करत चबाइनि काम।”¹⁴³

2.3.4 मीराबाई और राजसत्ता

मीराबाई कृष्ण की अनन्य भक्त हैं; जहाँ प्रेम विरह, भक्ति सब कुछ है। मीराबाई का मूल्यांकन भी कुछ वैसे ही किया जाता है जैसे कबीर का। जिस प्रकार कबीर केवल विद्रोह के कवि नहीं हैं, ठीक वैसे ही मीराबाई केवल विरह और प्रेम की कवयित्री नहीं हैं। इन दोनों रचनाकारों के यहाँ प्रेम और विद्रोह साथ-साथ है। फर्क इतना है कि कबीर सामाजिक कुरीतियों जैसे- जाति प्रथा, धार्मिक बाह्याडम्बर इत्यादि के खिलाफ आवाज उठाते हैं, मीराबाई ऐसा नहीं करती। मीराबाई का मुख्य विरोध सामंती व्यवस्था, राजसत्ता और स्त्री मुक्ति से जुड़ा हुआ है। हिंदी के अधिकांश आलोचकों ने मीरा की प्रतिरोधी चेतना को रेखांकित करने के बजाय उनके भक्ति-भावना, विरह, प्रेम और समर्पण वाले भाव को ही अधिक महत्व दिया है। हम इसके कुछ उदाहरण देख सकते हैं।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - “मीराबाई के पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता और आत्म समर्पण का भाव है। इनके माधुर्य ने हिंदी-भाषी क्षेत्र के बाहर भी सहृदयों को आकृष्ट और प्रभावित किया है। माधुर्य भाव के अन्यान्य भक्त कवियों की भाँति मीरा का प्रेम निवेदन और विरह व्याकुलता अभिमानाश्रित और अध्यंतरित नहीं है, बल्कि सहज और साक्षात् संबंधित है।”¹⁴⁴

भगवानदास तिवारी के शब्दों में - “अपने मूल रूप में मीरा के पद ‘भीतरिये’ हैं। उनमें एक सीधे-सादे भक्त-हृदय की निर्विकल्प प्रेम-पुकार है, आत्मा के सनातन नारीत्व का परम पुरुष कृष्ण के प्रति प्रेमोद्गारों का सहज समर्पण है। मीरा की पवित्र आत्मा से निःसृत भक्ति के दिव्य स्रोत का सरल-तरल प्रवाह तथा उनके आत्मोल्लास के पुनीत क्षणों की गहन अनुभूतियों का स्वयं स्फूर्त अनलंकृत अभिव्यंजन है।”¹⁴⁵

विश्वनाथ त्रिपाठी मीराबाई के इन दोनों पक्षों यानी भक्ति-भाव, समर्पण के साथ विद्रोही चेतना को तत्कालीन संदर्भों के साथ जोड़कर देखते हैं- “मीराबाई की कविता भी भक्ति आंदोलन, उसकी विचारधारा और तत्कालीन समाज में नारी स्थिति से उनकी टकराहट का प्रतिफलन है। यह प्रतिफलन उस मानवीयता में प्रकट हुआ है जो अपने समय की धार्मिक साधनाओं के सहारे ही रूपायित हो सकती थी। ...निःसन्देह मीरा का विद्रोह एवं संघर्ष भक्ति, प्रेम, रहस्य की अनुभूति के साथ अभिव्यक्त हुआ है। इन सबका एकीकृत, अखंड रूप हमारे सामने उनकी कविता में प्रकट हुआ है। इसीलिए उनकी कविता को समझने का मतलब है कविता के इन पक्षों को समझना।”¹⁴⁶

मीराबाई का उल्लेख नाभादास ने अपने भक्तमाल में किया है। उन्होंने मात्र एक ही पद में मीरा के भक्ति, जीवन-संघर्ष एवं प्रतिरोधी चेतना सब कुछ को रेखांकित कर दिया है-

“सदृस गोपिका प्रेम प्रगट कलि जुगहिं दिखायो।

निरअंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो।

दुष्टनि दोष बिचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।

बार न बांको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो।

भक्ति निसान बजाय कै काहूँ ते नाहिन लजी।

लोक लाज कुल सृंखला तजि मीरां गिरिधर भजी।”¹⁴⁷

मीराबाई राजसत्ता का खुलकर विरोध करती हैं। वे राणा को संबोधित करते हुए कहती हैं कि मैं तुम्हारे दिशा-निर्देशों पर नहीं चलने वाली हूँ, जो कुछ भी मैं करूँगी वह अपने तरीके से करूँगी क्योंकि तुम्हारे मूल्य सामंती ताने-बाने पर टिके हुए हैं-

“राणो म्हाने या बदनामी लगे मीठी।

कोई निन्दो कोई बिन्दो में चलुंगी चाल अपूठी।”¹⁴⁸

इसके लिए वे बदनामी भी सह सकती हैं और महल तथा उसके सुख-सुविधाओं का परित्याग भी कर सकती हैं-

“महल अटारी हम सब त्यागो।

त्याग्यो थारो बसनो सहरा।”¹⁴⁹

राजसत्ता को मीराबाई जिस रूप में चुनौती देती हैं वह मध्यकाल में अन्यत्र कम देखने को मिलता है-

“राजा रुठ्यां नगरी त्यागां, हरि रुठ्यां कठ जाणा।”¹⁵⁰

अर्थात् राजा नाराज होकर राज्य से ही बाहर कर सकता है लेकिन कृष्ण की भक्ति जीवन से जुड़ी हुई है। मीरा को राणा का देश ठीक नहीं लगता अर्थात् वे सामंती समाज का निषेध करती हैं। वे उन सामंती तत्वों का भी निषेध करती हैं जो राजघराने में एक स्त्री के लिए आवश्यक होता था।

“नहिं सुख भावै थारो देसलडो रंगरूडो।

थारे देसां में राणा साध नहीं छै, लोग बसै सब कूडो।

गहणां गांठी राणा हम सब त्याग्या, त्याग्यो छै बांधन जूडो।

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, वर पायो छै पूरो।”¹⁵¹

उपर्युक्त पंक्ति में यह भी देखने को मिलता है कि भले ही मीरा को राणा का देश या उसका व्यवहार अच्छा न लगे लेकिन वे पति-पत्नी या पारिवारिक संबंधों को नकारती नहीं हैं। अंतिम पंक्ति में अलौकिक सत्ता के प्रति ही सही एक पूर्ण पति की बात करती हैं जहाँ प्रेम और स्वतंत्रता दोनों हैं। प्रेम

और स्वतंत्रता इन दोनों ही मूल्यों के प्रति सामंती समाज निषेधात्मक रवैया अपनाता रहा है। मीराबाई को इसीलिए साधुओं, संतों का समाज अच्छा लगता है जहाँ भक्ति, प्रेम तथा समता है।

ये कृष्ण-भक्त रचनाकार सामंती मूल्यों पर टिके हुए निरंकुश राजतंत्र में जागरूक प्रजा की तरह जनतांत्रिक मूल्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। इन रचनाकारों का मुख्य उद्देश्य भक्ति ही थी बावजूद इसके उनकी कविता राजनैतिक सरोकारों के प्रति सचेत दिखायी पड़ती है।

2.4 संतकाव्य में अभिव्यक्त राज्यव्यवस्था का स्वरूप

2.4.1 राजा और राज्य का स्वरूप

संतों की कविता में केवल अलख, योग और दिवानगी ही नहीं है बल्कि एक सजग ऐतिहासिक चेतना भी है। ये संत प्रश्नाकुलता के कवि हैं और इन सवालों की निर्मिति केवल परलोक की चिंता से नहीं बल्कि खुद के परिवेश और सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आधारों पर हुआ है- “किसी भी देश का किसी भी युग का निष्पक्ष इतिहासकार उस युग का कवि होता है। अपने मन के भावों की अभिव्यक्ति और संप्रेषण के लिए वह जिन काव्यात्मक युक्तियों और साधनों का आश्रय लेता है वह उस युग के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक यथार्थ के ही सूत्र होते हैं।”¹⁵²

कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे। वे लोदी की निरंकुशता तथा उसके पहले के शासकों जैसे महमूद गजनवी इत्यादि के नीतियों से परिचित थे। कबीर ने मुस्लिम आक्रमणों, आक्रांताओं धार्मिक उन्माद, मूर्ति भंजक रूप इन सब कुछ को महसूस किया था। मूर्ति भंजक रूप का चित्रण कबीर के यहाँ देख सकते हैं-

“ढरि गए मंदिर टूटे बंसा, सूके सरवर उड़ि गये हंसा।”¹⁵³

सिकंदर लोदी की धर्मांधता के बारे में अतहर अब्बास रिजवी ने ‘तारीखे शाही’ के हवाले से लिखा है कि- “एक दिन उसने आदेश दिया कि “थानेश्वर जाकर कुर्कक्षेत्र (कुरुक्षेत्र) को मिट्टी से पाट दिया जाय और वह भूमि वहाँ के धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को वजहे मआश में नाप कर दे दी जाय। उस

काल का मलिकुल उलमा उस स्थान पर उपस्थित था। उसने शाहजादे से पूछा, वह क्या है? उसने उत्तर दिया कि, एक हौज है जहाँ 1000,2000 कोस से हिन्दू लोग स्नान के लिए आते हैं।¹⁵⁴

उस प्रतिकूल परिस्थिति में भी कबीर सच को सच की तरह ही कहते हैं। राजा हो या उसकी व्यवस्था उसे अपनी हकीकत का एहसास दिलाते हैं-

“कबीर कहा गरबियौ, चांम लपेटे हडा

हैबर ऊपरि छत्र सिरि, ते भी देबा खंड।”¹⁵⁵

संतों की मूल चिंता जीव और जीवन की सार्थकता में है। उनकी आध्यात्मिक चेतना में हमेशा मुक्ति की तलाश दिखायी पड़ती है, इसलिए वे एक बेगमपुरा सरीखे यूटोपिया का निर्माण करते हैं। अक्सर इन संतों ने सांसारिक शासन व्यवस्था के ऊपर अध्यात्म की आंतरिक व्यवस्था को प्रतिस्थापित किया है। इन्होंने तत्कालीन राजदरबारों के प्रति उपेक्षा भले ही दिखायी हो, लेकिन इनमें राजनैतिक सजगता बराबर बनी रही। इन संतों की रचनाओं में राजदरबारों के प्रति उदासीनता नहीं बल्कि विद्रोह की भावना है। राजदरबारों का स्वरूप कैसा था? इसकी अभिव्यक्ति कबीर के एक पद में देख सकते हैं। यह पद अज्ञात सत्ता के प्रति है जो उनका बादशाह है, लेकिन तत्कालीन राजवैभव का स्वरूप भी इसमें स्पष्ट है-

“नौ ग्रह कोटि ठाढ़े दरबार, धरमराइ पौली प्रतिहार।

कोटि कुबेर जाकै भरें भंडार, लक्ष्मी कोटि करैं सिंगार।

कोटि पाप पुंनि ब्यौहरै, ब्यौहरे, इन्द्र कोटि जाकी सेवा करें।

जगि कोटि जाकै दरबार, गंध्रप कोटि करै जैकार।

बासिग कोटि सेज बिसतरै, पवन कोटि चौबारै फिरै।

सहसवांह के हरे पराण, जरजोधन घाल्यौ खै मान।

बावन कोटि जाके कुटवाल, नगरी नगरी क्षेत्रपाल।”¹⁵⁶

संतों ने राजा के लिए राव, छत्रपति, बादशाह, सुल्तान इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है-

“राजा राणां राव छत्रपति, जरि भये भसम कों कूरौ रे।”¹⁵⁷

राजा, राव जो भी होते थे वे दिल्ली के सुल्तान के अधीन होते थे। उसकी शक्ति और आधिपत्य इन सब पर होता था-

“गगन मंडल पर लसकरै, सो सुलितान छत्र सिर धरै।”¹⁵⁸

कबीर ने राजाओं के दरबार का चित्रण किया है जहाँ पर घोड़े, हाथी सब कुछ हैं। सिंहासन के ऊपर छत्र लगा हुआ है। चँवर डुल रही है। सुल्तान के समक्ष गायन वादन चल रहा है-

“हसती घोड़ा गांव गढ़ गूडर, कनडापा इक आगी।

छत्र सिंघासन चंवर दुलंता, एग रंग बहु आगी।”¹⁵⁹

कबीर उन बादशाहों को सचेत करते हुए कहते हैं कि नगाड़े, शहनाई इत्यादि मृत्युरूपी काल से नहीं बचा सकते। इन भोग विलास के महलों में एक दिन सन्नाटा फैल जायेगा और उस पर कौवे बैठेंगे-

“सातो सबद जु बाजते, घरि घरि होते रागा।

ते मंदिर खाली पड़ें, वैसण लागे कागा।”¹⁶⁰

कबीर तत्कालीन राजनैतिक अव्यवस्था को बार-बार समय और काल का हवाला देते हैं तथा राजा, राव सबको सचेत करते हैं-

“इक दिन ऐसा होइगा, सब सू पड़ै बिछोइ।

राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ।”¹⁶¹

राजा की जो भौतिक विलासिता है उसे संत अपने ज्ञान, भक्ति के आधार पर नश्वर होने का एहसास दिलाते हैं। सुंदरदास कहते हैं कि-

“झूठे हाथी झूठे घोरा, झूठा आगे झूठा दौरा।

झूठा बांधा झूठा छोरा, झूठा राजा रानी है।”¹⁶²

यह तत्कालीन समाज का सच है जहाँ पर राजाओं का लक्ष्य अपने साम्राज्य का विस्तार करना और भोग-विलास में डूबे रहना था। सत्य की पक्षधरता और नैतिक जीवन मूल्यों का कोई मतलब नहीं

रह गया था। मध्यकालीन सारे संत काल की व्याख्या करते हैं। यह काल उनका समसामयिक भी है और जीवन की पूर्णरूपेण व्याख्या के साथ दीर्घकालिक भी-

“झूठ यूं बंध्यो है जाल, ताही तें ग्रसत काल।

काल बिकराल ब्याल, सबही कूं खात है।”¹⁶³

संतों की चिंता राजसत्ता में बादशाह को लेकर भी है। ये संत विदेशी हमलों की खिलाफत करते हैं तथा बादशाह की योग्यता पर सवाल भी खड़ा करते हैं-

“देस देसही के लोग, आय के हुजूर होई।

बैठि करि तखत कहावै सुलतान है।”¹⁶⁴

इन संतों में स्वराज की चिंता दिखायी पड़ती है क्योंकि स्वराज्य के बिना सुख और शांति मुश्किल है। रैदास कहते हैं-

“रैदास मनुष करि बसन कूं, सुख कर है दुइ ठांवा।

इक सुख है स्वराज मंहि दूसर मरघट गांवा।”¹⁶⁵

कबीर ने तत्कालीन शासकों को लोभी बताया है क्योंकि उनके कर्मचारी का कार्य केवल ब्याज और कर वसूलना है, जनता के सुख-दुख का ध्यान रखना नहीं-

“कलि का स्वामी लोभिया। मनसा धरी बधाइ।

दैहिं पईसा ब्याज कौं, लेखा करतां जाइ।”¹⁶⁶

राजा किसी की कुछ नहीं सुनते। वे अपने मन के हैं। वे अहंकारी और लोभी हैं-

“अपने अपने रंन के राजा, मानत नाहीं कोइ।

अति अभिमान लोभ के घाले, अपनपौ खोइ।”¹⁶⁷

कबीर महलों के अंदर की स्थिति से भी वाकिफ थे। हरम या अन्तःपुर का भी उल्लेख करते हैं। वे समकालीन शासकों एवं सामंतों की विलासप्रियता से बखूबी परिचित थे-

“हस्ती घोड़ा बैल बांहणी, संग्रह किया घणेर।

भीतरि बीबी हरम महल मैं, साल मिया का डेरा।”¹⁶⁸

संत कवि राजतंत्र और धर्मतंत्र दोनों पर प्रहार करते हैं। कबीर कहते हैं कि-

“धन संचते राजा मूये अरु ले कंचन भारी।

बेद पढ़े पढ़े पंडित मूये, रुप भूले मुई नारी।”¹⁶⁹

कबीर कहते हैं कि सामंतों और पुरोहितों की नीतियाँ आम आदमी के काम आने वाली नहीं हैं-

“कबीर तासै प्रीति करि जाको ठाकुर राम।

पंडित राजे भूपति आवहि कौने काम।”¹⁷⁰

कबीर ने राम के लिए ठाकुर शब्द का प्रयोग किया है। कबीर भी अन्य कवियों की तरह एक समतामूलक राज्य का यूटोपिया गढ़ते हैं जिस देश के राजा राम हैं। तत्कालीन राजनैतिक विसंगतियों के समानान्तर सारे भक्त एवं संत कवि समतामूलक समाज की कल्पना करते हैं। कबीर कहते हैं-

“मेरे डंड इक छाजा, तहाँ बसै इक राजा।

तिस राजा सूँ चित लाऊंगा, तो मैं बहुरिन भौजलि आऊंगा।”¹⁷¹

इसके समानान्तर वे तत्कालीन राज्य का चित्रण करते हैं तथा राजा को सावधान करते हैं-

“दिवस चारि की है पतिसाही, ज्यूं बनि हरिपल पात।

राजा भयौ गाँव सौ पाये, टका लाख दस ब्राता।”¹⁷²

2.4.2 कर्मचारीगण

संतों के यहाँ ग्रामीण प्रशासन एवं उसके पदाधिकारियों के बारे में कुछ संकेत मिलते हैं जो प्रजा के अनुकूल व्यवहार नहीं करते थे। कबीर के शब्दों में गाँव का शासक ठाकुर या महतो कहा जाता था उसके अधीन एक पटवारी होता था जो खेती का ब्यौरा बही में दर्ज करता था। वह कायस्थ या पटवारी झूठी बही भी लिखता था जिसका जिक्र सूरदास ने किया है। आम जन की हालत यह थी कि वह जाये तो कहाँ जाये, इसलिए कबीर गाँव छोड़ने की ही बात कह डालते हैं। दीवान की हालत यह है कि फरियाद लेकर जाने पर बिना बात सुने-समझे ही पीटता है-

“अब न बसूँ इहि गाँइ गुसाँई, तेरे नेवगी खरे सयांने हो रामा।

गांड़ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।

जोरि जेवरी खेती पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो राम।

खोटी महतौ बिकट बलाही, सिर कसदम का पारै।

बुरा दिवांन दादि नहिं लागै, इक बांधे इक मारै हो राम।¹⁷³

उपर्युक्त पंक्ति में कबीर ने काइथ, महतो, दीवान जैसे पदाधिकारियों का वर्णन किया है। कबीर ने ‘काइथ’ शब्द पटवारी के लिए प्रयोग किया है- “कबीर के युग में पटवारी कृषकों के भूमि संबंधी अभिलेख तैयार करता था। यह अभिलेख कागज खाम अथवा हिंदवी और स्थानीय भाषा में बही कहे जाते थे। वास्तव में पटवारी शब्द पट्टा से संबंध रखता है। कबीर ने पटवारी के स्थान पर ‘काइथ’ का प्रयोग किया है। यह निर्विवाद है कि अठारहवीं तथा उन्नीसवीं सदी में उत्तरी भारत में मालगुजारी विभागों में कार्यरत पटवारियों में कायस्थों की पर्याप्त संख्या थी। मध्यकालीन ऐतिहासिक स्रोतों में पटवारी के लिए काइथ अथवा कायस्थ का प्रयोग कहीं नहीं मिलता। कबीर ने अपने दो दोहों में ‘काइथ कागद काढ़िया’ प्रयोग किया है अर्थात् कायस्थ ने कागज निकाला। ... गुप्तकाल में ‘पुष्टपाल’ भूमि संबंधी अभिलेखों के संरक्षक और प्रभारी होते थे तथा इन अभिलेखों को तैयार ‘कायस्थ’ नामक पदाधिकारी करता था।¹⁷⁴

ऐसा नहीं कि कबीर ने केवल काइथ शब्द का ही प्रयोग किया है, उन्होंने पटवारी शब्द का भी प्रयोग किया है जो जमीन का लेखा-जोखा ठीक नहीं करता है-

“जिमि नाहीं मैं किसी की बोई ऐसा देव दुखाला।

हरि के लोगा मोकौ नीति डसै पटवारी।

डोरी पूरी मापहि नाही बहु बिष्टाला लेही।¹⁷⁵

नगर की सुरक्षा के लिए कोतवाल नियुक्त होते थे। उसी के हाथ में नगर की शासन-व्यवस्था और शांति की जिम्मेदारी होती थी, लेकिन उसके व्यवहार जनता के प्रतिकूल होते थे-

“पहराइत घर मूसो साह को रच्छा करने लागो चोर।

कोटवाल काठों करि बांध्यो, छूटै नही सांझ अरु भोर।¹⁷⁶

तत्कालीन राज्य व्यवस्था की इसी विडम्बना को संत कवि उजागर करते हैं। संपूर्ण राज्य कई छोटे-छोटे सूबों में बँटा होता था, जिसके शासक को 'सूबेदार' या 'सिकदार' कहा जाता था। यह प्रांतीय शासन केन्द्र के अधीन होता था जिसका सम्राट बादशाह या सुल्तान था। दीवान बादशाह का प्रतिनिधि होता था। इन सारे पदाधिकारियों एवं उनके प्रशासनिक चरित्रों को सुन्दरदास ने क्रमशः रेखांकित किया है-

“पाजी पेट काज, कोटवाल के अधीन होइ।

कोटवाल सो तो, सिकदार आगे दीन है।

सिकदार दीवान के, पीछे लग्यौ डोलै पुनि।

दीवानहु जाय पातसाह आगे लीन है।

सुन्दर कहत प्रभु, क्यूँही नहीं भरे पेट।

एक पेट काज एक एक के अधीन है।”¹⁷⁷

सुन्दरदास ने इन पदाधिकारियों की निरंकुशता, अमानवीयता को भूख की समस्या से जोड़ कर देखा है। सुन्दरदास मनुष्य की मूलभूत जरूरतों पर इन सभी का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं। समाज की इस भयावहता को तुलसीदास ने कभी अपनी आँखों से देखा था, तभी तो पेट के लिए लोग बेटा-बेटी को बेचते हुए दिखायी पड़ते हैं। सुन्दरदास जी कहते हैं कि कोई छोटा हो या बड़ा पेट के अधीन सब लोग हैं-

“पेटही के बस रंक, पेटही के बस राव।

पेटही के बस और, खान सुलतान है।”¹⁷⁸

इसीलिए ये संत बार-बार इस अनीतिपूर्वक किए गए राजनीति से सुल्तान को सचेत करते हैं और बताते हैं कि जिस प्रकार भूख की समस्या सबकी है इसमें कोई छोटा या बड़ा नहीं होता उसी प्रकार मृत्यु भी सबकी तय है, यानी कहीं न कहीं तत्कालीन समय में एक जागरूक मनुष्य की तरह ये कवि राजनैतिक चेतना पैदा कर रहे थे-

“कबीर थोड़ा जीवणा माड़े बहुत मंडावा।

सबही ऊभा-मेलिह गया, राव रंक सुलिताना।”¹⁷⁹

कबीर ने दफ्तर का भी उल्लेख किया है, इससे ऐसा जान पड़ता है कि शासन व्यवस्था को ठीक से संचालित करने के लिए दफ्तर होते थे जहाँ पर शासन से संबंधित कागजात रहा करते थे-

“धर्मराय का दफ्तर सोध्या बाकी रिज मन काई।”¹⁸⁰

कबीर ने न्याय व्यवस्था के लिए ‘काजी’ और ‘मुंशफ’ दो लोगों का जिक्र किया है। तत्कालीन ‘न्याय’ का प्रतिनिधि अधिकारी ‘काजी’ होता था। सुल्तान अपने दरबार में से योग्य मौलवी को काजी पद पर नियुक्त करता था। ऐसा माना जाता है कि काजी, न्याय धार्मिक आधार पर करता था, लेकिन कबीर ने काजी को तरफदारी करने वाला बताया है। वह उचित न्याय नहीं करता था-

“काजी तै कौन कतेब बखानी।

पढ़त गुनत ऐसे सब मारे किनहु खबरु न जानी।”¹⁸¹

काजी धार्मिक कानून के अनुसार न्याय करने का ढोंग करता था। काजी के इस शरीअत वाले न्याय व्यवस्था पर कबीर तीव्र प्रहार करते हैं-

“यहु सब झूठी बंदगी, बरियां पंच निवाज।

साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज।”¹⁸²

जमीन-जायदाद से संबंधित मामलों का न्याय मुंशफ करता था। कबीर ने उसे घूस लेने वाला बताया है

“नव डाडी दस मुंसफ धावहि रहयति बसन न देही।

डोरी पूरी मापहि नाही बहु बिष्टाला लेही।”¹⁸³

उपर्युक्त सारे संदर्भों से पता चलता है कि संतों का राजनैतिक चिंतन यथास्थितिवादी नहीं है। संतों के यहाँ जिस प्रकार सामाजिक विसंगतियों के खिलाफ विद्रोह दिखायी पड़ता है, उसी प्रकार राजनैतिक चरित्रों की असलियत का पर्दाफाश और उसका विरोध दिखायी पड़ता है। ये संत जीवन तथा काल के विभिन्न संदर्भों के सहारे एक सकारात्मक राजनैतिक चेतना पैदा कर रहे थे।

2.5 सूफी काव्य या प्रेम काव्य में अभिव्यक्त राज्यव्यवस्था

2.5.1 राजा और राज्य का स्वरूप

जायसी और अन्य सूफी कवि प्रेम, विरह और मनुष्य के जीवन के उतार-चढ़ाव को राजनैतिक ताने-बाने के इर्द-गिर्द ही बुनते हैं, जहाँ लोक जीवन का स्थानीय गंध, मानवीय जीवन की विडम्बना, युद्ध और सामंती समाज सब कुछ मौजूद है। जायसी की महत्ता इस बात में है कि वे तत्कालीन राज-समाज का चित्रण तत्कालीन चरित्रों के माध्यम से या तत्कालीन मुहावरे में करते हैं- “जायसी के माध्यम से हिंदी साहित्य ने न सिर्फ अपने युग की, बल्कि युगों के भीतर कड़कती हुई मानवीय विषाद की तसवीर देखी जिसमें निष्कलंक आदर्श भी हैं और बहुत कड़वे यथार्थ भी हैं, झिलमिलाती यूटोपिया भी है और रिश्वतखोरी पर चलते हुए कारागार भी हैं, सत और साका भी है और छल से भरा हुआ विध्वंसकारी राजहठ भी है। इस कवि की निर्मलता इसमें नहीं है कि जायसी सिर्फ चुनी हुई निष्कलंक चीजें देखते हैं, बल्कि इसमें है कि अच्छा-बुरा जो कुछ भी है, अपनी विविधता के साथ संपूर्ण परिदृश्य हो गया है। ... सूरदास और तुलसीदास ने निर्मल छवियों को अपने युग से बहुत दूर, अपने अंतर्मन में अवस्थित त्रेता और द्वापर के मिथकों में देखा।”¹⁸⁴

जायसी की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थितियों से पता चलता है कि सुल्तान के अतिरिक्त और छोटे-छोटे राज्य होते थे; जिसका संचालन वहाँ के राजा और सामंत करते थे। मध्यकाल में लगभग 16वीं शताब्दी तक सुल्तान या बादशाह और इन हिन्दू राजाओं के बीच सत्ता का संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष को हम पदमावत में देख सकते हैं जहाँ अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान है और रतनसेन चित्तौड़गढ़ का हिन्दू राजा। जायसी मुस्लिम शासकों में मुख्य रूप से अलाउद्दीन तथा शेरशाह सूरी का उल्लेख करते हैं तथा साथ ही हिन्दू-मुस्लिम लड़ाई का भी विस्तृत उल्लेख करते हैं-

“सेरसाहि दिल्ली सुलतानू। चारिउ खंड तपइ जस भानू।”¹⁸⁵

“अलाउदीं दिल्ली सुलतानू। राघौं चेतन कीन्ह बखानू।

सुना साहि गढ़ छेका आई। हिन्दू तुरकहिं भई लराई।”¹⁸⁶

सुल्तान का प्रभाव इतना अधिक था कि चारों तरफ के राजा, अमीर, सामंत उसके दरबार में आकर जोहार करते थे-

“चहुं खंड के राजा आवहिं। होइ अस मर्द जोहारि न पावहिं।”¹⁸⁷

राजा का ऐश्वर्य, वैभव, प्रताप सर्वविदित है-

“सुना जो हम ढीली सुलतानू। देखा आजु तपै जस भानू।”¹⁸⁸

जायसी ने सुल्तान के लिए ढिल्ली सुल्तान, बादशाह, पुहुमिपति, पातसाह इत्यादि संज्ञाओं का प्रयोग किया है-

“पातसाहि पुहुमीपति राजा। सनमुख होइ न हमीरहिं छाजा।”¹⁸⁹

जायसी ने चक्रवर्ती राजाओं में सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन का वर्णन किया है; जिसका साम्राज्य रावण के साम्राज्य से भी बड़ा है। वह छत्रपतियों के सिंहासनों का अधिपति है। वह नरपतियों में नरेन्द्र तथा भूपतियों में इन्द्र के समान है। वह ऐसा चक्रवर्ती राजा है कि चारों तरफ के लोग उसका भय मानते हैं और उसके सामने मस्तक झुकाते हैं-

“गंध्रपसेन सुगंध नरेसू। सो राजा यह ताकर देसू।

लंका सुना जो रावन राजू। तेहु चाहि बड़ ताकर साजू।

अइस चक्कवै राजा चहुं खंड भै होइ।

सबै आइ सिर नावहिं सरबरि करै न कोई।”¹⁹⁰

जायसी के वीर हिन्दू शासकों में सबसे प्रतापी चित्तौड़गढ़ के राजा रतनसेन हैं। उनकी शक्ति का प्रमाण इसी तथ्य से मिलता है कि उन्हें अलाउद्दीन जैसा सुल्तान भी परास्त नहीं कर सका। कई महीने तक युद्ध करने के बाद रतनसेन के समक्ष संधि का प्रस्ताव प्रस्तुत करना पड़ा। रतनसेन के साथ गंधर्वसेन जैसे राजा तथा गोरा और बादल जैसे लड़ाकू थे इसलिए वह और भी शक्तिशाली था। उसके अधीन बहुत सारे कुँवर, सामन्त तथा छोटे-छोटे राजा थे। जायसी ने प्रायः रतनसेन को राजा, क्षत्रिय, भूपाल इत्यादि शब्दों से संबोधित किया है। राजा के भौतिक लक्षणों में सर्वप्रथम राजतिलक था-

“तहां चित्र गढ़ चितउर चित्रसेनि कर राजा।

टीका दीन्ह पुत्र कहं आपु लीन्ह सिव साजा।”¹⁹¹

उसके बाद राजा सिंहासन पर बैठता था तथा उसे छत्र से सुशोभित किया जाता था। उसके सिर पर मुकुट विराजता था तथा द्वार पर नित्य नौबत बजती थी। ध्वजा धारण करना तथा टकसाल में सिक्का ढालना भी राजकीयता का प्रमाण माना जाता था-

“मुकुट बंध सब बैठे राजा। दर निसान निति जेन्ह के बाजा।

रुपवंत मनि दिपे लिलाटा। मांथे छात बैठ सब पाटा।”¹⁹²

“सोन जरै जेहि की टकसारा। बारह बानी परहिं दिनारा।”¹⁹³

जायसी राजकीय वैभव-विलास में महल का वर्णन करते हैं जो स्वर्ग के समान प्रतीत होता है-

“सात खंड सातौ कबिलासा। का बरनों जस उत्तिम बासा।

हीरा ईंटी कपूर गिलावा। मलयगिरि चंदन सब लावा।”¹⁹⁴

जायसी ने गढ़ का भी विस्तार से वर्णन किया है जो तत्कालीन समय में सुरक्षा के साथ भोग विलास का भी केन्द्र था-

“सात खंड ऊपर कबिलासू। तहं सोवनारि सेज सुख बासू।”¹⁹⁵

जायसी राजा को ईश्वर प्रदत्त शक्ति के रूप में देखते हैं, तथा यह बताते हैं कि ईश्वर ने राजा के साथ उसके लिए भोग-विलास की वस्तुओं को भी बनाया। ईश्वर की कृपा से ही कोई ठाकुर है तो कोई दास-

“कीन्हेसि राजा भूजहिं राजू। कीन्हेसि हस्ति घोर तिन्ह साजू।

कीन्हेसि तिन्ह कंह बहुत बेरासू। कीन्हेसि कोइ ठाकुर कोइ दासू।”¹⁹⁶

उपर्युक्त पद में जायसी का चिंतन राजा के संदर्भ में ईश्वरवादी है। इसमें भाग्यवाद की झलक भी है। एक जगह जायसी ने ईश्वर को सम्राट के रूप में घोषित करते हुए बताया है कि इस सृष्टि में आदि से अन्त तक वही राज्य करता है। वह जब चाहे जिसको राज्य दे और छीन सकता है-

“आदि सोइ बरनों बड़ राजा। आदिहुं अंत राज जेहि छाजा।

सदा सरबदा राज करेई। औ जेहिं चहइ राज तेहिं देई।”¹⁹⁷

जायसी दिल्ली के सुल्तान का एक शक्तिशाली, ऐश्वर्ययुक्त रेखाचित्र खींचते हैं जो चारों तरफ सूर्य की तरह तप रहा है। उसे मुहम्मद का ऐसा आशीर्वाद प्राप्त है कि वह लोक विमुख हो गया है, जग उस बादशाह का मोहताज है बादशाह जग का नहीं-

“दीन असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज।

पातसाह तुम्ह जग के जग तुम्हार मोहताज।”¹⁹⁸

जायसी ने पद्मावत के ‘स्तुति खण्ड’ में एक आदर्श राज्य का स्वरूप प्रस्तुत किया है; जिसे उनका यूटोपिया भी कह सकते हैं और तत्कालीन शासक की प्रशंसा भी। वे एक ऐसे राज्य की कल्पना करते हैं जहाँ लोग रास्ते में सोना उछालते हुए चलते हैं। गाय और शेर एक ही घाट पर पानी पीते हैं। राजा धर्मसम्मत न्याय करता है। उनके दर्शन से पाप मिट जाते हैं-

“परी नाथ कोइ छुअइ ना पारा। मारग मानुस सोन उछारा।

गउव सिंघ रेंगहि एक बाटा। द्अउ पानि पिअहिं एक घाटा।”¹⁹⁹

“पाप जाइ जौं दरसन दीसा। जग जो हारि कइ देइ असीसा।”²⁰⁰

यदि जायसी या सूफियों की प्रतिरोधी चेतना को देखें तो पायेंगे कि प्रेम जैसे मूल्य को भी प्रतिरोधी मूल्य के रूप में चित्रित किया गया है जो सामंती व्यवस्था को तोड़ने में सहायक है। जायसी राजा को सचेत करते हुए कहते हैं कि प्रेम एक ऐसा मूल्य है जिसे दरबारी संस्कृति और उसकी भोगवादी मानसिकता के आधार पर नहीं पाया जा सकता-

“सुअैं कहा मन समुझहु राजा। करत पिरीत कठिन है काजा।”²⁰¹

मध्यकालीन सूफी संतों को लेकर विद्वानों का अलग-अलग मत है। कुछ विद्वानों का मानना है कि सूफियों के संबंध राजसत्ता से काफी अच्छे रहे हैं और कुछ विद्वानों को इन सूफियों में राजसत्ता के प्रतिरोधी मूल्य दिखायी पड़ते हैं। जायसी पर विचार करते हुए विजयदेव नारायण साही अमीर खुसरो पर ऐतिहासिक साक्ष्यों का हवाला देते हुए लिखते हैं कि- “खुसरो ने यह भी कमाल कर दिखलाया कि दिल्ली की गद्दी पर एक के बाद दूसरे सुल्तान, प्रायः पहले सुल्तान को कत्ल करके बैठे, लेकिन सरकारों की इस हिंसात्मक उठा-पटक में खुसरो बराबर राजकवि बने रहे और तरक्की भी करते

रहे। ... हिन्दू-तुर्क सत्ता-संघर्ष के बारे में जो संकुचित दृष्टि खुसरो के 'खजायनुल-फतूह' में मिलती है, वह बादशाहों और मुल्लाओं को खुश करने वाली तो थी ही, निजामुद्दीन औलिया के मठ के लिए भी लाभदायक और स्वीकार्य थी।',²⁰²

दूसरी तरफ कुछ शोध ग्रंथों से पता चलता है कि कुछ सूफियों ने सत्ता, बादशाह और सामंतों से दूरी बनाये रखी- “कुतुबुद्दीन बख्तियार के उत्तराधिकारी ख्वाजा फरीदुद्दीन मसूद गजशंकर (बाबा फरीद) थे। वह मोह माया से अपने को दूर रखते थे। फना से इन्हें कोई लगाव नहीं था और यश की इन्हें कोई कामना नहीं थी। वे धनवानों की संगति को घृणा की दृष्टि से देखते थे। ...बाबा फरीद ने अपने प्रधान शिष्य शेख निजामुद्दीन औलिया को संबोधित करते हुए कहा था कि सूफी धर्म का प्रमुख लक्ष्य हृदय को एकाग्र करना है, जो जीविकोपार्जन के निषिद्ध साधनों और बादशाहों के संसर्ग से बचने से ही प्राप्त हो सकता है।”,²⁰³

बाबा फरीद राजा और राजसत्ता का खुला विरोध करते हुए जागरण का संदेश देते हैं-

“पासि दमामे छत सिरि मेरी सडो रडा।

जाइ सुते जीराण महि थीए अतीमा गडा।”,²⁰⁴

अर्थात् जिनके द्वार पर भेरी, ढोल और नगाड़े बजते थे। सिर पर छत्र झूलते थे। जिनकी प्रशंसा में चारण कविताएँ करते थे। वे भी अंत में अनाथों की तरह कब्रिस्तान में दब गए। इसी प्रकार वे सामंतवाद पर भी प्रहार करते हैं-

“फरीदा मनु मैदानु करि टोए टिबे लाहि।

अगै मूलि न आवसि दोजक संदी माहि।”,²⁰⁵

अर्थात् तुम अपने मन रूपी मैदान से गढ़ों एवं टीलों को साफ कर इसे समतल कर लो। यहाँ गढ़ों एवं टीलों का प्रतीकात्मक अर्थ सामंती व्यवस्था से भी है। उपर्युक्त पद तत्कालीन राजसत्ता के प्रतिरोध में है लेकिन सूफियों के यहाँ कुछ पद ऐसे भी प्राप्त होते हैं जहाँ तत्कालीन राजा की व्यापकता एवं उसके वैभव-विलास की बखान है। जायसी 'स्तुति खण्ड' में बादशाह का गुणगान करते हैं। उसकी दानशीलता, न्यायप्रियता इत्यादि की दुहाई देते हैं लेकिन महत्वपूर्ण बात यह है कि

पदमावत की पूरी कथा महानता की जगह जीवन के उतार-चढ़ाव को रेखांकित करती है, जिसमें राजाओं की जय-पराजय भी है और नागमती का रानीपन से एक साधारण गृहिणी के रूप में विलाप भी- “जायसी का प्रस्थान बिंदु न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिंता का मुख्य ध्येय मनुष्य है- मनुष्य, जैसा कि वह सामान्य जिंदगी में उठता बैठता है, सीखता है, प्रेम करता है, गृहस्थी चलाता है, बटोर करने के लिए नारे लगाता है और, इस सबके बाद अपनी अपर्याप्तता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो जाता है। अपनी मूल प्रकृति में पदमावत एक त्रासदी है।”,²⁰⁶

जायसी इस कथा का अन्त राजनैतिक भोग-विलास, वैभव, सम्पदा के समानान्तर जीवन के अटूट सत्य के साथ करते हैं -

“छार उठाइ लीन्हि एक मूठी। दीन्हि उड़ाइ पिरिथमी झूठी।”,²⁰⁷

2.5.2 कर्मचारीगण

जायसी ने राजकाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए अमात्य, रावत, सामन्त, राजपंडित, दूत इत्यादि का उल्लेख किया है। पदमावत में एक खण्ड का नाम ही ‘गंधर्वसेन मंत्री खण्ड’ है जिसमें मंत्रियों के योगदान पर प्रकाश डाला गया है। मंत्री राजा को राजनीति के अनुकूल परामर्श देते हैं -

“जंबुक कहं जौं चढ़िअै राजा। सिंघ साज कै चढ़िअ तौ छाजा।”,²⁰⁸

जायसी ने दूतों का उल्लेख किया है। राजा के दूतों का कार्य शत्रु के समक्ष राजा के पक्ष अथवा संदेश को प्रस्तुत करना और राजा की नीति के अनुसार संधि वार्ता को अग्रसर करना होता था। राजा गंधर्वसेन ने भिखारियों को गढ़ से हटाने के लिए दो व्यक्तियों को दूत रूप में भेजा था। जब जोगी रतनसेन ने राजकुमारी को भिक्षा में माँगा तो वे क्रोधित हो गए। उन्होंने योगियों को राजा गंधर्वसेन की अपराजेय शक्ति का परिचय दिया था। राजा ने कन्या की आशा न करने की बात समझायी। जायसी ने दूत शब्द के लिए ‘बसिठ’ शब्द का प्रयोग किया है -

“उतरि बसिठ दुइ आइ जोहारे। कै तुम्ह जोगी कै बनिजारे।”,²⁰⁹

‘बादशाह-चढ़ाई खण्ड’ में अलाउद्दीन सुल्तान का दूत ‘सरजा’ तथा राजा रतनसेन का संवाद है, जिसमें ‘सरजा’ राजा रतनसेन को साम, दाम द्वारा अलाउद्दीन से युद्ध न करने तथा रानी पद्मावती को सौंपने के लिए कहता है -

“राजा रिसि न होहि अस राता। सुनि होइ जूड़ न जरि कहु बाता।

आवा हों सो मरै कहं आवा। पातसाहि अस जानि पठावा।”²¹⁰

किन्तु इस प्रस्ताव के फलस्वरूप जब राजा ने युद्ध का निमंत्रण दिया और दुर्ग नहीं टूटा तो अलाउद्दीन ने पुनः सरजा को संधि का प्रस्ताव लेकर भेजा तथा चन्देरी का किला देने को कहा। सरजा छलपूर्वक शपथ ग्रहण करके राजा को संधि के लिए तैयार कर लेता है। यानी मध्यकाल में केवल साम्राज्य-विस्तार के लिए नहीं बल्कि रूपवती रानियों के लिए भी युद्ध होते थे। इन युद्धों में संधि का प्रस्ताव भी भेजा जाता था जो राजनैतिक और कूटनीतिक कारणों से महत्वपूर्ण होता था। दूत सूचना के आदान-प्रदान के साथ ही राज्य या गढ़ की सुरक्षा से जुड़ी हर खबर को मंत्री और राजा तक पहुँचाते थे। रतनसेन को अलाउद्दीन के आक्रमण की सूचना सबसे पहले दूत ने ही दी -

“दूतन्ह आइ कहा जहं राजा। चढ़ा तुरुक आवै दर साजा।”²¹¹

विशिष्ट कार्यों के लिए दूतियों को भी नियुक्त किया जाता था। देवपाल की दूती मंत्र पढ़कर जादू करने की कला में अत्यंत पारंगत थी -

“दूती एक बिरिध ओहि ठाऊं। बांभनि जाति कमोदिनी नांऊ।”²¹²

राजसभा में राजपंडित या पुरोहित नियुक्त किए जाते थे; जिनका कार्य धर्मशास्त्र के अनुसार न्याय करना था। जोगियों द्वारा राज-भंडार को लूटने के लिए सेंध लगाने के अभियोग में उन्होंने प्राणदण्ड सुनिश्चित किया था -

“राजें सुना जोगि गढ़ चढ़ै। पूछै पास पंडित जो पढ़ै।

पंथ न चलहिं बेद जस लिखे। सरग जाइ सूरी चढ़ि सिखे।”²¹³

हीरामन सुआ भी ऐसा ही वेदशास्त्रज्ञ पंडित था जिसका सम्मान रतनसेन की दृष्टि में सर्वाधिक था। रतनसेन के दरबार में राघवचेतन जैसे पंडित भी थे जो पद्मावती की रूपचर्चा अलाउद्दीन से जाकर

करते हैं। राजा की स्तुति, राजाज्ञा आदि की घोषणा करने के लिए भाट नियुक्त किए जाते थे। ये भाट राजाओं के वंशादि का परिचय देने में निपुण होते थे। राजा के हित में इनके कटु वचन भी क्षम्य होते थे, वैसे तो इनका अधिकांश समय राजा की प्रशंसा में ही जाता था -

“भांट आहि ईसुर कै कला। राजा सब राखहिं अगला।

भांट मीचु आपुनि पै दीसा। तासौं कौन करै रस रीसा।”²¹⁴

इसके अतिरिक्त जायसी ने प्रतिहारी, मशालची, युद्ध में वाद्ययंत्र बजाने वाले ढाढ़ी, घड़ियाली तथा दास, दासियों का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त सभी बातों से पता चलता है कि जायसी की मुख्य चिंता मनुष्यता को लेकर है जहाँ मानवीय जीवन के उतार-चढ़ाव, राजनैतिक हलचलें, युद्ध इत्यादि सब दिखायी पड़ता है। जायसी ‘स्तुति खण्ड’ में जिस राजा की प्रशंसा करते हैं, अंत में उसी राजा को एक मुट्ठी राख के माध्यम से जागरण का संदेश भी देते हैं। मध्यकाल का पूरा राजनैतिक वातावरण सामंती है; जहाँ पर युद्ध एक आम प्रवृत्ति है जिसके केन्द्र में स्त्री और साम्राज्य का विस्तार है। इस साम्राज्य में प्रजा की चिंता नगण्य है। राजा की सामंती मानसिकता ही तत्कालीन समय के नियम और कानून हैं। भक्त कवि जाने-अनजाने में कभी-कभी इस सामंती मनोदशा और इस राज-समाज की प्रशंसा और पुनर्पाठ भी करते हैं, लेकिन वे प्रजा के हितों को दाँव पर लगाकर ऐसा नहीं करते। वे भक्त कवि इन सामंती मूल्यों के समानान्तर भक्ति और प्रेम जैसे मूल्यों की स्थापना करते हैं जहाँ समानता और स्वतंत्रता है। वे कवि इन तत्कालीन राजाओं के समानान्तर अपना लोकनायक भी तैयार करते हैं जो प्रजा के दुख-सुख का सहभागी है। राज-समाज की निरंकुशता के बाजवूद भी ये कवि उन राजाओं, सामंतों को जागरण का संदेश देना नहीं भूलते। वे बार-बार जीवन की क्षणिकता, मृत्युबोध आदि के माध्यम से उनकी अनैतिकता को रोकने का प्रयास करते हैं।

संदर्भ

- ¹ मुखिया, हरबंस. मध्यकालीन भारत : नए आयाम, पृ.सं. 58
- ² बसु, नगेन्द्रनाथ. सं. इनसाइक्लोपीडिया इंडिका. खण्ड - 19, पृ.सं. 370
- ³ वही. खण्ड - 22, पृ.सं. 428
- ⁴ वही. खण्ड - 19, पृ.सं. 371
- ⁵ तुलसीदास. दोहावली, पृ.सं. 142
- ⁶ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 134
- ⁷ वही. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 451
- ⁸ वही. श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ.सं. 595
- ⁹ अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 205
- ¹⁰ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, पृ.सं. 631
- ¹¹ सम्पूर्णानंद. समाजवाद, पृ.सं. 223-24-25
- ¹² अशरफ, के. एम. हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ, पृ.सं. 30
- ¹³ सांकृत्यन, राहुल. अकबर, पृ.सं. 251-52-53
- ¹⁴ शौरी, अरुण. फतवे, उलेमा और उनकी दुनिया, पृ.सं. 10
- ¹⁵ मोरलैंड, डब्ल्यू. एच. अकबर की मृत्यु के समय का भारत, पृ.सं. 25
- ¹⁶ अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 201
- ¹⁷ वही, पृ.सं. 203
- ¹⁸ फजल, अबुल. आईने अकबरी, पृ.सं. 20
- ¹⁹ शर्मा, रामशरण. भारतीय सामंतवाद, पृ.सं. 466
- ²⁰ मुखिया, हरबंस. मध्यकालीन भारत नए आयाम, पृ.सं. 91
- ²¹ सांकृत्यन, राहुल. मानव समाज, पृ.सं. 21
- ²² गुप्त, विजय. सं. साम्य - 26 (पत्रिका), आलेख-रामविलास शर्मा और इतिहास की शव साधना, पृ.सं. 14
- ²³ तुलसीदास. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 152
- ²⁴ मेघ, रमेश कुंतल. तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ.सं. 65-66
- ²⁵ तुलसीदास. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 108
- ²⁶ त्रिपाठी, हरिहरनाथ. प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृ.सं. 85
- ²⁷ तुलसीदास. कवितावली, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 112
- ²⁸ मेघ, रमेश कुंतल. तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ.सं. 63
- ²⁹ युगेश्वर. तुलसी का प्रतिपक्ष, पृ.सं. 37-38
- ³⁰ मदान, इंद्रनाथ. तुलसीदास: चिन्तन और कला, पृ.सं. 23
- ³¹ मेघ, रमेश कुंतल. तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ.सं. 85
- ³² दिनकर, रामधारी सिंह. संस्कृति के चार अध्याय, पृ.सं. 70
- ³³ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 327
- ³⁴ वही, अरण्यकाण्ड, पृ.सं. 595
- ³⁵ वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 329
- ³⁶ वही, पृ.सं. 363
- ³⁷ वही, पृ.सं. 426
- ³⁸ वही, पृ.सं. 556
- ³⁹ वही, पृ.सं. 547

-
- 40 मेघ, रमेश कुंतल. तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ.सं. 109-10
- 41 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 134
- 42 जायसवाल, काशीप्रसाद. हिन्दू राज्यतंत्र, पृ.सं. 129
- 43 जाटव, डी. आर. भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ, पृ.सं. 134
- 44 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 406
- 45 वही, लंकाकाण्ड, पृ.सं. 713
- 46 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 538
- 47 वही, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 938
- 48 वही, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 924
- 49 वही, लंकाकाण्ड, पृ.सं. 741
- 50 वही, बालकाण्ड, पृ.सं. 135
- 51 वही, पृ.सं. 110
- 52 वही, पृ.सं. 110
- 53 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 381
- 54 जाटव, डी. आर. भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ, पृ.सं. 138
- 55 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, पृ.सं. 646
- 56 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 312
- 57 शुक्ल, रामचन्द्र. गोस्वामी तुलसीदास, पृ.सं. 26
- 58 त्रिपाठी, विश्वनाथ. लोकवादी तुलसीदास, पृ.सं. 98-99
- 59 शुक्ल, रामचन्द्र. गोस्वामी तुलसीदास, पृ.सं. 26
- 60 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, लंकाकाण्ड, पृ.सं. 716
- 61 वही, बालकाण्ड, पृ.सं. 157
- 62 वही, पृ.सं. 226
- 63 वही, लंकाकाण्ड, पृ.सं. 716
- 64 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 316
- 65 तुलसीदास. कवितावली, पृ.सं. 82
- 66 वही, पृ.सं. 83
- 67 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 515
- 68 वही, पृ.सं. 423
- 69 वही, पृ.सं. 487
- 70 वही, पृ.सं. 444
- 71 वही, पृ.सं. 444
- 72 वही, किष्किंधाकाण्ड, पृ.सं. 637
- 73 वही, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 873
- 74 भट्टनागर, रामरतन. तुलसी साहित्य की भूमिका, पृ.सं. 228
- 75 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 493
- 76 दीक्षित, राजपति. तुलसीदास और उनका युग, पृ.सं. 106-07-10
- 77 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 855
- 78 यादव, चौथीराम. लोकधर्मी साहित्य की दूसरी धारा, पृ.सं. 66
- 79 तुलसीदास. कवितावली, पृ.सं. 114
- 80 वही, पृ.सं. 114

-
- 81 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 166
- 82 जायसवाल, काशीप्रसाद. हिन्दू राज्यतंत्र : द्वितीय खण्ड, पृ.सं. 97-98
- 83 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 521
- 84 फजल, अबुल. आईने अकबरी, पृ.सं. 22
- 85 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 288
- 86 शुक्ल, रामचन्द्र. सं. दोहावली, पृ.सं. 152
- 87 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, पृ.सं. 688
- 88 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 453
- 89 वही, लंकाकाण्ड, पृ.सं. 714
- 90 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 521
- 91 वैश्य, सन्तराम. सूर की सांस्कृतिक चेतना और उनका युगबोध, पृ.सं. 54
- 92 पाण्डेय, मैनेजर. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, पृ.सं. 305-06
- 93 तिवारी, बलराम. सूर की काव्य-चेतना, पृ.सं. 13-14
- 94 हरगुलाल. सं. कुंभनदास, पृ.सं. 110
- 95 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय खण्ड, पृ.सं. 491
- 96 पाण्डेय, मैनेजर. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, भूमिका
- 97 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय खण्ड, पृ.सं. 536
- 98 वही, सूरसागर, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 641
- 99 वही, पृ.सं. 40
- 100 वही, पृ.सं. 40
- 101 वही, पृ.सं. 12
- 102 सुवास, कुमार. मध्यकालीन फैण्टेसी : सूरदास और चण्डीदास का काव्य, पृ.सं. 14-22
- 103 हरगुलाल. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ.सं. 443
- 104 यादव, चौथीराम. लोकधर्मी साहित्य की दूसरी धारा, पृ.सं. 80
- 105 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय खण्ड, पृ.सं. 400
- 106 वही, पृ.सं. 420
- 107 वही, पृ.सं. 565
- 108 वही, पृ.सं. 417
- 109 वही, पृ.सं. 268
- 110 वही, सूरसागर, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 476
- 111 वही, पृ.सं. 66
- 112 वही, सूरसागर, द्वितीय खण्ड, पृ.सं. 276
- 113 वही, पृ.सं. 253
- 114 वही, सूरसागर, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 617
- 115 वही, पृ.सं. 618
- 116 वही, पृ.सं. 67
- 117 वही, पृ.सं. 67
- 118 वही, पृ.सं. 63
- 119 वही, सूरसागर, द्वितीय खण्ड, पृ.सं. 563
- 120 वही, सूरसागर, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 64
- 121 शुक्ल, रामचन्द्र सं. अमरगीतसार, पृ.सं. 33

-
- 122 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 38
123 वही, पृ.सं. 15
124 वही, पृ.सं. 168
125 पाण्डेय, अवधबिहारी. उत्तरमध्यकालीन भारत, पृ.सं. 443
126 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 375
127 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 39
128 वही, पृ.सं. 18
129 फजल, अबुल. आईने अकबरी, पृ.सं. 21
130 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 64
131 वही, पृ.सं. 168
132 वही, पृ.सं. 12
133 फजल, अबुल. आईने अकबरी, पृ.सं. 21
134 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 39
135 वही, पृ.सं. 18
136 वही, पृ.सं. 39
137 वही, पृ.सं. 50
138 वही, पृ.सं. 298
139 वही, पृ.सं. 219
140 वही, पृ.सं. 39
141 वही, पृ.सं. 39
142 वही, पृ.सं. 38
143 वही, पृ.सं. 38
144 द्विवेदी, हजारी प्रसाद. हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ.सं. 112
145 तिवारी, भगवानदास. सं. मीरा का काव्य, पृ.सं. 11
146 त्रिपाठी, विश्वनाथ. मीरा का काव्य, पृ.सं. 67
147 नाभादास. भक्तमाल, पृ.सं. 374
148 चतुर्वेदी, परशुराम. सं. मीराबाई की पदावली, पृ.सं. 106
149 वही, पृ.सं. 106
150 वही, पृ.सं. 107
151 वही, पृ.सं. 105
152 गुप्ता, ओम. पी. कबीर और समकालीन इतिहास, पृ.सं. 65
153 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 159
154 रिजवी, अतहर अब्बास. उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग-1, पृ.सं. 322
155 दास, श्यामसुंदर. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 16
156 वही, पृ.सं. 152
157 वही, पृ.सं. 89
158 वही, पृ.सं. 150
159 वही, पृ.सं. 142
160 वही, पृ.सं. 16
161 वही, पृ.सं. 16
162 सुन्दरदास. सुन्दर बिलास, पृ.सं. 28

-
- 163 सुन्दरदास. सुन्दर बिलास, पृ.सं. 29
164 वही, पृ.सं. 33
165 शरण,जगदीश. सं. रैदास ग्रंथावली, पृ.सं. 120
166 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 28
167 वही, पृ.सं. 146
168 वही, पृ.सं. 125
169 वही, पृ.सं. 146
170 वही, पृ.सं. 193
171 वही, पृ.सं. 76
172 वही, पृ.सं. 167
173 वही, पृ.सं. 121
174 गुप्ता, ओम. पी. कबीर और समकालीन इतिहास, पृ.सं. 77-78
175 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 207
176 सुन्दरदास. सुन्दर बिलास, पृ.सं. 81
177 वही, पृ.सं. 39
178 वही, पृ.सं. 41
179 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 16
180 वही, पृ.सं. 207
181 वही, पृ.सं. 254
182 वही, पृ.सं. 33
183 वही, पृ.सं. 207
184 साही, विजयदेव नारायण. जायसी, पृ.सं. 64-65
185 अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पद्मावत, पृ.सं. 11
186 वही, पृ.सं. 24
187 वही, पृ.सं. 472
188 वही, पृ.सं. 616
189 वही, पृ.सं. 667
190 वही, पृ.सं. 26
191 वही, पृ.सं. 169
192 वही, पृ.सं. 47
193 वही, पृ.सं. 471
194 वही, पृ.सं. 277
195 वही, पृ.सं. 279
196 वही, पृ.सं. 3
197 वही, पृ.सं. 5
198 वही, पृ.सं. 12
199 वही, पृ.सं. 14
200 वही, पृ.सं. 15
201 वही, पृ.सं. 119
202 वही, पृ.सं. 61
203 सिंह, राजबाला. मध्यकालीन भारत में सूफी मत का उद्भव और विकास, पृ.सं. 39

-
- ²⁰⁴ गोयल, जयभगवान. सं. शेख बाबा फरीद और उनका काव्य, पृ.सं. 52
- ²⁰⁵ वही, पृ.सं. 58
- ²⁰⁶ साही, विजयदेव नारायण. जायसी, पृ.सं. 62
- ²⁰⁷ अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 712
- ²⁰⁸ वही, पृ.सं. 230
- ²⁰⁹ वही, पृ.सं. 209
- ²¹⁰ वही, पृ.सं. 510
- ²¹¹ वही, पृ.सं. 529
- ²¹² वही, पृ.सं. 635
- ²¹³ वही, पृ.सं. 229
- ²¹⁴ वही, पृ.सं. 254

तृतीय अध्याय

भक्ति काव्य में अभिव्यक्त समाजव्यवस्था

3.0 मध्यकालीन समाज का स्वरूप

प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय इतिहास मुख्यतया राजाओं का ही इतिहास है क्योंकि भारत में राजतंत्र की शासन प्रणाली प्रचलित थी। अतः तत्कालीन इतिहासकारों ने उस समय की राजनैतिक अवस्था तथा राजाओं के बारे में तो बहुत कुछ लिखा है परन्तु भारतीय जनता तथा उसकी सामाजिक, आर्थिक दशा के बारे में लगभग नहीं ही लिखा है। भक्त एवं संत कवियों की रचनाओं तथा अबुल फजल की ‘आईने-अकबरी’ जैसी कृतियों से उस समय के सामाजिक जीवन के बारे में जानकारी मिलती है। उस समय का वर्णन तुलसीदास ‘कवितावली’ में इस प्रकार करते हैं कि-

“दिन-दिन दुनो देखि दारिदु, दुकालु, दुखु,
दुरितु दुराजु सुख-सुकृत सकोच है।
मार्गे पैत पावत पचारि पातकी प्रचण्ड,
काल की करालता, भले को होत पोच है।”¹

अर्थात् दिनोंदिन दरिद्रता, दुःख, पाप और कुशासन को दूना होता देखकर सुख और शांति संकुचित हो रहे हैं। समय ऐसा भयंकर आ गया है कि बड़े-बड़े पापी तो डाँट-डपटकर माँगने से अपना दाँव पा लेते हैं और भले आदमी का बुरा हो जाता है।

मध्यकालीन समाज के विविध तत्वों (जैसे- हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज, स्त्रियाँ, धर्म, खान-पान, मेले, धार्मिक उत्सव तथा हिन्दू और मुसलमान) के आपसी संबंधों को जानने के लिए समाज और समाज व्यवस्था को समझना आवश्यक है। ‘समाज’ और ‘व्यवस्था’ की कुछ परिभाषाएँ देख सकते हैं। मानक हिंदी कोश के अनुसार -

समाज -

1. बहुत से लोगों का गिरोह या झुंड/समूह। जैसे- सत्संग समाज।

2. एक जगह रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का काम करने वाले लोगों का वर्ग, दल या समूह/समुदाय।
3. किसी विशिष्ट उद्देश्य से स्थापित की हुई सभा। जैसे- आर्य समाज, संगीत समाज।
4. किसी प्रदेश या भूखंड में रहने वाले लोग जिनमें सांस्कृतिक एकता होती है।
5. आयोजन/तैयारी। “बेगि करहु बन गवन समाजू।”²

व्यवस्था -

1. ठीक अवस्था/अच्छी हालत।
2. क्रम, ढंग आदि के विचार से उपयुक्त स्थिति में होना। चीजों का ठिकाने पर तथा सजा-सँवारकर रखा होना।
3. वह कार्य या योजना जिसके फलस्वरूप हर काम ठीक-ठिकाने से किया या अपनी देख-रेख में कराया जाता है।³

हिंदी विश्वकोश (इनसाइक्लोपीडिया इण्डिका ‘नगेन्द्रनाथ बसु’) के अनुसार -

समाज -

1. समूह, संघ गिरोह, दल।
2. सभा।
3. एक ही स्थान पर रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का व्यवसाय आदि करने वाले वे लोग जो मिलकर अपना एक अलग समूह बनाते हैं, समुदाय।
4. ब्राह्मणादि वर्ण की सभा/सभी वर्ण के प्रधान, प्रधान व्यक्ति मिलकर समाज स्थापन करते हैं। सभी समाज के आदेशानुसार चलने के लिए बाध्य हैं।⁴

व्यवस्था -

1. शास्त्र निरूपित विधि/शास्त्र में जो सब विधान कहे गए हैं, उन्हें शास्त्रीय व्यवस्था कहते हैं।
2. नियम।
3. स्थिति, स्थिरता⁵

‘हिंदी शब्द सागर’ के अनुसार -

समाज -

1. समूह, संघ, गिरोह, दल।
2. सभा।
3. एक ही स्थान पर रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का व्यवसाय आदि करने वाले वे लोग जो मिलकर अपना एक अलग समूह बनाते हैं। समुदाय। जैसे- शिक्षित समाज, ब्राह्मण समाज।
4. वह संस्था जो बहुत से लोगों ने एक साथ मिलकर किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित की हो। सभा। जैसे- संगीत समाज, साहित्य समाज।
5. मिलना/एकत्र होना।⁶

व्यवस्था -

1. किसी कार्य का वह विधान जो शास्त्रों आदि के द्वारा निश्चित या निर्धारित हुआ हो।
2. चीजों को अलग-अलग सजाकर या ठिकाने से रखना।
3. प्रबंध/इंतजाम। जैसे- विवाह की सब व्यवस्था अपने ही हाथ में है।
4. स्थिर होने का भाव/स्थिरता/स्थिति।⁷

‘समाज’ के बारे में राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है - “मानव मनुष्य-समाज से अलग नहीं रह सकता था, अलग रहने पर उसे भाषा से ही नहीं चिंतन से भी अपना नाता तोड़ना होता, क्योंकि चिंतन ध्वनि-रहित शब्द है। मनुष्य की हर गति पर समाज की छाप है। बचपन से ही समाज के विधि-निषेधों को हम माँ के दूध के साथ पीते हैं। इसलिए हम उनमें से अधिकांश को बंधन नहीं भूषण के तौर पर ग्रहण करते हैं, किन्तु वह हमारे कायिक, वाचिक कर्मों पर पग-पग पर अपनी व्यवस्था देते हैं। यह उस वक्त मालूम हो जाता है, जब हम किसी को उनका उल्लंघन करते देख उसे अ-सभ्य (असामाजिक) कह उठते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि समाज एक अछूती परिवर्तनशील लौह-प्राचीर है, वह व्यक्ति को अपने विशेष ढाँचे में ढालता है और स्वयं एक-रस बना रहता है। समाज भी लगातार बदल रहा है। यह परिवर्तन क्रमशः विकास के तौर पर भी होता है और कहीं कहीं क्रांति के तौर पर भी।

कहीं परिवर्तन को हम तरंग-प्रवाह की तरह देखते हैं और कहीं-कहीं छलांग मारते प्रपात की भाँति समाज का ढाँचा, उसके भीतर की चीजें- वस्तु, व्यक्ति, विचार सभी बदलती रहती हैं।”⁸

भारतीय समाज को उसकी व्यापकता, विविधता और जटिलता के कारण उस समय तक स्पष्टतः नहीं समझा जा सकता जब तक कि उसके आधारों पर गहराई से ऐतिहासिक दृष्टि से विचार नहीं किया जाए। भारतीय समाज विश्व के प्राचीनतम समाजों में से एक है। इसका इतिहास करीब 5000 वर्ष पुराना है। यहाँ के ऋषि-मुनियों, विचारकों और चिंतकों ने अपने चिंतन और अनुभवों के आधार पर एक ऐसी मानव-संस्कृति के विकास में योग दिया जिसने सदियों तक मानव का मार्गदर्शन किया।

भारतीय समाज और संस्कृति की मूल विशेषता उसकी सहिष्णुता व ग्रहणशीलता और गत्यात्मक प्रकृति है। इस प्रकृति का विशाल स्रोत विभिन्नता में एकता है। भारतीय समाज में आर्य, अनार्य, द्रविड़, शक, हूण, पुर्तगाली, फ्रांसीसी, मंगोल, पारसी आदि अनेक जातियों-प्रजातियों के लोग समय-समय पर यहाँ आए और यहाँ की संस्कृति के रंग में रंगते हुए राष्ट्रीय धारा में समा गए। विश्व की विभिन्न संस्कृतियों, विचारों, दर्शनों, धर्मों, भाषाओं आदि के प्रति सहनशीलता का परिचय देते हुए उन्हें अपने में समाहित किया। भारत की विविधता को रेखांकित करते हुए समाजशास्त्री मोतीलाल गुप्ता ने लिखा है - “विभिन्न संस्कृतियों एवं प्रजातीय तत्वों से भारतीय समाज का निर्माण हुआ है। इस अति प्राचीन एवं विशाल भारतीय समाज में अनेक धर्मों और जातियों के लोग रहते हैं। लोगों की प्रथाओं, मूल्यों, विश्वासों, रहन-सहन के तरीकों, भोजन एवं वस्त्र आदि में यहाँ काफी भिन्नता देखने को मिलती है। यहाँ ग्रामीण और नगरीय जीवन में भी स्पष्ट अंतर दिखलायी पड़ता है। यहाँ एक ओर शिकार आदि के द्वारा अपना जीवन-यापन करने वाली आदिम जनजातियाँ तक पायी जाती हैं, तो दूसरी ओर नगरीय समुदायों में ऐसे लोग हैं जो नवीनतम यंत्रों के माध्यम से अपनी आजीविका कमाते हैं। भारतीय समाज में सैकड़ों-हजारों वर्षों से प्रजातीय और सांस्कृतिक सम्मिश्रण भी होता रहा है।”⁹

यहाँ पर विविध संस्कृतियों का आगमन हुआ जैसे- द्रविड़ और आर्य संस्कृति, मध्य एशिया से आए हुए आक्रमणकारी समूहों की संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति इत्यादि। इन विविध संस्कृतियों का

भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस विविधता के बावजूद भारतीय समाज में एक मौलिक एकता दिखाई पड़ती है। इस एकता को हम मुख्य रूप से मध्यकाल में देख सकते हैं -

“सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा”¹⁰

धार्मिक-दार्शनिक संदर्भों वाली यह पंक्ति भले ही ईश्वर के स्वरूप की चर्चा करती है लेकिन उसका एक सामाजिक रूप संस्कृतियों के तालमेल का भी है। मुस्लिम और हिन्दू समाज में राजनैतिक, धार्मिक एवं वैचारिक मतभेद होने के बावजूद एक दूसरे के करीब आए। उनके रहन-सहन, वेशभूषा, खान-पान, शिल्पकला यानी दोनों की संस्कृतियाँ एक दूसरे पर अपना प्रभाव छोड़ने लगीं। इस संदर्भ में आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का मानना है कि- “मुस्लिम सभ्यता, संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव भारतीय ललित-कलाओं पर और विशेषकर स्थापत्य कलाओं पर पड़ा। हिन्दुओं को जो कुछ भी उपयोगी और सुन्दर लगा उसे अपनाने में उन्होंने कभी भी उपेक्षा नहीं दिखाई। उनकी यह प्रवृत्ति 16वीं सदी के अंतिम अर्द्धांश और पूरी 17वीं तथा 18वीं सदी की निर्मित हिन्दू इमारतों में झलकती है। राजपूत राजाओं ने तत्परता से मुगल स्थापत्य कला के अंगों को अपना लिया, और उन्हें अपने महलों में स्थान दिया। हिन्दू मंदिर तक मुगल स्थापत्य कला के अंगों से नहीं बच सके।”¹¹

इसके अतिरिक्त कहा जा सकता है कि इस्लाम के प्रभाव से हिन्दू धर्म में एकेश्वरवाद की भावना की पुनरावृत्ति हुई। हिन्दू धर्म में एकेश्वरवाद की भावना के बीज तो उपस्थित थे मगर गुप्तकाल से हिन्दू धर्म का जो शास्त्रीय रूप विकसित हुआ था उसमें बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, कर्मकांडों की प्रधानता आदि जैसी विशेषताएँ आ गई थीं जो बाद में अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गई। ऐसा नहीं कि केवल हिन्दू समाज और संस्कृति ने ही मुस्लिम संस्कृति से प्रभाव ग्रहण किया बल्कि मुस्लिम संस्कृति भी प्रभावित हुई। इसका जिक्र ‘इमत्याज़ अहमद’ ने किया है - “मुस्लिम समाज पर हिन्दू धर्म और समाज के प्रभाव का सबसे ज्वलंत उदाहरण जाति प्रथा है। इस्लाम जाति के भेद-भाव को नहीं मानता बल्कि सभी मुसलमानों को एक समान आदर और सम्मान देता है। फिर भी मध्यकालीन मुस्लिम समाज जातियों के आधार पर विभक्त था। उच्च जातियों से धर्म परिवर्तन करने वाले अशराफ ‘भद्रलोक’ की श्रेणी में आए जबकि तथाकथित निम्न जातियों से धर्म परिवर्तन करने वाला अजलाफ

‘सर्वसाधारण’ की श्रेणी में आए। दोनों के बीच सहभोज और अंतर्विवाह तो वर्जित नहीं था परंतु इसे प्रशंसनीय भी नहीं समझा जाता था। धीरे-धीरे विदेशी और भारतीय मुसलमान अलग-अलग जातियों में बँट गए जैसे- सैयद, शेख, पठान, जुलाहा आदि।¹²

भारतीय भाषाओं पर भी फारसी, अरबी और तुर्की भाषाओं का प्रभाव पड़ा, और इन भाषाओं के बहुत-से शब्द हिंदी, बांग्ला, मराठी, गुजराती, राजस्थानी और अन्य उत्तर भारत की भाषाओं में अपना लिए गए। दक्षिण भारत की भाषाओं में अपेक्षाकृत कम शब्द अपनाए गए। भक्त एवं संत कवि ब्रज, अवधी शब्दों के साथ फारसी शब्दों का प्रयोग करने लगे थे। हिन्दू और मुस्लिम समाज की एकता में सबसे अधिक योगदान मुसलमान सूफियों और हिन्दू संतों द्वारा किया गया। इन दोनों की भक्ति धारा की ऐतिहासिक भूमिका देखने को मिलती है। इस संदर्भ में प्रेमशंकर का मत है कि- “सांस्कृतिक मिलन का सर्वोपरि प्रकाशन रचना के क्षेत्र में सूफी कवियों तथा कबीर जैसे विद्रोहियों ने किया। पर पूर्व मध्यकाल में जिस भक्ति आंदोलन का उदय हुआ उसकी पीठिका में भी यह विद्यमान है और निर्विवाद है कि पन्द्रहवीं शती में सांस्कृतिक समन्वय का महत्वपूर्ण कार्य संतों ने संपन्न किया।”¹³

भारत के अधिकांश सूफियों ने चिंतन, लेखन और गायन के द्वारा एकेश्वरवाद के रूप में दिव्य एकात्मकता की शिक्षा दी हिन्दुओं ने उनके विचारों को वेदान्त दर्शन और अद्वैतवाद के समान पाया और स्वाभाविक रूप में उनसे आकर्षित हुए। चित्रकला के साथ-साथ संगीत कला भी एक दूसरे को करीब लाने में सहायक हुई लेकिन चित्रकला का प्रभाव उतना नहीं पड़ा जितना संगीत और उसकी राग-रागिनियों का। प्रो. एस. आबिद हुसैन ने इसका जिक्र करते हुए लिखा है कि- “जौनपुर के सुल्तान हुसैन शारकी ने, ऐसा कहा जाता है कि, एक नयी संगीत शैली ‘खयाल’ को प्रवर्तित किया। जो हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों में समान रूप से लोकप्रिय हुई। ‘ध्रुपद’ शास्त्रीय हिन्दू शैली परिमार्जित रुचि के मुसलमानों द्वारा बहुत अधिक पसंद की जाती थी। बीजापुर के राजा इब्राहीम आदिलशाह संगीत के एक बड़े कद्रदान थे, जिन्होंने इस विषय पर ‘नवरस’ पुस्तक की रचना की। मुसलमान

सूफियों ने संगीत की सराहना की। संक्षेप में संगीत एक शक्ति थी, जिसके कारण हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदय एक स्वर में ध्वनित होते थे।¹⁴

बादशाह अकबर की धार्मिक सहनशीलता की नीति तथा कबीर, नानक, मलूक, चैतन्य, दादू, जायसी जैसे भक्ति आंदोलन के संतों एवं सूफी संतों के प्रचार कार्यों ने इन दोनों जातियों को एक दूसरे के निकट लाने में बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया। एक लम्बे संघर्ष के बाद हिन्दू यह समझने लगे थे कि मुसलमान भारत से जाने वाले नहीं हैं और मुसलमान भी यह समझने लगे थे कि सभी हिन्दुओं को न तो मुसलमान ही बनाया जा सकता है और न ही उनके सहयोग के बिना राज्य को संगठित तथा स्थायी बनाया जा सकता है। अतः मुगलों के समय में भारत का सामाजिक जीवन पहले की अपेक्षा अधिक उदार एवं शांत बन गया था परंतु औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों के आपसी संबंध फिर से बिगड़ने लगे थे और दोनों जातियाँ एक दूसरे को घृणा तथा शत्रुता की दृष्टि से देखने लगी थी। किस तरह से सामाजिक समता-विषमता, धार्मिक कट्टरता या मेल जोल में समय-समय पर उतार चढ़ाव आते रहे इसको रेखांकित करते हुए इतिहासकार सतीश चन्द्र ने लिखा है-

“तुर्क जब भारत में आए, तब न सिर्फ इस्लाम में उनकी सुस्पष्ट आस्था थी, बल्कि शासन, कला, वास्तुकला आदि के बारे में उनके विचार भी इस्लामी थे, ठोस धार्मिक विश्वासों तथा कला, वास्तुकला और साहित्य के बारे में सुविकसित विचारों से युक्त भारतवासियों के साथ तुर्कों के संपर्क के कारण, दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य में, एक नयी समृद्ध संस्कृति का विकास हुआ। लेकिन यह एक लम्बी प्रक्रिया थी जिसमें विध्वंस के बाद या उसके साथ-साथ निर्माण के काल भी आए। जब दो पक्ष अपने-अपने विचारों पर दृढ़ता से कायम हों तो आपसी गलतफहमी और टकराव तो हमेशा ही होते हैं। लेकिन इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण आपसी समझ पैदा करने के लिए किए गए प्रयास थे, जिनके फलस्वरूप अनेक क्षेत्रों में आपसी लेन-देन की प्रक्रिया शुरू हुई, जैसे कला, वास्तुकला, संगीत, साहित्य, यहाँ तक कि रीति-रिवाजों और समारोहों, कर्मकाण्डों, धार्मिक विश्वासों, विज्ञान और प्रौद्योगिकी जैसे क्षेत्र में भी। फिर भी दोनों समुदायों में टकराव और संघर्ष की जड़ें गहरी रहीं इसलिए

आत्मसात्करण की प्रक्रिया में अनेक उतार-चढ़ाव आए तथा इसमें अलग-अलग इलाकों और अलग-अलग कालों में विभिन्नताएँ रहीं।¹⁵ ये दोनों ही संस्कृतियाँ एक दूसरी से प्रभावित तो हुईं लेकिन आपस में घुल-मिल नहीं पायीं। इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि मध्यकाल में इन संस्कृतियों का आपस में समन्वय हो गया। समन्वय का मतलब “वह अवस्था जिसमें विचारधाराओं एवं मान्यताओं का पारस्परिक भेद या विरोध समाप्त होकर एकरूपता उत्पन्न हो जाए अथवा किसी नयी विचारधारा का प्रवर्तन हो जाय, समन्वय की अवस्था कही जाती है।”¹⁶

इन दोनों ही संस्कृतियों में भिन्नताएँ रही हैं, जैसे- हिन्दू धर्म परमात्मा के अंश के रूप में आत्मा को देखता है जबकि मुस्लिम धर्म में अल्लाह और रूह (या बन्दा) का संबंध बंदगी से है। इस्लाम बन्दा को अल्लाह की बनायी हुई चीज मानता है। हिन्दू धर्म में धर्म को लेकर विचारों की स्वतंत्रता और तर्क की अनुमति है इसलिए यहाँ नास्तिक दर्शन भी है, लेकिन इस्लाम में धर्म को लेकर तर्क करना गुनाह है तथा अल्लाह को मानना जरूरी है। हिन्दू-समाज में जाति-भेद है जबकि इस्लाम में समानता का सिद्धांत है। यानी दोनों ही संस्कृतियों का स्वभाव भिन्न है। “भारतीय संस्कृति उदारतापरक है और मुस्लिम संस्कृति का स्वरूप किसी-न-किसी प्रकार की कट्टरता से आबद्ध रहा है। यही कारण है कि मुस्लिम संस्कृति जिस देश में भी गयी, वहाँ की संस्कृति से प्रभावित होकर भी अपनी सत्ता बनाये रखने में सफल हुई। भारतवर्ष में आकर उसकी सत्ता तो बनी रही, किन्तु शुद्धता बहुत दूर तक समाप्त हो गयी।”¹⁷

इन दोनों संस्कृतियों में भिन्नता होने के बावजूद एक दूसरे पर धार्मिक, सामाजिक रूढ़ियों के साथ-साथ सकारात्मक सांस्कृतिक मूल्यों का छाप पड़ रहा था। इन नवीन सांस्कृतिक मूल्यों के कारण एक नये सामाजिक वातावरण का निर्माण हो रहा था। जिसे सामान्य जन-जीवन के अनुकूल भी मान सकते हैं। इन कारणों से स्थापत्य कला का विकास, कारीगरों के रूप में शूद्रों का विकास, नव शिक्षित वर्ग का उदय, तकनीकी विकास, लघु उद्योग, शिल्पकारी इत्यादि। यानी इन कारणों से आर्थिक परिवर्तन भी हो रहा था, लेकिन यह परिवर्तन सामंतीय ढाँचे के निर्माण के अनुकूल था। सत्ता के अधिकांश केन्द्रों में सामंतीय प्रवृत्तियाँ थीं और इनका आधार श्रेणीबद्ध किए गये भूमि अनुदान थे। इस

आर्थिक परिवर्तन ने सामाजिक वातावरण को परिवर्तित किया। इस परिवर्तन को ग्रामीण जीवन स्तर और शहरी जीवन स्तर से समझ सकते हैं।

3.0.1 ग्रामीण जीवन

भारत एक ग्राम प्रधान देश रहा है। आज की इसकी अधिकांश जनसंख्या गाँवों में निवास करती है। भारत में आज की तुलना में मध्यकाल में गाँवों में निवास करने वाली जनसंख्या निश्चित ही अधिक रही होगी, क्योंकि औद्योगिक उत्पादन केवल कारीगर उत्पादों और हस्तशिल्प तक सीमित था। अधिकांश जनसंख्या के लिए रोजगार का प्रमुख स्रोत कृषि उत्पादन ही था। गाँवों के अधिकांश निवासी किसान थे। ग्रामीण जनसंख्या में कृषक एक ऐसा वर्ग था जिसके उत्पादन पर सभी ग्रामीण तथा शहरी वर्गों का अस्तित्व निर्भर था। ये कृषक सामाजिक प्रतिष्ठा और धन के असमान वितरण के आधार पर वर्गों में बंटे हुए थे। इस संदर्भ में सतीश चन्द्र लिखते हैं कि - “जीवन का स्तर अंततः आय और मजदूरी पर निर्भर था। किसानों के विशाल समूह की वास्तविक आय का निश्चय कर सकना कठिन है, क्योंकि गाँवों के कारोबार में मुद्रा का प्रयोग शायद ही होता था। गाँवों में दस्तकारों की सेवाओं का पारिश्रमिक परंपरा द्वारा निर्धारित ढंग से दाल-चावल के रूप में दिया जाता था। किसान की जोत के औसत आकार का हिसाब लगाना कठिन है। हमें उपलब्ध सूचनाओं से पता चलता है कि गाँवों में असमानता बहुत अधिक थी। जिस किसान के पास अपने हल-बैल नहीं होते थे, वह प्रायः जमींदारों या ऊँची जातियों की जमीन जोतता-बोता था और मुश्किल से निर्वाह कर पाता था। भूमिहीन किसान और मजदूर अक्सर उस श्रेणी के होते थे, जिसे ‘अछूत’ या कमीन कहा जाता था। कभी अकाल पड़ता- और अकाल आम थे- तो सबसे अधिक कष्ट किसानों की इस श्रेणी को और ग्रामीण दस्तकारों को उठाना पड़ता था, जो किसान अपनी जोती हुई जमीन के स्वामी थे, वे खुदकाशत कहलाते थे। वे परंपरागत दरों से मालगुजारी देते थे। उनमें से कुछ के पास अनेक हल-बैल होते थे, जिनको वे अपने गरीब भाइयों, असामियों (टेनेंट्स) अर्थात् मुजारियान को किराए पर देते थे जो आम तौर पर अधिक दर से मालगुजारी देते थे।”¹⁸

अर्थात् गाँव प्राकृतिक संपदाओं से संपन्न तो रहा लेकिन उसकी सामाजिक संरचना बहुत सुलझी हुई नहीं थी। जातिगत, आर्थिक तथा अन्य विभिन्न प्रकार की असमानताएँ देखने को मिलती हैं। गाँवों में कृषकों के अतिरिक्त कामगार और कारीगर तथा मजदूर समुदायों की एक बड़ी संख्या भी निवास करती थी। ग्रामीण समाज के इन समुदायों में बुनकर, कुम्हार, लोहार, बढ़ई, नाई तथा धोबी प्रमुख थे। यह समुदाय ग्रामीण समाज में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। अक्सर यह कृषि उत्पाद में मजदूर के रूप में भी कार्य करते थे। गाँवों में कृषकों के ऊपर ग्रामीण जनसंख्या का एक अन्य वर्ग निवास करता था, जो भू-राजस्व में विशेष उच्चाधिकार रखता था, इन्हें जमींदार के नाम से जाना जाता था। इस वर्ग के लोग कुल कृषि उत्पादन में से एक भाग प्राप्त करते थे। मध्यकालीन शासकों ने इस जमींदार वर्ग को राजस्व वसूली के लिए राज्य के सहायक के रूप में स्वीकार किया था। इस सेवा के बदले इन जमींदारों को वसूले हुए राजस्व में से एक निश्चित भाग प्राप्त करने का अधिकार था। एक सामाजिक वर्ग के रूप में जमींदार भी जातीय और स्थानीय संबंधों के आधार पर विभाजित थे। ग्रामीण समाज में परिवार एक महत्वपूर्ण संस्था थी। परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसे सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग एवं प्रजनन के आधार पर अन्य समूहों से अलग किया जा सकता है। परिवार वास्तव में समाज की आधारभूत इकाई है। परिवार के बारे में समाजशास्त्री मोतीलाल गुप्ता बताते हैं कि- “परिवार मानव जीवन के सांस्कृतिक विकास के प्रत्येक स्तर पर किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। इस दृष्टि से परिवार एक सार्वभौमिक और सार्वकालिक संस्था रही है। प्रत्येक समाज में, चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, पूर्व का हो या पश्चिम का, परिवार पाया जाता है। व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से परिवार एक मौलिक संस्था रही है।”¹⁹ यद्यपि मानव-सभ्यता के विकास के पूर्व वाले चरण में परिवार नहीं थे, स्त्री-पुरुष तब किसी भी प्राणी के समान नर-मादा के रूप में अस्तित्व में थे।

पहले से ही भारत के अधिकांश भागों में परिवार पितृसत्तात्मक थे। सबसे अधिक आयु का पुरुष ही परिवार का प्रमुख माना जाता था। परिवार के अंदर विभिन्न सदस्यों की संपत्ति पर व्यक्तिगत

अधिकार नहीं माना जाता था। सदस्यों को अपने गुजर-बसर के लिए संपत्ति की आय में से एक हिस्सा मिलता था।

सामान्यतः परिवार की महिला सदस्यों को पुरुषों की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। परिवार में कन्या की तुलना में पुत्र जन्म को अधिक महत्व दिया जाता था। बड़े पुत्र को अधिक महत्व प्राप्त था। सामान्यतः भारतीय सामाजिक परंपरा पश्चिमी देशों की तुलना में अधिक पारस्परिक मेल-जोल और संयुक्त संबंध की भावना पर टिका है। ग्रामीण समाज में विवाह सबसे महत्वपूर्ण संस्था थी। पुत्र और पुत्रियों के विवाह का उत्तरदायित्व मुख्यतः माँ-बाप पर था। विवाह की कोई निर्धारित आयु नहीं थी परंतु कम उम्र में विवाह करने को पसंद किया जाता था। ग्रामीण समाज के मुस्लिम और गैर-मुस्लिम संप्रदायों में विवाह की अलग-अलग प्रथाएं प्रचलन में थीं। उदाहरण के लिए हिन्दुओं में विवाह एक उत्तम संस्कार माना जाता था, जबकि मुसलमानों में यह एक सामाजिक अनुबंध था। हालाँकि दोनों ही स्थितियों में महिलाएँ अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए स्वतंत्र नहीं थीं।

ग्रामीण समाज में कई तरह के त्यौहार और मनोरंजन के साधन लोकप्रिय थे। हालाँकि मुस्लिम और गैर-मुस्लिम समुदायों के अपने अलग-अलग त्यौहार और उत्सव थे लेकिन ये एक-दूसरे के उत्सवों में शामिल होते थे। हिन्दुओं के अधिकांश त्यौहार विशेष मौसमों से संबंधित थे। अधिकांशतः यह उस समय पड़ते थे जबकि कृषकों को अपने काम से फुर्सत रहती थी। इन त्यौहारों में बसंत पंचमी, होली, दीपावली तथा शिवरात्रि प्रमुख थे। हिन्दू त्यौहारों के संदर्भ में के.एम. अशरफ लिखते हैं - “वे (त्यौहार) साधारणतः कृषकों के लिए अपेक्षाकृत विश्राम की ऋतु से मेल खाते हैं और उन्हें नृत्य और लोक धुनों के साथ मनाया जाता है। शासक वंश आए और गए, संकट आए, विनाश हुए और भुला भी दिए गए, लोग उत्पीड़ित हुए और कराहे भी, किन्तु स्थानीय और सामान्य त्यौहार पूर्ववत् बने रहे तथा वे सदैव उत्साह और आनंद से मनाए जाते रहे।”²⁰

मुस्लिम त्यौहारों में ईद, शबे-बरात और मुहर्रम प्रमुख थे। ग्रामीण जनसमुदायों में मनोरंजन का सर्वाधिक लोकप्रिय तरीका गाने-बजाने और नृत्यों का आयोजन था।

3.0.2 नगरीय जीवन

मध्यकाल में गाँव के विपरीत नगरों की दो प्रमुख विशेषताएँ देखने को मिलती है प्रथम तो यह कि नगर एक घनी आबादी वाला ऐसा क्षेत्र था जिसका विस्तार सीमित और निर्धारित था। दूसरा यह कि यहाँ की जनसंख्या प्रमुखतः गैर-कृषि आधारित थी। इस प्रकार शहरों में व्यक्ति स्थान अनुपात सीमित था और यहाँ के निवासी विविध प्रकार के व्यवसायों में कार्यरत थे। मध्यकाल के नगरों की अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं। प्रशासनिक नगर स्वाभाविक रूप से प्रशासन के केन्द्रों के रूप में कार्य करते थे। मुगल काल के दिल्ली और लाहौर जैसे शहर इसी श्रेणी में आते थे। धार्मिक केन्द्र प्रमुखतः तीर्थ यात्रियों को आकृष्ट करते थे जैसे वाराणसी और मथुरा इत्यादि। सैनिक महत्व के शहरों का विकास प्रमुख रूप से छावनियों के रूप में हुआ था, बाद में इन केन्द्रों में गैर-सैनिक जनसंख्या भी बस गई। चौथी श्रेणी में ऐसे शहर आते हैं जो वाणिज्यिक गतिविधियों के केन्द्र या उत्पादन के स्थल थे। अक्सर इस प्रकार के शहरों में दोनों गतिविधियाँ केन्द्रित होती थीं। मध्यकाल का एक औसत नगर सामाजिक व्यवहार और विशेषताओं में गाँव का एक विस्तृत रूप था।

अधिकांश नगर एक ऐसी चारदीवारी में स्थित होते थे जिसमें एक या अधिक प्रवेश द्वार होते थे। नगर की प्रमुख जनसंख्या इस चारदीवारी के अंदर ही रहती थी। नगरों के विस्तार के साथ अक्सर नगरों की जनसंख्या इन दीवारों के बाहर तक बसने लगी थी। अक्सर अमीर और कुलीन शहर की दीवारों के बाहर अपनी कोठियाँ और बागों के आस-पास बस्तियाँ बनाकर रहने लगे और इस तरह उप-शहर बस गये। सुनियोजित बसाये गए शहरों में बाजार अलग से बनाये जाते थे। अन्य नगरों में सड़कों के दोनों ओर दुकानें होती थीं। अधिकांश शहरों में एक से अधिक बाजार होते थे। कई बाजार किसी खास वस्तु के व्यापार के लिए विशिष्ट रूप से जाने जाते थे। अक्सर बाजारों के नाम उन विशिष्ट वस्तुओं का हवाला देते हैं। जिन क्षेत्रों में शहर की जनसंख्या रहती थी वे मुहल्लों में बँटे हुए होते थे। अधिकतर मुहल्ले किसी खास जाति या उत्पादक समुदायों के नाम से जाने जाते थे। नगरों की एक अन्य विशेषता वहाँ पर सरायों का होना था। सराय व्यापारियों और यात्रियों के लिए रहने की स्थान थी। छोटे शहर में भी कम से कम एक सराय होती थीं। दिल्ली, आगरा, पटना, लाहौर और

अहमदाबाद जैसे शहरों में बड़ी संख्या में सरायें पायी जाती थीं। सामान्य नगरों में किसी भी प्रकार के योजनाबद्ध विकास का अभाव था। प्रमुख मार्गों के अलावा अन्य सड़कें तथा गलियाँ सँकरी और मिट्टी की बनी होती थीं।

मध्यकालीन नगरों के जीवन स्तर में काफी विषमता दिखायी देती है। जहाँ एक तरफ उच्च वर्गों के लोग शाही तरीके का रहन-सहन अपनाते थे वहीं दूसरी ओर शहरों की जनता निम्न स्तर का जीवन व्यतीत करती थी। मध्यवर्ग- विशेषकर राजस्व विभाग के अधीनस्थ अधिकारी, छोटे मनसबदार, चिकित्सक तथा छोटे व्यापारी आदि- एक अच्छे स्तर का जीवन गुजारते थे। बुद्धिजीवी वर्ग ज्यादातर गरीब था और अधिकांशतः अपने जीवन यापन के लिए कुछ संरक्षकों पर निर्भर था। कुलीन तथा अन्य उच्च वर्ग अत्यंत शान-शौकत का जीवन व्यतीत करते थे।

मध्य वर्ग और उच्च वर्ग के वस्त्र पहनने और उपभोग आदि का स्तर लगभग समान था। पहने हुए वस्त्रों के आधार पर वे अलग से पहचाने जा सकते थे। पुरुष विशिष्ट प्रकार की शलवार या चूड़ीदार पजामा तथा कमीज पहनते थे। जाड़ों में रुई भरी कोट या सदरी तथा लम्बा ढीला कोट 'कबा' भी पहनते थे। साथ ही कंधों पर शॉल, कमर में पटका और सिर पर पगड़ी होती थी। हिन्दुओं में ब्राह्मण माथे पर तिलक लगाते थे और क्षत्रिय कानों में कुण्डल पहनते थे। मुसलमानों में कमीज और पायजामा प्रमुख था तथा माथे पर एक पगड़ी होती थी। स्त्रियाँ ब्लाउज और बड़ी चादर पहनती थीं। दोआब क्षेत्र में लहंगा और चोली तथा एक प्रकार का बड़ा दुपट्टा काफी लोकप्रिय था। निम्न वर्ग के लोग बहुत ही कम वस्त्र पहनते थे क्योंकि उनका जीवन अभाव का था। भारतीय पोशाकों की भिन्नता में एकरूपता लाने का प्रयास 'गुरुनानक' ने किया इसलिए उन्होंने हिन्दू और मुस्लिम दोनों की पोशाकों का सम्मिश्रण किया।

3.0.3 मुस्लिम समाज

सैद्धांतिक रूप से मुस्लिम समाज में समानता का सिद्धांत स्थापित था लेकिन व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं था। उनमें भी जन्म, संप्रदाय, नस्ल आदि के आधार पर अनेक भेद हो गये थे। शुरू में अरब के मुसलमान स्वयं को अन्य मुसलमानों से उच्च मानते थे। अरबों में भी करेश परिवार को

अधिक महत्व दिया जाता था क्योंकि पैगम्बर मुहम्मद इसी कबीले के थे। मुसलमानों में सैयदों को पवित्र माना जाता था। जैसे, हिन्दुओं में ब्राह्मण को उच्च और पवित्र माना जाता था। पैगम्बर की पुत्री फातिमा की संतान के वंशजों को सैयद माना जाता था। सल्तनत काल में तुर्क या उन विदेशी मुसलमानों का गहरा प्रभाव था तथा अन्य मुसलमानों को हेय समझा जाता था। सबसे निम्न स्थान उन मुसलमानों का था जो हिन्दू से मुसलमान बने थे। धीरे-धीरे मुस्लिम समाज में दो वर्ग प्रकट हुए जो 'अशराफ' और 'अजलाफ' कहे जाते थे। अशराफ वर्ग में प्रतिष्ठित लोग थे। इनमें अधिकतर विदेशी मुसलमान और ऊँची जातियों के धर्म-परिवर्तित मुसलमान थे। अजलाफ का वर्ग साधारण लोगों का वर्ग था जिसमें निम्न जाति के मुसलमानों की संख्या सबसे अधिक थी। अशराफ और अजलाफ वर्ग में सामान्यतः पारस्परिक शादी-विवाह के संबंध नहीं थे और धीरे-धीरे जाति प्रथा के प्रभाव से मुस्लिम समाज में भी सैय्यद, शेख, पठान, जुलाहे और अन्य जातियों का विकास हुआ। इनमें सहभोज पर प्रतिबंध नहीं था और न ही छुआछूत की भावना थी। मुस्लिम समाज में अशराफ, अजलाफ का वर्गीकरण तो ऊँचे और निम्न तबके के लिए था, इसके अलावा भी इसमें विभिन्न वर्ग थे जैसे- सुल्तान, अमीर, उलेमा, इत्यादि; लेकिन ये सब अधिकांश अशराफ की कोटि में आते थे। मुस्लिम समाज में सुल्तान के बाद अमीरों का वर्ग था जो उच्च अधिकारी थे। वे वैभवपूर्ण जीवन बिताते थे और प्रायः विदेशी होते थे। उनके नीचे मुस्लिम समाज का शिक्षित वर्ग उलेमा होता था। ये लोग न्याय, धर्म, शिक्षा संबंधी पदों पर एकाधिकार रखते थे। मध्यकाल में इस प्रकार मुस्लिम समाज में दो वर्ग देख सकते हैं- 'अहले सैफ' और 'अहले कलम'। पहला वर्ग सैनिकों का तथा दूसरा वर्ग शिक्षित उलेमाओं का था। मुस्लिम समाज या मध्यकालीन समाज की संरचना पिरामिडनुमा थी जिसका मूल आधार सामंतवाद था। समाज के शीर्ष बिन्दु पर सुल्तान स्थित था। वह समस्त शक्ति का स्रोत था। उसके नाम से खुतबा पढ़ा जाता था और सिक्कों पर उसी का नाम अंकित किया जाता था। सुल्तान का जिक्र जायसी करते हैं-

“सेरसाहि दिल्ली सुलतानू। चारिउ खंड तपड़ जस भानू।”²¹

सुल्तान के पश्चात् समाज में अमीरों का स्थान था। वे भी अनेक श्रेणियों में विभाजित थे जैसे- खान, मलिक, अमीर, सिपहसालार इत्यादि। इन्हें ‘सतून-ए-सल्तनत’ कहा जाता था। सुल्तान के समान इनका जीवन भी अत्यंत वैभवपूर्ण था। मुस्लिम समाज में उलेमाओं का अत्यंत सम्मानित और विशिष्ट स्थान था। उलेमा वर्ग को ‘दस्तार बंदा’ कहा जाता था। वे इस्लाम के संरक्षक और कुरान, हदीस और शरीअत के महान ज्ञाता समझे जाते थे। न्याय, धर्म और शिक्षा के उच्च पदों पर उनका एकाधिकार था। उलेमाओं का प्रमुख ‘शेख-उल-इस्लाम’ कहलाता था। इस वर्ग को ‘अहले-ए-कलम’ भी कहा जाता था। सल्तनत काल के प्रारंभ में भारतीय मुसलमानों की संख्या बहुत कम थी। परंतु धीरे-धीरे भारतीय मुसलमानों की संख्या में वृद्धि हुई। इस संख्या वृद्धि का एक कारण धर्मांतरण था। गाँवों में रहकर कृषि कार्य करना बहुत ही कम मुसलमान पसंद करते थे, इसीलिए धीरे-धीरे भारतीय मुसलमान नगरों, कस्बों, व्यापारिक मंडियों और सैनिक छावनियों में केन्द्रित होने लगे।

3.0.4 हिन्दू समाज

मध्यकाल में भारतीय समाज दो भागों में विभाजित था। पहला मुस्लिम समाज था जो यद्यपि कम संख्या में था लेकिन विजेता होने के कारण अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली था। अपनी सामाजिक अवधारणाओं के कारण वह गतिशील था और इस्लाम का प्रसार करना अपना धर्म समझता था। दूसरा हिन्दू समाज था जो मुस्लिम आक्रांताओं से संघर्ष कर रहा था। इस संघर्ष के कारण उसमें जो प्रतिक्रिया हुई थी उसने हिन्दू समाज को और रूढ़िवादी बना दिया। हूणों, अरबों, तुर्कों के आगमन से भय का एक ऐसा वातावरण तैयार हुआ जिसके अंतर्गत सदियों पुरानी सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने पर बल दिया जाने लगा। ब्राह्मणवादी संस्थाएँ वर्ण तथा आश्रम को लेकर चिंतित दिखाई पड़ने लगीं। यही चिंता तुलसी के यहाँ भी दिखाई पड़ती है -

“सब लोग बियोग बिसोक हए। बरनाश्रम धर्म अचार गए।”²²

अर्थात् वर्ण व्यवस्था टूटने लगी थी और वर्ण-संकरता की स्थिति आ गई थी -

“भए बरन संकर कलि भिन्न सेतु सब लोग।

करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग।”²³

मध्यकाल में जिस तरह ब्राह्मणवादी व्यवस्था आहत हो रही थी संभवतः उस रूप में निम्न जातियाँ आहत नहीं हो रही थीं। इसका एक महत्वपूर्ण कारण आर्थिक था। तुर्कों के आने से कपड़ा उद्योग, हस्त एवं शिल्प कलाओं में कुछ बदलाव आया। इसका जिक्र इरफान हबीब करते हैं- “जाहिर है कि कागज तैयार करने की, चूना-गारा बनाने की और मेहराबी छतें ढालने की नई तकनीकें और संभवतः बुनाई की कुछ तकनीकें, यहाँ बाहर से आए ऐसे कारीगरों के माध्यम से ही जड़ें जमा सकीं।”²⁴

संभवतः इससे निम्न जातियों को रोजगार मिलने लगा और उनके अंदर आत्मसम्मान की भावना पनपने लगी, यहाँ तक कि जो दास और गुलाम थे वे भी इन सब कार्यों से जुड़ गए। उस समय हिन्दू समाज जाति प्रथा द्वारा चार क्षेत्रीय भागों में विभक्त था। जाति का निर्धारण जन्म से था। समाज में ब्राह्मण सर्वोपरि थे -

“सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरितोषण ब्रत द्विज सेवकाई।”²⁵

इसके बाद क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ग आते थे। इन प्रमुख जातियों के अतिरिक्त अनेक उपजातियाँ थीं जो एक दूसरे से पृथक् थीं और जिनमें सहभोज और पारस्परिक विवाह-संबंध का सर्वथा अभाव था। हिन्दू समाज में शूद्रों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी - “हिन्दू समाज में सबसे विकराल रूप जाति-व्यवस्था ने ग्रहण कर लिया था। जो वर्ण व्यवस्था श्रम के विभाजन को लेकर कभी जन्मी थी उसमें इतनी बुराइयाँ आ गईं कि सैकड़ों उपजातियों का उदय हुआ और सारा समाज टुकड़े-टुकड़े हो गया। जन्मना जाति निर्धारित होने के कारण उच्च वर्णों में एक अहंकार का भाव आ जाना स्वाभाविक था, यद्यपि वे अपनी उच्च गरिमा से च्युत हो चुके थे।”²⁶

हिन्दू समाज के विभिन्न जातियों-उपजातियों में बँटे होने के कारण उनमें ऊँच-नीच की भावना थी। सबसे अधिक बुरी हालत शूद्रों की थी जो मुख्यतः शिल्पकार तथा सेवा वर्गों के थे। उन्हें अब अस्पृश्य समझा जाता था। अनुलोम विवाहों को भी घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। ऐसे विवाहों से उत्पन्न संतानों को मिश्रित जातियाँ कहा गया। जिनकी संख्या चौसठ तक पहुँच गयी थी। इस प्रकार सामाजिक समरसता तथा बंधुत्व के स्थान पर संकीर्ण वर्गों का निर्माण हो गया था। स्मृतिकारों ने इस

संकीर्णता को बढ़ावा दिया।”²⁷ अब वर्ग-हितों को सामने रखा जाता था। इस काल में ब्राह्मणों की स्थिति कुछ कमजोर हुई। इस मनोदशा का चित्रण तुलसीदास इस प्रकार करते हैं -

“बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हें। कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।”²⁸

अर्थात् भक्तिकाव्य में दो स्थितियाँ दिखाई पड़ती हैं। पहला यह कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने वर्ण, जाति इत्यादि के लिए पुराणों का पुनर्पाठ करना शुरू किया क्योंकि उनकी श्रेष्ठता बाधित होने लगी थी। यह चातुर्वर्ण्य जैसे संक्रमण काल था। फिर से इसको मजबूत करने की कोशिश धर्माचार्यों द्वारा की गयी। इसका प्रभाव साहित्य पर भी थोड़े उदार तरीके से पड़ा। इसका उदाहरण तुलसीदास की रचना श्रीरामचरितमानस है। वाल्मीकि को संशोधित करते हुए तुलसीदास शंबूक का वध नहीं कराते। केवट को गले लगाते हैं। शबरी के जूठे मीठे बेर खाते हैं। अतः अचरज है कि बावजूद इसके तुलसी बार-बार वर्ण और जाति के फर्क की बात करते हैं जिसे तर्कसंगत बताना कठिन है-

“सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।

पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना।”²⁹

तुलसीदास इस वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत, परिवार, प्रेम तथा राजा-प्रजा के आपसी सद्भाव को भी दिखाते हैं लेकिन ब्राह्मण को छोड़कर अन्य वर्णों को निर्विकार भाव से छूट देते नहीं लगते।

“साधारण जनता ने राम को अपना त्राणकर्ता भी पाया, गुह और निषाद को अपनी छाती से लगाने वाला भी पाया। एक तरह से जनसाधारण की भक्ति-भावना के भीतर समाये हुए समान प्रेम का आग्रह भी पूरा हुआ, किंतु वह सामाजिक ऊँच-नीच को स्वीकार करके ही, राम के चरित्र द्वारा और तुलसीदास जी के आदेशों द्वारा सदाचार का रास्ता भी मिला। किन्तु वह मार्ग कबीर के और अन्य निर्गुणवादियों के सदाचार का जनवादी रास्ता नहीं था।”³⁰

पुराणों और स्मृतियों के जो विचार थे कि शूद्र वेद पाठ नहीं कर सकते, मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकते। इससे तुलसी भी प्रभावित हुए और उन्होंने जाति-निरपेक्ष भाव से, कुछ जगहों पर, ईश्वर और ज्ञान को भक्तों और देश प्रेमियों के लिए सुलभ कर दिया -

“निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।

सगुन उपासक संग तहं रहहिं मोच्छ सब त्यागि।”³¹

दूसरी तरफ जाति व्यवस्था के मूलभूत आधारों पर विशेषकर गैर-ब्राह्मण लोगों ने अपनी सामाजिक विश्व दृष्टि के चलते प्रश्न किए, जिसमें कबीर, रैदास का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। सदियों पहले महात्मा बुद्ध ने जन्म के आधार पर जातियों के औचित्य को चुनौती दी थी। बुद्ध का विचार मुख्य रूप से ब्राह्मणवाद- विरोधी था। यद्यपि ब्राह्मणवाद का इस तरह के विरोध अधिक लम्बे समय तक कुछ विशेष बिगाड़ न सके - “जो भक्ति आंदोलन जनसाधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका ‘मनुष्य-सत्य’ बोलता था, उसी भक्ति आंदोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके, और अनन्तर जनता के अपने तत्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।”³²

लेकिन ये विरोध पूरी तरह से समाप्त नहीं हुए। ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध खासकर संत कवियों ने लगातार अपनी आवाज को बुलंद किया था वह सामयिक रूप से दब जाने पर भी सदा के लिए चुप होने वाली नहीं थी। मध्यकालीन चारों धाराओं के कवियों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। ‘भक्ति’ और ‘प्रेम’ उनके मूल में है लेकिन इसका आधार अलग-अलग है। इस संदर्भ में डॉ. युगेश्वर का विचार महत्वपूर्ण है - “तुलसी का आंदोलन उदार ब्राह्मण आंदोलन है जबकि सूर की गोपियाँ, कृष्ण, वृंदावन तथा नंद-यशोदा आदि चरित में भारत के मध्यवर्गी यादव जाति का प्रभाव है, जो गो-पालन, कृषि कर्म आदि करती थी और समय पाकर राज्य भी करती थी। इनकी अपेक्षा कबीर की वाणी में भारत की अछूत या अन्त्यज कही जाने वाले जातियों की पीड़ा और आक्रोश है। इस प्रकार भक्ति काव्य के आंदोलन को हम द्विज, शूद्र और हरिजन इन तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। यही कारण है कि तुलसी की वाणी में मर्यादा, संयम और शास्त्रानुमोदन की चर्चा बार-बार है। सूर इनके विरोधी नहीं हैं। किन्तु शास्त्र और संयम उनका आधार नहीं है।”³³

पूरे मध्यकाल में हिन्दू और मुस्लिम समाज के बीच संघर्ष की स्थिति बनी रही। इस संघर्ष की झलक 'पदमावत' में देखी जा सकती है। पदमावत का युद्ध सिर्फ दो राजाओं रतनसेन और अलाउद्दीन के बीच का नहीं है, बल्कि वह हिन्दुओं और तुर्कों के बीच का भी युद्ध है।

“संपूर्ण सल्तनत और मुगल-काल को गौर से देखने से पता चलता है कि आरंभ में विदेशी आक्रमण सिर्फ सैनिक तौर पर ही नहीं, सामाजिक और राजनैतिक तौर पर भी हुए थे। इस्लाम के धर्मांध प्रचार की प्रक्रिया में हिन्दू भावनाओं को गहरी ठेस पहुँची थी और समाज का ढाँचा इससे प्रभावित हुआ था। तारीखे-दाऊद के अनुसार सिकंदर लोदी (1489-1517) ने मंदिर तोड़कर मूर्तियाँ कसाइयों को दे दी थीं ताकि वे उनसे मांस तोलने के बाट बनाकर हिन्दू भावनाओं से खिलवाड़ कर सकें।”³⁴

हिन्दुओं ने भारतीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा के लिए मुस्लिम सत्ता का विरोध किया। इस संघर्ष का मुख्य कारण यह था कि हिन्दुओं को प्रायः मुस्लिम धर्मांधता के कोप का शिकार होना पड़ता था। हिन्दू समाज का दोष यह था कि उसने जाति प्रथा को समाप्त करके समानता के आधार पर समाज को संगठित नहीं किया। मुस्लिम समाज की समस्या यह थी कि उसका समस्त दृष्टिकोण धर्म सापेक्ष था। उनका यह दृष्टिकोण कि मुस्लिम राज्य में एक धर्म, एक समाज की व्यवस्था हो, हिन्दुओं के साथ सहयोग तथा समन्वय के मार्ग में बाधा था। दोनों के मध्य शासक और शासित वाला संबंध भी कटुतापूर्ण था।

3.1 रामकाव्य में अभिव्यक्त समाज व्यवस्था

3.1.1 वर्ण और जाति

तुलसीदास सनातनधर्मी थे। जिस प्रकार मुसलमानों ने हिन्दुओं के लिए 'काफिर' शब्द का प्रयोग किया है उसी प्रकार तुलसीदास ने यवन या तुर्क शासकों को म्लेच्छ या निशाचर रूप में देखा। उन्होंने उनके धार्मिक अत्याचारों का चित्रण सांकेतिक रूप में असुरों के अत्याचार के रूप में किया है, जहाँ वे सब वेद-विरुद्ध कार्य कर रहे हैं -

“करहिं उपद्रव असुर निकाया। नाना रूप धरहिं करि माया।

जेहि विधि होइ धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला।”³⁵

तुलसीदास के सामने मुख्य रूप से दो समस्या थी पहला इस्लाम की धार्मिक कट्टरता जो कि हिन्दुओं को काफिर समझता था और अपने मजहब का विकास तलवार के बल पर करना चाहता था जिसमें वह बहुत हद तक सफल भी हुआ। इस स्थिति में तुलसीदास के सामने चुनौती, हिन्दू धर्म को बचाने और उसे संगठित बनाये रखने की थी। दूसरी समस्या ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता को बचाये रखने की भी थी।

अक्सर राजपूत राजाओं के आपसी मतभेद को इस्लाम से पराजय के रूप में देखा जाता है, लेकिन इसके साथ महत्वपूर्ण बात यह थी कि हिन्दू समाज वर्ण-व्यवस्था में और उसके अंतर्गत कई उप-जातियों में बँटा हुआ था। यह माना जाता था कि युद्ध करना केवल क्षत्रियों का धर्म है। यदि किसी युद्ध में सारे क्षत्रिय मारे जाते हैं तो इसका मतलब होता कि ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र अपने को गुलाम बना लें। यदि तुलसीदास की मुख्य चिंता इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू धर्म को बचाने की थी तो उन्हें हिन्दू समाज के वर्ण के रूप में बँटवारे को स्वीकार नहीं करना चाहिए था। वे तत्कालीन समय की विसंगतियों का विरोध पौराणिक मुहावरे में करते हैं। लेकिन तत्कालीन विसंगतियों का विरोध तत्कालीन मुहावरे में उनके यहाँ लगभग नहीं दिखायी पड़ता है। “एक कट्टर ब्राह्मण होने के नाते वे (तुलसी) मुसलमानों तथा शूद्रों दोनों के ही प्रति उदार नहीं हो सके, लेकिन उनके राक्षस और असुर, तथा उनके कार्य, बहुधा पूर्ववर्ती आक्रांताओं के प्रतिबिंबित जुल्म हैं। उस युग में युद्ध के चार आतंक थे- आग, अकाल, मौत, लूटपाट। थोड़ा आश्चर्य इस बात पर अवश्य होता है कि लोक भाषाओं के सूर और तुलसी जैसे महान कवियों ने भी खिलजी और अफगानों के हमलों की कहीं भी प्रत्यक्ष चर्चा नहीं की। असुरों की माया तथा विध्वंस लीला के रूप में ये ऐतिहासिक संस्मरण भी अद्भुत और मिथकीय बना दिये गये हैं। इस तरह हम राम राज्य और रावण के खलनायकत्व की ऐसी संरचना को मध्यकाल के पौराणिकीकरण का पहला सर्वप्रधान तत्व मानते हैं। इसके अलावा उन्होंने आदर्श समाज (ग्राम इकाई), आदर्श संत, आदर्श परिवार और आदर्श नीति के जो प्रतिमान पेश किए हैं वे नाना पुराण निगमागम-सम्मत हैं।”³⁶

तुलसीदास का समय केवल राजनैतिक रूप से नहीं बल्कि धार्मिक रूप से भी आपसी द्वेष-भाव और वैमनस्यता का था। विविध मत-मतान्तरों और संप्रदायों के कारण धर्म की मूल भावना लुप्त हो गयी थी -

“कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथा

दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथा।”³⁷

तुलसी ने नाथ-सिद्धयोगियों की कर्म-उपासना पर प्रहार किया। उनके अनुसार नाथ-पंथियों की गुह्य साधनाओं से जनसाधारण पर कुप्रभाव पड़ रहा था। उन्होंने वज्रयानियों, कापालिकों, पाशुपतों इत्यादि पर आक्षेप किया -

“असुभ वेष भूषन धरें भच्छाभच्छ जे खाहिं।

तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं।”³⁸

संत कवियों ने जिस वर्ण व्यवस्था का विरोध किया तुलसी ने उत्तम राज्य के लिए उसे आवश्यक बताया। तुलसी वर्णाश्रम-धर्म के कट्टर समर्थक थे। वे वर्णाश्रम धर्म की दुर्दशा पर बहुत आहत होते हैं। उसकी शोचनीय स्थिति का उल्लेख ‘रामचरितमानस’, ‘कवितावली’ इत्यादि में बार-बार करते हैं -

“बर्न-बिभाग न आश्रम धर्म, दुनी दुख-दोष-दरिद्र-दली है।”³⁹

तुलसी वर्ण व्यवस्था के अंतर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों के गुण धर्म एवं तत्कालीन स्थितियों के संदर्भ में लिखते हैं कि वही ब्राह्मण शोचनीय है जो अपने धर्म का पालन नहीं करता तथा विषय भोग में लिप्त रहता है। इसी प्रकार यदि राजा, वैश्य और शूद्र अपने कर्म से विचलित होते हैं तो स्थिति शोचनीय है -

“सोचिअ बिप्र जो वेद बिहीना। तजि निज धरमु विषय लयलीना।

सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना।

सोचिअ बयसु कृपन धनवानू जो न अतिथि सिव भगति सुजानू।

सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ग्यान गुमानी।”⁴⁰

तुलसीदास वर्णव्यवस्था के लिए वेद का संदर्भ बार-बार लेते हैं। बहुत सारे विद्वानों का मानना है कि वेद में या वैदिक-कालीन समाज में चतुर्वर्ण का कोई उल्लेख नहीं है - “ऋग्वेद में तीन ही वर्ण हैं, शूद्र को चौथे वर्ण के रूप में वहाँ गिना नहीं गया है। शतपथ-ब्राह्मण और तैत्तिरीय-ब्राह्मण भी तीन ही वर्णों की स्थिति बतलाते हैं। ऐसी अवस्था में यह मानने का क्या आधार हो सकता है कि इन तीन वर्णों के सिवा, आर्यों के समाज में बहुत से ऐसे भी लोग थे, जिन्हें आर्यों ने कोई नाम नहीं दिया था? इससे युक्ति-युक्त संभावना यही हो सकती है कि शूद्र भी किसी न किसी प्रकार के, द्विज थे और उनका स्थान, घट-बढ़कर क्षत्रियों के ही समान था।”⁴¹

तुलसीदास का जो वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था या ब्राह्मणवादी और गैर-ब्राह्मणवादी मूल्यों को लेकर चिंतन है उसे हमें तुलसी पर हुए शोध या आलोचनात्मक ग्रंथों से पहले उन्हीं के काव्य-संदर्भों से देखना चाहिए। उस तरह की कुछ काव्य-पंक्तियों को उद्धृत करना समीचीन होगा जिस आधार पर उन्हें समतामूलक मूल्यों का चिंतक या वर्ण व्यवस्था को लेकर निष्पक्ष विचार रखने वाला महाकवि माना जाता है। -

“द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासना। कोउ नहिं मान निगम अनुसासना।”⁴²

अर्थात् ब्राह्मण वेदों को बेचने वाला और राजा प्रजा को खा डालने वाले हो रहे हैं। वेद की आज्ञा कोई नहीं मान रहा।

“ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभयलोक निज हाथ नसावहिं।

बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी।”⁴³

अर्थात् नीची जातियों के लोग अपने को ब्राह्मणों से पुजवा रहे हैं और अपने ही हाथों दोनों लोक नष्ट कर रहे हैं। ब्राह्मण अपढ़, लोभी, कामी, आचारहीन, मूर्ख और नीची जाति की व्यभिचारिणी स्त्रियों के स्वामी हो रहे हैं। उपर्युक्त पहली पंक्ति में तुलसी बताते हैं कि नीची जाति को परलोक का भय नहीं रह गया, दोनों लोक बिगाड़ रहे हैं क्योंकि उनके कर्म वर्ण व्यवस्था के प्रतिकूल हैं। दूसरी पंक्ति में बताते हैं कि ब्राह्मण, लोभी, कामी, आचारहीन बन गये हैं, वे नीची जाति की स्त्रियों

के स्वामी बने हैं। यह तत्कालीन समय-समाज की दशा का भी चित्रण है कि किस प्रकार से सवर्ण और सामंतों द्वारा छोटी जाति की स्त्रियों को प्रताड़ित किया जाता था -

“प्रभु के बचन, बेद-बुध सम्मत, मम मूर्ति महि देव मई है।

तिनकी मति रिस-राग-मोह-मद, लोभ लालची लीलि लई है।”⁴⁴

अर्थात् प्रभु या ईश्वर के वचन हैं कि ब्राह्मण साक्षात् मेरा ही स्वरूप है, पर आज उन ब्राह्मणों की बुद्धि को क्रोध, आसक्ति, मोह, मद और लोभ लालच ने निगल लिया है। तुलसीदास उपर्युक्त दूसरी पंक्ति में ब्राह्मणों की तत्कालीन दशा का यथार्थ चित्रण करते हैं। उन्हें मद, लोभ, आसक्ति, क्रोध, लालच इत्यादि ने घेर लिया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इसको कहने से पहले वे पहली पंक्ति में ब्राह्मण समुदाय की श्रेष्ठता की पैरवी कर चुके होते हैं। वेदों के रूप में ईश्वर के मुख से कहलवा दिया कि ब्राह्मण मेरा ही साक्षात् स्वरूप है।

“जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि अस नारि।

महामंद मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहि बिसारि।”⁴⁵

(शबरी के संदर्भ में) जो नीच जाति की और पापों की जन्मभूमि थी (अथवा, पृथ्वी पर जन्म से ही पापी थी), ऐसी स्त्री को भी उन्होंने (राम ने) मुक्त कर दिया।

अक्सर यह कहा जाता है कि राम ने शबरी का उद्धार किया। कर्मफलवादी तुलसीदास की विश्वदृष्टि तत्कालीन शास्त्रवादियों से अलग नहीं थी जो हमेशा ही गैर-ब्राह्मणवादी समुदाय को परलोक का भय और लोभ दोनों दिखाते रहे। शबरी को या उसके समुदाय को परलोक का भय और लोभ दोनों दिखाते रहे। शबरी को या उसके समुदाय को तत्कालीन समाज में सम्मान उसकी भक्ति के द्वारा तुलसी दिलाते हैं। वे शबरी के द्वारा स्वयं के लिए नीच जाति, अधम, पापों की खान, मूर्ख इत्यादि विशेषणों का प्रयोग करवाते हैं। मानस मर्मज्ञों द्वारा यह भी तर्क दिया जाता है कि यह शबरी की विनयशीलता, प्रेम और भावुकता है, परंतु इस विनयशीलता का संबंध जाति से क्या है? कहा जा सकता है कि पिछले जन्मों के कर्मों के फलस्वरूप उसका जन्म उस जाति में हुआ, जिसे आज का बुद्धिवादी मनुष्य नहीं स्वीकार कर सकता।

देखि दूरि तें कहि निजनामू कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामू।

जानि राम प्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा।”⁴⁶

यह कहा जाता है कि ‘रामचरितमानस’ में छुआछूत या छोटे-बड़े का कोई भेदभाव नहीं है। यदि ऐसा होता तो ‘निषाद’ को कोई गले नहीं लगाता। उपर्युक्त पंक्ति में निषादराज वशिष्ट मुनि को दूर से ही अपना नाम बताकर दंडवत प्रणाम करते हैं। वशिष्ट मुनि को गले न लगवाकर तुलसी ने ब्राह्मणत्व धर्म की रक्षा कर ली है। यदि निषाद से गले मिलते भी हैं तो क्षत्रिय कुल के भरत। दंडवत करते देख वशिष्ट मुनि के हृदय में प्रेम नहीं उमड़ा लेकिन भरत के हृदय में वह प्रेम फूट पड़ा। यह तत्कालीन समय की आचार-संहिता थी जहाँ ऋषि-मुनि निम्न वर्ग को आशीष दिया करते थे, न कि गले लगाकर भ्रातृत्व-प्रदर्शन करते थे -

“करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।

मनहु लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ।”⁴⁷

उपर्युक्त संदर्भ में रांगेय राघव की टिप्पणी महत्वपूर्ण है -

“तुलसी ने वर्णाश्रम का प्रचार किया। ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया। वेद-विरोधी संप्रदायों पर गहरी चोट की। समाज में जो निम्न वर्गों का आंदोलन ब्राह्मण सर्वाधिकार के विरुद्ध चल रहा था; उसे गहरी चोट दी, बल्कि वह आंदोलन ही नष्ट कर दिया। ...केवट इत्यादि के रूप में तुलसी ने जो निम्न जातियों का महत्व बढ़ाया वह इसलिए कि वे राम के प्रति वफादार थे।”⁴⁸ रांगेय राघव यह नहीं बताते कि भक्ति आंदोलन से इतर कौन-से वर्गीय या वर्णीय आधारों पर आंदोलन उस समय चल रहे थे। वे इस तथ्य को भी भुला रहे हैं कि तुलसीदास मानस में कथा-सूत्रों और कथा-पात्रों से बंधे हुए थे -

“मेरे जाति-पांति न चहौं काहू की जाति-पांति,

मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।”⁴⁹

अर्थात् मेरी कोई जाति-पांति नहीं है और न मैं किसी की जाति-पांति चाहता हूँ।

उपर्युक्त काव्य पंक्ति कवितावली की है। इसमें तुलसीदास मानस की तुलना में यथार्थ के करीब आते हैं। वर्णाश्रम धर्म पर टिका हुआ आदर्श समाज यहाँ टूटता हुआ प्रतीत होता है, इसलिए उनकी कविता-यात्रा में एक मोह भंग की स्थिति पैदा होती है। कवितावली में तुलसीदास जीवन के मूल प्रश्न यानी भूख, अकाल, अत्याचार इत्यादि को उठाते हैं। इस संदर्भ में कमलानंद झा का कथन महत्वपूर्ण है - “ ‘मानस’ समाज के सत्ताधारी वर्ग को एक तरह से जबर्दस्त सहारा देती है, जबकि कवितावली ऐसा कुछ नहीं दे पाती। इसके विपरीत वह कटु सत्य और यथार्थ से साक्षात्कार कराती है। ...रामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में कलियुग का प्रकोप तथा उससे मची अस्त-व्यस्तता का मूल कारण है ‘नाना पुराण निगमागम’ तथा वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना लेकिन आश्चर्य है कि कवितावली में इसका मूल कारण कुछ और ही है। वह कारण है भूख- ‘आगि बड़ वागि ते बड़ी है आगि पेट की’। इस कटु सत्य से रूबरू होने के पश्चात उन्हें लगता है कि असली रावण तो दारिद्र्य है।”⁵⁰

तुलसी बताते हैं कि सामाजिक क्षेत्र में लोग जाति-पाँति को बनाये रखना चाहते हैं, लेकिन भक्ति के क्षेत्र में जाति-पाँति, ऊँच-नीच का भेद मिट जाता है -

“जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई।

सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयं रहहु रघुराई।”⁵¹

तुलसीदास इस बात को भी बताते हैं कि समाज में सबसे बड़ा अपमान जाति का अपमान है। बावजूद इसके शूद्रों के द्वारा अपने लिए अधम, मूर्ख, पापी इत्यादि शब्दों का प्रयोग कराते हैं -

“जधपि जग दारुण दुख नाना। सब तें कठिन जाति अवमाना।”⁵²

“तुलसी भगत सुपच भलो, भजैरैन दिन राम।

ऊँचो कुल केहि काम को, जहां न हरि को नाम।”⁵³

अर्थात् जहाँ ईश्वर की भक्ति नहीं वहाँ ऊँचा कुल, वंश किसी काम का नहीं है।

तुलसीदास जी धर्म के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण बात कहते हैं कि-

“परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।”⁵⁴

अर्थात् दूसरों की भलाई के समान कोई पाप नहीं है। उनके अनुसार समाज की हालत यह थी कि-

“मारग सोइ जा कहुं जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।

मिथ्यारंभ दंभ रत जोइ। ता कहुं संत कहइ सब कोई।”⁵⁵

अर्थात् जिसको जो अच्छा लग जाए, वही मार्ग है। जो डींग मारता है वही पंडित है। जो मिथ्या आडम्बर रचता है जो दम्भ में रत है, उसी को सब कोई संत कहते हैं।

अब उन काव्य पंक्तियों को देखना उचित होगा जिनमें ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता की झलक दिखाई पड़ती है।

“बंदउं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित संसय सब हरना।”⁵⁶

अर्थात् पहले पृथ्वी के देवता ब्राह्मणों के चरणों की वंदना करता हूँ, जो अज्ञान से उत्पन्न सब संदेह को हरने वाले हैं।

“बिप्र धेनु सुरसंत हित लीन्ह मनुज अवतार।

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार।”⁵⁷

ब्राह्मण, गौ, देवता तथा संतों के लिए भगवान ने मनुष्य का अवतार लिया। सवाल यह है कि इसमें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्य लोग कहाँ हैं?

“उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्रचरन देखत मन लोभा।”⁵⁸

तुलसीदास जी भृगु मुनि के संदर्भ में लिखते हैं कि ब्राह्मण का चरण देखते ही मन लुभा जाता है।

“करइ बिचारू कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाजु कवनि बिधि राती।”⁵⁹

वह दुर्बुद्धि नीच जाति वाली दासी विचार करने लगी कि किस प्रकार से यह काम रात ही रात में बिगड़ जाए। यदि कोई खल पात्र है तो इसका संबंध उसके आचरण और व्यवहार से होना चाहिए। दुर्बुद्धि तो ठीक है कि खल पात्रों की सोच निकृष्ट है लेकिन उसका संबंध जाति से क्या है?

“अवगुन तजि सब के गुन गहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं।”⁶⁰

अर्थात् जो अवगुणों को छोड़कर सबके गुणों को ग्रहण करते हैं; ब्राह्मण और गौ के लिए संकट सहते हैं, उनका सुंदर मन आपका घर है। यदि तुलसीदास चतुर्वर्ण में सबकी समान भूमिका देखते हैं तो इसमें अलग से ब्राह्मणों के लिए संकट सहने की क्या जरूरत है यानी तुलसी ब्राह्मणों को श्रेष्ठ वर्ण के रूप में देखते हैं। उनके यहाँ वर्ण व्यवस्था के निर्धारण में पहली शर्त यह है कि ब्राह्मणों के चरणों में प्रीति होनी चाहिए -

“प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निजकर्म निरत श्रुति रीती।”⁶¹

“मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेवा।

मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देवा।”⁶²

मन, वचन और कर्म से कपट छोड़कर जो भूदेव ब्राह्मणों की सेवा करता है, मुझ समेत ब्रह्मा, शिव आदि सब देवता उसके वश में हो जाते हैं, यानी तुलसीदास ब्राह्मणों की सेवा और श्रेष्ठता की बात करते हैं।

“सुनु गंधर्व कहउ मैं तोही, मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही।”⁶³

हे गंधर्व! सुनो, मैं तुम्हें कहता हूँ, ब्राह्मण कुल से द्रोह करने वाला मुझे नहीं सुहाता। द्रोह किसी भी वर्ण और जाति के लिए उचित नहीं होता लेकिन तुलसी को ब्राह्मणों के प्रति द्रोह अनुचित लगता है।

“सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता।

पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रवीना।”⁶⁴

अर्थात् शाप देता हुआ, मारता हुआ, कठोर वचन कहता हुआ ब्राह्मण पूजनीय है, ऐसा संत कहते हैं। शील और गुण से हीन ब्राह्मण पूजनीय है और गुणों से युक्त ज्ञान में निपुण शूद्र पूजनीय नहीं है। उपर्युक्त चौपाई अपने आप में व्याख्या है। बहुत-से बुद्धिवादी आलोचक इसका औचित्य महाकाव्य की विवशता, पात्रों के संवादों का मनोविज्ञान इत्यादि के आधार पर बताते रहे हैं।

“मसक दंस बीते हिम त्रासा। जिमि द्विज द्रोह किए कुल नासा।”⁶⁵

अर्थात् मच्छर जाड़े के डर से इस प्रकार नष्ट हो गए जैसे ब्राह्मण के साथ वैर करने से कुल का नाश हो जाता है। सही मायने में देखा जाए तो वैर तो किसी भी वर्ण, समुदाय के साथ करना उचित नहीं है। ऐसे में तुलसी केवल 'ब्राह्मण' को चिह्नित क्यों करते हैं?

“चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई।”⁶⁶

अर्थात् मैंने अंतिम शरीर ब्राह्मण का पाया, जिसे वेद और पुराण देवताओं को भी दुर्लभ बताते हैं -

“सुनु मम बचन सत्य अब भाई। हरितोषन व्रत द्विज सेवकाई।

अब जनि करहि बिप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना।”⁶⁷

अर्थात् द्विजों की सेवा ही भगवान को प्रसन्न करने वाला व्रत है। तुलसीदास इस संसार में एक ही पुण्य मानते हैं - मन, कर्म और वचन से ब्राह्मणों की सेवा।

“पुन्य एक जग महुं नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा।

सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपटु करइ द्विज सेवा।”⁶⁸

तत्कालीन समाज में वर्ण व्यवस्था टूट रही थी और वर्ण-संकरता की स्थिति थी। शूद्र जनेऊ धारण करने लगे थे -

“सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।”⁶⁹

अर्थात् ब्राह्मणों को शूद्र ज्ञानोपदेश देते हैं और गले में जनेऊ डालकर दान लेते हैं। इतना ही नहीं वे पुराणों का पाठ भी करते हैं -

“सूद्र करहिं जप तप व्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना।”⁷⁰

शूद्र नाना प्रकार के जप, तप और व्रत करते हैं तथा ऊँचे आसन पर बैठकर पुराण कहते हैं। शूद्र ब्राह्मणों से तर्क-वितर्क करते हैं -

“बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।

जानइ ब्रह्म सो बिप्रबर आंखि देखावहिं डाटि।”⁷¹

अर्थात् शूद्र ब्राह्मणों से विवाद करते हैं कि हम क्या तुमसे कुछ कम हैं? शूद्रों का कहना है कि- जो ब्रह्म को जानता है वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है यह कहते हुए वे उन्हें डाँटकर आँख दिखाते हैं।

“कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका।”⁷²

जो तर्क करते हैं और वेद की निंदा करते हैं, वे लोग कल्प-कल्प भर नरक में पड़े रहते हैं। तुलसीदास को शूद्र समुदाय का वाद-संवाद या ज्ञान-विज्ञान से जुड़ना ठीक नहीं लगता। तुलसी की दृष्टि में शूद्र या सेवक का कार्य संवादहीनता की स्थिति में रहते हुए चुपचाप सेवा करना है। इसके अलावा कुछ भी करने का मतलब है अपने आपको शत्रु रूप में प्रस्तुत करना -

“सेवकु सो जो करै सेवकाई। अरि करनी करि करिअ लराई।”⁷³

तुलसीदास उसी जन्म को धन्य मानते हैं जिसमें ब्राह्मणों की अखंड भक्ति हो -

“धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा।”⁷⁴

अंत में तुलसीदास कहते हैं कि इस रामकथा को सुनने का अधिकारी वही हो सकता है जो ब्राह्मणों का सेवक है। बिप्र द्रोही को तो बिल्कुल ही इस कथा को नहीं सुनाना चाहिए।

“द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहुँ। सुरपति सरिस होइ नृप जबहुँ।

राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सत संगति अति प्यारी।”⁷⁵

अर्थात् ब्राह्मणों के द्रोही को, यदि वह देवराज इन्द्र के सामन ऐश्वर्यवान राजा भी हो, तब भी यह कथा कभी नहीं सुनानी चाहिए। श्रीराम के कथा के अधिकारी वे ही हैं जिनको सत्संगति अत्यंत प्रिय है। यह बहुत ही अच्छी बात है कि दूसरी पंक्ति में तुलसी ने सच्ची संगति की बात कहकर भले इंसानों के लिए एक मार्ग छोड़ दिया। वे अगली पंक्ति में कहते हैं कि-

“गुरु पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई।”⁷⁶

अर्थात् जिनकी गुरु के चरणों में प्रीति है, जो नीतिपरायण हैं और ब्राह्मणों के सेवक हैं वे ही इस कथा के अधिकारी हैं। उपर्युक्त पंक्ति में गुरु के चरणों में प्रीति का संबंध ज्ञान और आदर से है और नीति निपुण होना भी आवश्यक है लेकिन ब्राह्मणों के चरणों का सेवक होना; इस कथा को सुनने के लिए उचित बताना तर्कसंगत नहीं ठहरता।

“तुलसीदास छोटी जातियों की शिक्षा को उचित नहीं मानते।

अधम जाति मैं विद्या पाएं। भयउं जथा अहि दूध पिआएं।”⁷⁷

अर्थात् नीच जाति का मैं विद्या पाकर ऐसा हो गया जैसे दूध पिलाने से साँप हो जाता है।

कर्म के आधार पर ऊँच-नीच, मूर्ख-ज्ञानी प्रत्येक जाति में हो सकते हैं। गुह, निषाद-राज, शबरी, भल्लूक, वानर आदि उल्लेख्य हैं -

“ऊँच नीच मध्यम नर नारी। लहहिं दरसु निज निज अनुहारी।”⁷⁸

अर्थात् ऊँच, नीच और मध्यम सभी श्रेणियों के स्त्री-पुरुष अपने-अपने भाव के अनुसार श्रीराम का दर्शन प्राप्त करते हैं। उपर्युक्त पंक्ति में तुलसीदास ने बिना जातिगत आधार के मनुष्य को कर्म के आधार पर तीन श्रेणियों में बाँटा है। तुलसी की यह सोच सुसंगत है।

वैदिक काल से अब तक ब्राह्मणों को दान देने की प्रथा रही है जिसमें गौदान, भूदान इत्यादि महत्वपूर्ण थे। तुलसीदास भी इस दान को शास्त्रसम्मत बताते हुए उचित ठहराते हैं -

“चारि लच्छ बर धेनु मँगाई। काम सुरभि सम सील सुहाई।

सब बिधि सकल अलंकृत कीन्हीं। मुदित महिप महि देवन्ह दीन्हीं।”⁷⁹

तुलसीदास धर्म के चार चरणों में दान को प्रधान मानते हैं -

“प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।

जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्याण।”⁸⁰

अर्थात् धर्म के चार चरण (सत्य, दया, तप और दान) प्रसिद्ध हैं। जिसमें से कलियुग में एक दानरूपी चरण ही प्रधान है। किसी प्रकार से दिये जाने पर दान कल्याण ही करता है। ‘दान’ की पैरवी करना स्वाभाविक है क्योंकि यह तुलसी के अपने समुदाय से जुड़ा हुआ है। शूद्रों को दान देने का प्रबंध भारतीय धर्म ग्रंथ में नहीं है। यदि जीवन-यापन के लिए शूद्र को कुछ दिया भी जाता है तो धर्म के चार चरणों से उसका कोई संबंध नहीं है। ‘दान’ की तुलना में ‘सत्य’ और ‘दया’ ज्यादा ही महत्वपूर्ण चरण हैं, लेकिन तुलसी यहाँ कलियुग की बातें कर रहे हैं, जहाँ सभी स्वार्थी हो गये हैं, दान के महत्व को नहीं समझना चाहते। तुलसीदास विविध जनजातियों का उल्लेख करते हैं-

“स्वपच सबर खस जमन जड़ पावंर कोल किरात।

रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात।”⁸¹

यहाँ कोल, किरात और भील जनजातियों का उल्लेख है जो साधु समाज को शहद और कंद, मूल, फल देते हैं -

“कोल किरात भिल्ल बनबासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी।

भरि भरि परन पुटी रचि रूरी। कंद मूल फल अंकुर जूरी।

सबहि देहिं करि बिनय प्रनामा। कहि कहि स्वाद भेद गुन नामा।

देहिं लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं।”⁸²

वे सबको विनयपूर्वक प्रणाम करके उन चीजों का अलग-अलग स्वाद, प्रकार, गुण और नाम बताकर देते हैं। लोग उनका बहुत दाम देते हैं, पर वे नहीं लेते और लौटा देने में श्रीराम की दुहाई देते हैं। तुलसीदास ने भीलों के काम-काज का भी उल्लेख किया है -

“देब काह हम तुम्हहिं गोसांई। ईधन पात किरात मिताई।”⁸³

अर्थात् हे प्रभु! हम आपको क्या देंगे? भीलों की मित्रता तो बस ईधन (लकड़ी) और पत्तों तक ही है। जनजाति समुदाय द्वारा इतना आदर-सत्कार करने के बावजूद भी तुलसी उनकी व्याख्या नीच, कुटिल, कुमति, पाप करने वाला इत्यादि के रूप में उन्हीं के मुख से करते हैं -

“तुम्ह सुकृति हम नीच निषादा। पावा दरसन राम प्रसादा।”⁸⁴

अर्थात् आप तो पुण्यात्मा हैं। हम नीच निषाद हैं। श्रीराम की कृपा से ही हमने आप लोगों के दर्शन पाये हैं -

“हम जड़ जीव गन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाति।”⁸⁵

अर्थात् हम लोग जड़ जीव हैं, जीवों की हिंसा करने वाले हैं, कुटिल, कुचाली, कुबुद्धि और कुजाति हैं -

“पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहीं पेट अघाहीं।”⁸⁶

अर्थात् हमारे दिन-रात पाप करते ही बीतते हैं, फिर भी न तो कमर में कपड़ा है और न पेट ही भरते हैं। यह उनकी दशा है फिर भी उनकी विनयशीलता, नम्रता का बखान तुलसी करते हैं। आज भी उनकी हालत लगभग वैसी है, वे गरीब और उदार हैं।

3.1.2 स्त्री जीवन

तुलसीदास दो तरह की स्त्रियों को चित्रित करते हैं। एक आदर्श नारी जिसमें अनुसूया, सीता, कौशल्या, मंदोदरी, शबरी इत्यादि हैं; जिनका मुख्य धर्म पतिव्रत वाला है, अथवा भक्ति वाला। कभी-कभी ये स्त्रियाँ सामाजिक और राजनैतिक जीवन में सलाह देती हुई भी पायी जाती हैं -

“सुनि लछिमन सीता कै बानी। बिरह बिबेक धरम निति सानी।”⁸⁷

लेकिन सामंती समाज में स्त्रियों के उस विवेक, नीति का कोई खास महत्व नहीं होता था जब पुरुष स्वेच्छाचारी और अधिनायक बन जाता था। मंत्री, सभासद, विभीषण और यहाँ तक कि पत्नी मंदोदरी द्वारा रावण को बार-बार समझाने पर कि राम के साथ युद्ध करना ठीक नहीं, वह उनकी राय नहीं ही मानता है -

“नाना बिधि तेहि कहेसि बुझाई। सभां बहोरि बैठ सो जाई।

मंदोदरी हृदयं अस जाना। काल बस्य उपजा अभिमाना।”⁸⁸

दूसरे प्रकार की स्त्रियों में शूर्पणखा, मंथरा और अंशतः कैकेयी इत्यादि हैं। तुलसीदास जी स्त्री-पुरुष की तीन श्रेणी बनाते हैं -

“कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि।

उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारि।”⁸⁹

अर्थात् उन सेवकों ने नम्र वचन कहकर उत्तम, मध्यम और नीच स्त्री-पुरुषों को अपने-अपने स्थान पर बैठाया। इसी प्रकार वे पतिव्रताओं की भी उत्तम, मध्यम और अधम की कोटियाँ बनाते हैं -

“उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुं आन पुरुष जग नाहीं।

मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसे।

बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई।”⁹⁰

मध्यकालीन समाज सामंती और पौराणिक, धार्मिक मूल्यों से संचालित समाज है। आज की तरह मध्यकाल में कहीं भी स्त्री-मुक्ति का प्रश्न शामिल नहीं है। उन कवियों के यहाँ स्त्री का परंपरागत शास्त्रीय स्वरूप ही दिखाई पड़ता है जिसका अंतिम धर्म पतिव्रत-धर्म है। सामंती समाज में सामान्यतः कामी पुरुषों के लिए स्त्री काम और भोग की वस्तु है -

“लोभ के इच्छा दंभ बल काम के केवल नारि।

क्रोध के परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि।”⁹¹

तत्कालीन समय और समाज में स्त्री दूसरे दर्जे की नागरिक के रूप में है। उसकी स्थिति मूल्यहीन है। उसकी क्षति से कोई विशेष क्षति नहीं है -

“बरु अपजस सह तेउं जग माहीं। नारि हानि बिसेष छति नाहीं।”⁹²

तुलसीदास तत्कालीन सामंती तथा पुरुष सत्तात्मक मानसिकता पर भी प्रकाश डालते हैं, यानी समाज का नैतिक पतन इतना अधिक हो गया है कि लोग कुलवती और सती स्त्री को छोड़कर घर में दासी को लाकर रखते हैं -

“कुलवंति निकरहिं नारी सती। गृह आनहिं चेरि निबेरी गती।”⁹³

पुरुष मानसिकता स्त्री को मूर्ख और निर्बल बताती है -

“पुरुष प्रताप प्रबल सब भांती। अबला अबल सहज जड़ जाती।”⁹⁴

अर्थात् पुरुष का प्रताप सब प्रकार से प्रबल होता है और स्त्री स्वभाव से ही निर्बल और जाति से जड़ होती है। लेकिन पुरुष की अपनी शक्ति के बावजूद भी सीता के बिना राम जंगल में डरने लगते हैं यह उनके प्रेम का ही महत्व है -

“घन घमण्ड नभ गरजत घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा।”⁹⁵

आदर्श राज्य का विकल्प देने वाले तुलसीदास स्त्रियों के लिए अलग से कोई विकल्प नहीं देते और न ही किसी प्रकार से उनकी सामाजिक मुक्ति का कोई सार्थक प्रयास प्रस्तुत करते हैं। पुरुष-सेवा और उसकी अधीनता ही सामंती पितृसत्तात्मक पुरुष को प्रिय है -

“करेहु सदा संकर पद पूजा। नारि धरमु पति देउ न दूजा।”⁹⁶

पतिव्रता या पत्नीव्रता सामाजिक संबंधों के निर्वहन के लिए उचित और वैज्ञानिक है लेकिन यह स्थिति दोनों तरफ से समान होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि दशरथ की तरह एक राजा की तीन रानियाँ हों। जब तुलसी पतिव्रता धर्म की बात करते हैं तो बात समझ में आती है कि वे मर्यादा, नीति और विवेक पर जोर देने वाले कवि हैं; सामाजिक गरिमा को बनाये रखना चाहते हैं। इसीलिए सती अनसुइया से स्त्री-धर्म पर व्याख्यान भी दिलवाते हैं, लेकिन जब वे यह कहते हैं कि पुरुष वृद्ध हो या मूर्ख उसकी सेवा करनी चाहिए तो वे कहीं-न-कहीं पुरुषवादी सोच और सामंती मूल्यों की ही पैरवी कर रहे होते हैं -

“वृद्ध रोग बस जड़ धन हीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना।

ऐसेहु पति कर किए अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना।”⁹⁷

तुलसीदास शूद्रों की तरह स्त्रियों को भी लोक-परलोक, वेद, पुराण का भय दिखाते हैं। शबरी को दोहरी पीड़ा झेलनी पड़ती है क्योंकि एक तो वह स्त्री है दूसरे जनजाति की है -

“अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महं मैं मतिमंद अघारी।”⁹⁸

लेकिन वह एकनिष्ठ भक्ति से सशक्त बनती है। ऐसा लगता है कि उस समय छोटी जाति के लोगों को पूजा-पाठ करने की सामाजिक मान्यता नहीं थी। शबरी राम से कहती है कि मैं तो नीच जाति की हूँ किस प्रकार से आपकी स्तुति करूँ? यह शबरी की विनयशीलता और भावुकता भी हो सकती है-

“केहि विधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी।”⁹⁹

तुलसीदास जी स्त्री को धर्म के नैतिक धागे में इस प्रकार बाँधना चाहते हैं कि पुरुष सत्तात्मक प्रभाव हमेशा बना रहे -

“एकइ धर्म एक व्रत नेमा। कायं बचन मन पति पद प्रेमा।”¹⁰⁰

तुलसी के यहाँ लोक और शास्त्र का द्वंद्व भी दिखायी पड़ता है। जिसे हम यथार्थ और आदर्श का द्वंद्व भी कह सकते हैं। जब तुलसीदास शास्त्रों का पुनर्पाठ करते हैं तो उन्हें स्त्री मुक्ति मर्यादा के विरुद्ध जान पड़ती है -

“महाबृष्टि चलि फूटि किआरीं। जिमि सुतंत्र भए बिगरहिं नारी।”¹⁰¹

लेकिन जब तुलसी लोक की पीड़ा को महसूस करते हैं तो उन्हें स्त्री जीवन की पीड़ा भी दिखायी पड़ती है -

“कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं।”¹⁰²

तुलसीदास पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री जीवन की त्रासदी को रेखांकित करते हुए कहते हैं-

“बहुरि-बहुरि भेटहिं महतारीं। कहहिं बिरंचि रचीं कत नारी।”¹⁰³

अर्थात् माताएँ बार-बार सीता जी को भेंटती हैं और कहती हैं कि ब्रह्मा ने स्त्री जाति को क्यों रचा? अतः मध्यकालीन सामंती समाज में स्त्रियों की स्थिति संतोषजनक नहीं थी।

3.1.3 पारिवारिक जीवन

तुलसीदास ने एक आदर्श परिवार की विविध नीतियों एवं उसके संबंधों जैसे- माता-पिता, पुत्र, भाई, पत्नी इत्यादि का बखूबी वर्णन किया है। परिवार समाज की महत्वपूर्ण इकाई है। मध्यकालीन परिवार का ढाँचा आज की तरह एकल नहीं बल्कि संयुक्त था जिसमें उसके कुछ अपने नियम और आदर्श होते थे। तुलसीदास ने सीता और राम के माध्यम से एक आदर्श भारतीय दंपति की रूप रेखा सामने रखी। परिवार में माता-पिता का महत्वपूर्ण स्थान है। तुलसी ने माँ का स्थान सर्वोपरि माना है -

“जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।”¹⁰⁴

तुलसीदास कहते हैं कि जन्मों के कारक तो माता-पिता हैं लेकिन कर्मों को शुभ-अशुभ गति प्रदान करना तो विधाता के हाथ में है। तभी तो एक पिता के अनेक पुत्र अलग-अलग गुण, शील आचरण युक्त होते हैं। लेकिन पिता की सभी पर समान प्रीति रहती है। उनमें से यदि कोई मन, वचन, कर्म से पिता का भक्त होता है तो वह पुत्र, पिता को प्राणों के समान प्रिय लगता है, चाहे वह सब प्रकार से अज्ञानी ही क्यों न हो -

“कोऊ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई।

कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुं जान न दूसर धर्मा।

सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जधपि सो सब भाँति अयाना।”¹⁰⁵

पुत्र को परिवार में दीपक के समान माना गया है, जो पुत्र माता-पिता की आज्ञा का पालन करता है, वही सच्चे अर्थों में पुत्र है -

“सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी।”¹⁰⁶

जो पुत्र माता-पिता, गुरु, स्वामी आदि के वचनों का पालन करता है, वह आदर्श पुत्र की कोटि में आता है -

“गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनिमन मुदित करिअ भलि जानी।”¹⁰⁷

यदि जो ऐसा नहीं करता तुलसीदास उसे कुपुत्र की श्रेणी में रखते हैं। कुपुत्र कुल का नाश करने वाला होता है -

“जिमि कपूत के ऊपजें कुल सद्धर्म नसाहिं।”¹⁰⁸

तुलसी को भातृत्व प्रेम बहुत ही प्रिय है। इस मार्मिक दृश्य को भरत-मिलाप में देख सकते हैं। लंका में लक्ष्मण के बेहोश होने पर राम का यह विलाप भी हृदय-द्रावक है-

“सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा।

अस बिचारि जियं जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।”¹⁰⁹

तुलसी ने केवल राम और भरत का ही आपसी प्रेम नहीं दिखाया है, बल्कि वे चारों भाई एक दूसरे का आदर और प्रेम करते हैं। राम-विलाप के अनुसार संसार में पुत्र, धन, घर और परिवार सभी पुनः मिल सकते हैं लेकिन सहोदर भाई बार-बार नहीं मिलता।

3.1.4 संस्कार और प्रथाएँ

तुलसीदास जी को वैदिक परंपरा से जुड़े सारे संस्कार प्रिय हैं। वे इन संस्कारों और रीति-रिवाजों को भारतीय जीवन का प्राणाधार मानते हैं। तुलसीदास ने इन संस्कारों का उल्लेख व्यक्ति, परिवार और समाज का आदर्श जीवन बनाने के लिए किया है। उन्होंने विविध संस्कारों जैसे- विवाह, नामकरण, चूड़ा कर्म, उपनयन, अंत्येष्टि इत्यादि का उल्लेख किया है। मानस में विवाह संस्कार का विशद वर्णन मिलता है। सृष्टि-कर्म आगे बढ़ाने के अतिरिक्त विवाह एक ऐसा सूत्र है जो व्यक्ति को

परिवार और समाज से जोड़ता है। तुलसीदास ने वेद-विधि से संपन्न विवाह को ही सामाजिक मान्यता दी है। पहले राज परिवार की शादियों के लिए विवाह से पूर्व स्वयंवर रचे जाते थे -

“सुभ दिन रच्यौ स्वयंवर मंगलदायक।”¹¹⁰

इसके बाद गुरु की आज्ञा से कन्या मनपसंद वर को जयमाला पहनाती थी -

“चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई।”¹¹¹

मंगलाचार या विवाह के समय के गीत पूरे उत्तर भारत में आज भी वैवाहिक अवसरों पर गाये जाते हैं -

“जूथ जूथ मिलि सुमुखि सुनयनीं। करहिं गान कल कोकिल बयनीं।”¹¹²

विवाह के समय चौक पुराया जाना, बारात की अगवानी, कुलदेवों का पूजन, वर का पीले वस्त्र पहनना, वर की आरती उतारना, मंगल गीत गाना आदि अनेक रीति-रिवाज विवाहोत्सव में तब भी थे और आज भी देखने को मिलते हैं।

“चौके भाँति अनेक पुराई। सिंधुर मनिमय सहज सुहाई।”¹¹³

“सजि आरती अनेक बिधि मंगल सकल संवारि।

चलीं मुदित परिछनि करन गजगामिनी बर नारि।”¹¹⁴

विवाह के समय समधी से मिलन करना, वर-वधू का फेरे लेना, वर द्वारा वधू की माँग भरना ये विवाह के आवश्यक अंग हैं। फेरे होने के बाद दूल्हा-दुल्हन को कोहबर में ले जाया जाता है। भोजन के समय वधू पक्ष की स्त्रियाँ मंगल गाली गाती हैं। भोजनोपरांत पान इत्यादि दिये जाने का रिवाज आज भी प्रचलित है -

“कुअंरू कुअंरि कल भावंरि देहीं।”¹¹⁵

“राम सीय सिर सेंदुर देहीं।”¹¹⁶

“दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुंदरि चलीं कोहबर ल्याइ कै।”¹¹⁷

“पंच कवल करि जेवन लागे। गारि गान सुनि अति अनुरागे।”¹¹⁸

विदाई के समय सखियों का मिलना, माताएँ एवं घर के बड़े-बुजुर्गों का आशीर्वाद एवं सलाह इत्यादि का बहुत ही मार्मिक चित्रण तुलसीदास जी ने किया है -

“अति सनेह बस सखीं सयानी। नारि धरम सिखवहिं मुदु बानी।”¹¹⁹

विवाह संस्कार के अलावा नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन इत्यादि संस्कारों का चित्रण देख सकते हैं -

“नामकरन कर अवसरू जानी। भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी।”¹²⁰

“चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई।”¹²¹

“भए कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता।”¹²²

तत्कालीन समाज में बहुविवाह की प्रथा देखने को मिलती है। अधिकांश राजा, सामंत और अमीर एक से अधिक शादियाँ करते थे। राजा दशरथ स्वयं उसके उदाहरण हैं। उस समय बेमेल विवाह भी होते थे। राजा दशरथ को चौथेपन में पुत्र की प्राप्ति हुई थी। इस बेमेल विवाह को ‘रामचरितमानस’ में पार्वती-शिव विवाह प्रसंग में देख सकते हैं।

“तुम्ह सहित गिरि तें गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुं परौं।

घरु जाउ अपजसु होउ जग जीवत बिबाहु न हौं करौं।”¹²³

पार्वती की माता कहती हैं कि- मैं तुम्हें लेकर पहाड़ से गिर पड़ूंगी, आग में जल जाऊँगी या समुद्र में कूद पड़ूंगी, पर जीते-जी मैं इस बावले वर से तुम्हारा विवाह नहीं करूँगी। विद्यापति ने भी अपने गीतों में बेमेल विवाह पर शिव-विवाह के माध्यम से व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ की हैं। पार्वती की माँ कहती हैं- “माइ गे, हम नहिं आजु रहब एहि आँगन जौ बुढ़ होइत जमाई” ... आदि।

मध्यकालीन समाज में दहेज लेने-देने की प्रथा भी मिलती है। दहेज का उल्लेख तुलसीदास जी करते हैं -

“दाइज दियो बहु भाँति पुनि कर जोरि हिमभूघर कह्यो।”¹²⁴

तुलसीदास जी ने स्वामी-सेवक के संबंधों पर भी विचार किया है। तुलसी ने सेवक या दास का आदर्श स्वामी-भक्ति माना है। वे सेवक-सेव्य भाव के पक्षपाती रहे हैं। तुलसीदास जी सच्चा सेवक उसी को मानते हैं जो स्वामी के हितार्थ कार्य करे तथा जो सपने में भी सेवक धर्म से विचलित न हो -

“करइ स्वामि हित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई।

अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुं निज धरम न डोले।”¹²⁵

तुलसीदास जी बताते हैं कि सेवक को हाथ, पैर और नेत्रों के समान तथा स्वामी को मुख के समान होना चाहिए। स्वामी-सेवक की यह रीति प्रशंसनीय है -

“सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।

तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ।”¹²⁶

3.1.5 पर्वोत्सव और त्योहार

पर्वोत्सव एवं त्योहार सांस्कृतिक समृद्धि के प्रतीक हैं। इसके मूल में सामाजिक एकता की भावना निहित होती है। ये उत्सव मानवीय जीवन में समय-समय पर एक नवीन ऊर्जा का संचार करते रहते हैं। किसी भी पर्वोत्सव में घर और आस-पास का वातावरण उल्लास से भर जाता है। घर को पताका, ध्वज, दीपों से सजाया जाता है -

“ध्वज पताका तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा।”¹²⁷

तुलसीदास जी ने बसंतोत्सव, होली, दीपावली इत्यादि का सुंदर चित्रण किया है -

“सकल रितुन्ह सुखदायक, तामहँ अधिक बसन्त।”¹²⁸

होली आपसी मेल-जोल का त्योहार है, जहाँ छोटे-बड़े का भेदभाव मिट जाता है। इसका संबंध किसानों के जीवन से भी है। यह त्योहार उमंग और उल्लास का है -

“खेलत फागु, अवधपति, अनुज-सखा सब संग।

बरषि सुमन सुर निरखहिं सोभा अमित अनंग।”¹²⁹

इसी प्रकार दीपावली का भी सुन्दर चित्रण मिलता है -

“ललित दीपमालिका बिलोकहिं हित करि अवध धनी।

फटिक-भीत-सिखरन-पर राजति कंचन-दीप-अनी।’¹³⁰

तुलसीदास ने तीजोत्सव का बहुत ही मनोहर चित्रण किया है। तीज-पर्व वर्षा ऋतु के आरंभ होने पर श्रावण मास की तृतीया को मनाया जाता है। इस दिन स्त्रियाँ नये-नये वस्त्राभूषण पहनकर एक दूसरे से मिलने एवं झूला झूलने जाती हैं। इस अवसर पर सारंग, मलार, सोरठ इत्यादि राग गाये जाते हैं-

“झुंड-झुंड झूलन चलीं गजगामिनि बर नारि।

कुसुंभि चीर तनु सोहहीं, भूषण बिबिध संवारि।

सारंग गुंड-मलार, सोरठ, सुहव सुघरनि बाजहिं।’¹³¹

उपर्युक्त आधारों पर कह सकते हैं कि तुलसी-काव्य में समाज का स्वरूप वेद और धर्म पर आधारित है जहाँ सांस्कृतिक तत्व भी मौजूद हैं। उनके अनुसार कलियुग की भयावहता तभी टल सकती है जब सारे मनुष्य धर्म और नीति के अनुसार आचरण करें। तुलसीदास वर्ण व्यवस्था तथा वैदिक, पौराणिक आधार पर एक आदर्श राज्य का स्वप्न देखते हैं।

3.2 कृष्ण काव्य में अभिव्यक्त समाज व्यवस्था

3.2.1 वर्ण और जाति

अष्टछाप कवियों के यहाँ वर्ण व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। ऐसा माना जाता है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार पहले जातिगत नहीं बल्कि कर्म के अनुसार था यानी श्रम-विभाजन के आधार पर वर्ण व्यवस्था बनी थी। बहुत बाद में जाकर इस श्रम विभाजन में ब्राह्मण अपने कर्म को श्रेष्ठ समझने लगा और शूद्र जातियों के कर्म से छुआछूत का भाव रखने लगा। फलस्वरूप इस वर्ण व्यवस्था में धीरे-धीरे जड़ता आती चली गयी और बाद में छुआछूत, जातिगत भेदभाव इत्यादि समाज में अपना स्थान बनाने लगे। अष्टछाप के कवियों के यहाँ इस वर्ण व्यवस्था का यदा-कदा संकेत मिलता है। अष्टछाप-काव्य में चार वर्णों में से ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र की चर्चा ही मुख्यतः मिलती है। वैश्य का उल्लेख वर्ण के रूप में नहीं मिलता, पर वैश्यों के व्यवसायों एवं कार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।

अष्टछाप के कवियों के यहाँ ब्राह्मण के लिए बिप्र, द्विज, बाम्हन (कभी-कभार पंडित, पाण्डे भी) इत्यादि शब्दों का प्रयोग मिलता है।

“जानि एकादस बिप्र बुलाए, भोजन बहुत करायौ।

दीन्हौ दान बहुत नाना बिधि, इहि बिधि कर्म पुजायौ।”¹³²

प्रत्येक शुभाशुभ अवसरों पर दान देने की प्रथा प्राचीन काल से रही है। बाद में धीरे-धीरे दान का संबंध प्रेम, उदारता और आध्यात्मिक जीवन जीने की अपेक्षा पाप-पुण्य और परलोक का भय से अधिक जुड़ा होने लगा। प्रभुदयाल मीतल ब्रज क्षेत्र के ब्राह्मणों के संदर्भ में लिखते हैं कि- “धार्मिक क्षेत्र होने के कारण ब्रज में ब्राह्मणों का महत्व सदा बना रहा; चाहे उनमें अपने पूर्व पुरुषों की भाँति गुण नहीं रहे थे। ब्रज के धार्मिक स्थलों में ब्राह्मणों का मुख्य धंधा पुरोहिताई, पंडागीरी और यजवान-वृत्ति है; जो उन्हें वंश परंपरा से प्राप्त होता है। ब्राह्मणों में सबसे अधिक संख्या सनाढ्यों की और उनके बाद गौड़ों की है। गौतम, सारस्वत आदि अन्य जातियों के ब्राह्मण भी ब्रज में थोड़ी-बहुत संख्या में बसे हुए हैं।”¹³³

कंस के दरबारी श्रीधर के लिए सूरदास ने ‘बाँभन’ शब्द का प्रयोग किया है। श्रीधर ब्राह्मण है जो कृष्ण को मारने के उद्देश्य से गोकुल आता है। क्रूर कर्म करने वाले को कसाई कहा गया है। कवि श्रीधर को भी इसी कोटि का मानता है -

“श्रीधर बाँभन करम कसाई। कह्यौ कंस सौं बचन सुनाई।

प्रभु मैं तुम्हरी आज्ञाकारी। नंद-सुवन कौ आवौं मारी।

X X X X X X X X

बाँभन मारैं नहीं भलाई। अंग याकौ मैं देऊं नसाई।”¹³⁴

उपर्युक्त अंतिम पंक्ति से यह ज्ञात होता है कि उस समय यदि कोई ब्राह्मण इस तरह के नीच कर्म करता था तो उसे मृत्युदंड की जगह अंग-भंग करके छोड़ दिया जाता था। मनुस्मृति में भी ब्राह्मण के लिए ऐसे दंड का उल्लेख है। सूरदास ने पांडे शब्द का भी प्रयोग किया है -

“महराने तैं पांडे आयौ।

ब्रज घर-घर बूझत नंद-राउर पुत्र भयौ, सुनिकै उठि धायौ।

पहुंच्यौ आइ नंद के द्वारै, जसुमति देखि अनंद बढ़ायौ।

पांड़ धोई भीतर बैठारयौ, भोजन को निज भवन लिपायौ।

X X X X X X X X

नैन उधारि बिप्र जौ देखै, खात कन्हैया देखन पायौ।”¹³⁵

उपर्युक्त पद में यशोदा के मायके से एक पाँडे के आने का प्रसंग है। इसमें ब्राह्मणों के आडम्बरों या कर्मकाण्डों जैसे लिपे हुए स्थान पर अलग से भोजन बनाना, किसी के छू लेने पर भोजन का अपवित्र हो जाना, खाना तैयार हो जाने पर उसका भोग लगाकर भोजन करना इत्यादि का उल्लेख है। पाँडे भोजन तैयार हो जाने पर भोग लगाने के लिए आँख बंद करते हैं, तब तक कृष्ण आकर भोजन को जूठा कर देते हैं। इससे प्रचलित रूढ़ियों पर प्रकाश पड़ता है। कृष्ण बार-बार भोजन को जूठा कर देते हैं जिससे पाण्डे भोग नहीं लगा पा रहे हैं। इससे ब्राह्मण नाराज होता है। कवि कर्मकांड की व्यर्थता और प्रेम-भक्ति की महानता को सहज ही व्यक्त कर देता है -

“पाँडे नहिं भोग लगावन पावै।

करि करि पाक जबै अर्पत है, तबहीं तब छवै आवै।

इच्छा करि मैं बाम्हन न्यौत्यौ, ताकों स्याम खिझावै।”¹³⁶

“जो वर्ण-व्यवस्था बच्चों को भी जाति-पाँति से ऊपर नहीं मानती, बच्चों के निर्मल निश्छल हृदय में ईश्वर को न देखकर जातीय उच्चता एवं आचार की इस शुद्धता में ईश्वर को टटोलती है, वह समाज के लिए शुभ और स्वस्थ नहीं है। शुचिता पर आधारित वर्ण एवं जाति के असमतावाद पर सूर की यह काव्योक्ति छुआछूतवादियों को लजवा कर संकीर्णता से छुट्टी दिलाने एवं सबको समान समझने वाले बोध-निर्माण का उपाय है।”¹³⁷

अष्टछाप-काव्य में क्षत्रिय के लिए छत्री, ठाकुर, राजा आदि शब्द मिलते हैं। ठाकुर शब्द एक प्रतिष्ठा-सूचक शब्द भी था -

“मारे छत्री इकइस बार। यौं भयौ परसुराम अवतार।”¹³⁸

“राजा भये तिहारे ठाकुर। अरू कुबिजा पटरानी।”¹³⁹

तत्कालीन समय में ठाकुर शब्द से पदाधिकारी का भी बोध होता था। एक 'विनय के पद' में खेती के रूपक में यह शब्द एक जाति-विशेष का सूचक है -

“धर्म जमानत मिल्यौ न चाहै, तातै ठाकुर लूटौ।”¹⁴⁰

ठाकुर की पत्नी को ठकुरानी कहा जाता था।

“सूरदास प्रभु तहं पग धारे, जहं दोऊ ठकुरानी।”¹⁴¹

प्राचीन काल में राज्य और प्रजा की रक्षा के साथ-साथ ब्राह्मणों को दान देना और शरणागत की रक्षा करना भी क्षात्र-धर्म के अंतर्गत आता था। भागवत प्रसंग में द्वारिका से लौटने पर खिन्न अर्जुन से उनकी खिन्नता का कारण जानने के लिए युधिष्ठिर द्वारा पूछे गये अनेक प्रश्नों में दो प्रश्न यह भी हैं कि किसी ब्राह्मण को दान न देने से या शरणागत की रक्षा न करने से तो कहीं तुम अप्रसन्न नहीं हो?

“काहू असत्कार तोहिं कियौ। कै कहि दान न द्विज कौं दियौ।

कै सरनागत कौं नहिं राठयौ। कै तुमसौं काहू कटु भाष्यौ।”¹⁴²

अष्टछाप में शूद्रों का उल्लेख उस रूप में नहीं मिलता जिस प्रकार तुलसीदास के यहाँ प्राप्त होता है। सूरदास श्रीकृष्ण और कुब्जा के अनमेल संबंधों की तुलना शूद्र और ब्राह्मण से करते हैं -

“जैसे कंचन कांच बराबरि, गेरु काम सिंदूर।

भोजन साथ सूद्र बाम्हन के, तैसौ उनकौ साथ।”¹⁴³

अष्टछाप-काव्य में विविध जातियों, उपजातियों का उल्लेख मिलता है जैसे- सुनार, कुम्हार, बंजारा, अहीर इत्यादि।

3.2.2 स्त्री जीवन

हालाँकि अष्टछाप के कवियों की नारी विषयक दृष्टि तत्कालीन सामंती ताने-बाने से ही बनी है; फिर भी उनमें अंतर इतना है कि अन्य भक्त और संत कवियों की तुलना में कृष्ण भक्त कवियों की नारियाँ अधिक स्वतंत्र हैं। तुलसीदास की तरह पौराणिकता, सामंती नैतिकता, मर्यादा इत्यादि वाली कथासूत्र की बाध्यता यहाँ हावी नहीं है। ऐसा नहीं कि ये कृष्ण भक्त कवि परंपरागत रूढ़ियों का विरोध कर स्त्री मुक्ति की बात करते हैं; बस इतना है कि उन परंपरागत मूल्यों का निर्वहन पुनर्पाठ की तरह नहीं

बल्कि जीवन के सहज मूल्य के रूप में करते जहाँ स्वतंत्रता भी है और सामंती रूढ़ियाँ भी हैं। कृष्ण भक्त कवियों की महत्वपूर्ण विशेषता है कि जिन मूल्यों से वे सामंजस्य नहीं बैठा पाते हैं; उसके प्रति मुखर विरोध के भाव की जगह उपेक्षा का भाव रखते हैं - “भक्त साधकों की दूसरी धारा शास्त्र और परिस्थिति का सामंजस्य करती हुई आगे बढ़ी। इन्होंने शास्त्र के उन अंशों को, जो भक्ति सिद्धांत के अविरोधी थे, ज्यों का त्यों मान लिया परन्तु अन्य अंशों की उपेक्षा की। सूरदास आदि भक्त कवियों में कहीं विरोध की ध्वनि नहीं है, वे अगर किसी बात को अनुचित समझेंगे तो अत्यंत मृदुभाषा में उसकी उपेक्षा पर जोर देंगे।”¹⁴⁴ कृष्ण काव्य में गोपियों का वर्णन अपने आप में सामंती रूढ़ियों के प्रति विद्रोह है।

कृष्ण काव्य के स्त्री जीवन को दो भागों में देख सकते हैं पहला गोकुल और वृंदावन का जीवन तथा दूसरा मथुरा गमन के बाद की कथा जिसमें मथुरा और द्वारिका हैं।

पूर्वार्द्ध की कृष्ण कथा का संबंध लोक जीवन, ग्रामीण संस्कृति, गोचारण इत्यादि से है। परंपरागत रूढ़िगत मूल्यों के बावजूद यहाँ की स्त्रियाँ अधिक मुखर, स्वतंत्र तथा तार्किक हैं। सूरदास की गोपियों की मुखरता को हम एक पद में देख सकते हैं। जब कृष्ण ब्रज में खेलने के लिए निकलते हैं तभी उनकी भेंट राधा से होती है। कृष्ण राधा से पूछते हैं-

“बूझत स्याम कौन तू गोरी।

कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।”¹⁴⁵

इस पर राधा बिना संकोच और झिझक के उत्तर देती है -

“काहे को हम ब्रज तन आवतिं, खेलति रहति आपनी पौरी।

सुनत रहति स्रवननि नंद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि-चोरी।”¹⁴⁶

गोपियाँ समय-समय पर व्यंग्य और तर्क दोनों करती हैं। उनकी तार्किकता को उद्धव-गोपी संवाद में देख सकते हैं। उद्धव गोपियों से ईश्वर के निर्गुण होने की चर्चा करते हैं, इस पर गोपियाँ बहुत ही तार्किक उत्तर देती हैं-

“जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ तें।

बीज बिना तरु जमे मोहिं तुम कहौ कहाँ तें।”¹⁴⁷

गोपियों की स्वतंत्रता इस एक बात में भी है कि उनका संबंध घरेलू कार्यों के साथ-साथ गोचारण से है। वे गोरस, दही, घी बेचने मथुरा भी जाती हैं। यहाँ सामंती या सामाजिक बंधन लगभग नहीं दिखाई पड़ता -

“जमुना जल घर भर चली चंद्रावली नारा।”¹⁴⁸

“गोरस राधिका लै निकरी।”¹⁴⁹

गोपियों की स्वतंत्रता के संदर्भ में बलराम तिवारी का कथन महत्वपूर्ण है- “गोपियाँ स्वतंत्र हैं, इसलिए समता का उपभोग करती हैं। उनका घर से खरिक तक, खरिक से वृंदावन-मथुरा तक आना-जाना है, कोई रोक-टोक नहीं है। जो स्वतंत्रता पुरुषों को है वही गोपियों को भी है। उनकी स्वतंत्रता या समता मंच-शूरमाओं की भाषण-कला का नमूना नहीं है, बल्कि वह आचरित है। गोपियाँ उससे न कुछ अधिक चाहती हैं और न उससे कुछ कम।”¹⁵⁰

कृष्ण कथा की प्रकृति और मनोविज्ञान के अनुरूप ही स्त्री-पुरुष का वाद-संवाद जितना अधिक अष्टछाप के कवियों के यहाँ है उतना अन्य किसी मध्यकालीन काव्य में नहीं दिखायी पड़ता। श्रीरामचरितमानस जैसे महाकाव्य में भी ऐसा संवाद नहीं है। वहाँ यदि दो-चार जगहों पर संवाद हैं भी तो पुरुष-केन्द्रित या आश्रित, संकोच और धर्म के आवरण में लिपटे हुए -

“जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।”¹⁵¹

सूरदास भी तुलसी की तरह कुछ जगहों पर स्त्री धर्म की बात करते हुए उसकी सीमा तय करते हैं, जिससे सूरदास के पौराणिक विचारों और तत्कालीन परिवेश का पता चलता है -

“घर मैं जुवती धर्महि फबै। ता बिनु सुत पति दुःखित सबै।

भर्ता की सेवा सत सारा। कपट तजै छूटै संसारा।

विरघ अभागा जो पति होइ। मूष रोगी तजै न जोइ।”¹⁵²

दूसरी तरफ मथुरा नगर है जहाँ दरबार भी है। वहाँ का राजा विलासी भी है तथा परायी स्त्रियों का हरण भी करता है -

“यह सिसुपाल असुचि अज्ञानी, हरत पराई बामहिं।”¹⁵³

कृष्ण काव्य में कन्या का जन्म पुत्र-जन्म के समान प्रसन्नतादायक माना गया है। राधा के पैदा होने पर ढोल, शहनाई का बजना, मंगल गान करना, मोतियों से चौक पुराना इत्यादि पुत्री-पैदा होने की प्रसन्नता को ही उजागर करता है। वैसे राधा नायिका है, ईश्वरीय प्रतीक कृष्ण की प्रिया है। इस कारण भी वह विशिष्ट कन्या है। कृष्ण-जन्म की भाँति ही -

“श्री वृषभानु राइजू के आंगन बाजत आजु बधाई।

भादों सुदि आठें उजियारी आनंद की निधि आई।”¹⁵⁴

सूरदास अन्य भक्त कवियों की तरह ही पतिव्रता स्त्री को अधिक आदर देते हैं। उन्होंने पति को छोड़कर किसी अन्य पुरुष को भजने वाली नारी को कुलीन नहीं माना है। मरने के बाद ऐसी स्त्री को नरक ही मिलता है और जीवित रहते हुए संसार में उसे कोई भला नहीं कहता -

“तजि भरतार और भजियै, सो कुलीन नहीं होइ।

मैं नरक, जीवत या जग मैं, भलौ कहै नहिं कोइ।”¹⁵⁵

पूरे भक्तिकाव्य में जब-जब स्त्री को पुरुष सत्ता की अधीनता की याद दिलायी गयी है तब-तब वेद, धर्म, शास्त्र और परलोक का हवाला दिया गया है। मानस में सती अनसुइया सीता को ‘स्त्री धर्म’ वेद, धर्म और शास्त्र के हवाले से समझाती हैं -

“जग पतिव्रता चारि बिधि अहहीं। बेद पुरान संत सब कहहीं।”¹⁵⁶

ऐसी दिखावटी नैतिकता और परंपरागत सामंती पुरुष सत्तात्मक सोच का विरोध गोपियाँ करती हैं। उनकी प्रेमाभक्ति की गहराई में सारे धर्मशास्त्र डूब जाते हैं-

“निरख स्वरूप नंद नंदन को लोकलाज गई छूटा।

परमानंद वेद मारग की मर्यादा गई टूटा।”¹⁵⁷

सूरदास पति-पत्नी के संबंधों को लेकर कहते हैं कि एक दूसरे का परित्याग नहीं करना चाहिए। अर्थात् पुरुष स्त्री का त्याग न करे और न स्त्री पुरुष का। पति का धर्म है कि स्त्री का पालन-पोषण करे

और पत्नी का धर्म है कि वह पति की सेवा करे। यह मध्यकाल के पारिवारिक जीवन का आदर्श है। यानी यहाँ स्त्री-पुरुष संबंधों में एक समतामूलक भाव दिखायी पड़ता है -

“धिक् सो नारि पुरुष जो त्यागे, धिक् सो पति जो त्यागै जोइ।

“पति को धर्म यहै प्रतिपालै, जुवती सेवा ही कौ धर्म।”¹⁵⁸

इन भक्त कवियों की दृष्टि में स्त्री-पुरुष के बीच असमानता का भाव तब दिखायी पड़ता है जब वे कहते हैं कि दुष्कर्म करते हुए पति का भी त्याग नहीं करना चाहिए -

“जुवती सेवा तऊ न त्यागै, जौ पति करै कोटि अपकर्म।”¹⁵⁹

सूरदास जी कहते हैं कि पति की पूजा परमेश्वर की तरह होनी चाहिए। यह पुरुष सत्तात्मक मानसिकता को ही दर्शाता है जिसकी अभिव्यक्ति धर्म के आवरण में होती है -

“अब तुम भवन जाहु, पति पूजहु परमेश्वर की नाई।”¹⁶⁰

जिस प्रकार से भक्त कवि गोपियों के माध्यम से धर्म के मुहावरे में पुरुष सत्तात्मक मानसिकता का जो स्त्री पर थोपी गयी है, विरोध करते हैं, ठीक उसी प्रकार उसी मुहावरे में मीराबाई अपने व्यक्तिगत जीवन में इसका विरोध करती हैं -

“जग सुहाग मिथ्या री सजणी, होवां हो मिट जासी।”¹⁶¹

सामंती लोकलाज के ताने-बाने पर मीराबाई सबसे अधिक प्रहार करती हैं -

“लोक लाज कुल काण जगत की, दइ बहाय जस पाणी।

अपने घर का परदा कर ले, मैं अबला बौराणी।”¹⁶²

यहाँ लोकलाज त्यागने का मतलब यह नहीं कि मीराबाई सांसारिक, सामाजिक, पारिवारिक जीवन में कोई बाधा पहुँचाना चाहती है बल्कि वे सामाजिक रूढ़ियों के प्रति अपना विरोध दर्ज करती हैं। मीराबाई की कविता में बंधनों का प्रतिरोध इसलिए है कि उनमें गहरी भक्ति, प्रेम और समर्पण का भाव है- “मीरा की कविता में लोक लाज, कुल की मर्यादा को तोड़ने या लांघने की बात बार-बार कही गई है। यह अकारण नहीं। इसके सामाजिक कारण हैं। ... भक्ति आंदोलन में आर्थिक समानता की बात नहीं थी। बात केवल भक्ति की दृष्टि से समानता की थी। लेकिन इस भाव जगत की समानता के

अनुकूल आचरण करने पर जाति प्रथा और नारी पराधीनता की रूढ़ि रास्ता रोककर खड़ी हो जाती थी। मीरा जब कविता में बार-बार लोकलाज कुल की मर्यादा को तोड़ने की बात कहती हैं तब वह उसी बाधा का संकेत करती हैं।¹⁶³

इस प्रकार भक्ति काव्य में स्त्री चेतना को लेकर सबसे मुखर आवाज मीराबाई की है। कृष्ण भक्त कवियों के यहाँ स्त्री के विविध रूप दिखायी पड़ते हैं। लोकजीवन के चित्रण में स्त्रियाँ अधिक मुक्त, तार्किक एवं श्रम से जुड़ी हुई हैं जबकि कृष्ण कथा के उत्तरार्द्ध का जीवन महलों का तथा तत्कालीन परिवेश से चालित और पराधीन दिखायी पड़ता है। राजकीय जीवन में स्त्री के हस्तक्षेप को यदा-कदा देख सकते हैं। यह सीमा कथा वस्तु के कारण है जिससे प्रबंधात्मक भक्ति-कविता को बँधकर चलने की मजबूरी होती है।

3.2.3 संस्कार और प्रथाएँ

भक्तिकाव्य में सबसे अधिक संस्कारों का उल्लेख अष्टछाप के कवियों के यहाँ मिलता है। संस्कार मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक माने गये हैं जो जन्म से लेकर मृत्योपरान्त चलता रहता है। कृष्ण काव्य में कृष्ण और राधा के जन्म से ही ये संस्कार प्रारंभ हो जाते हैं। अष्टछाप के कवियों ने विवाह-संस्कार के अलावा जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, चूड़ाकर्म, उपनयन, इत्यादि संस्कारों का उल्लेख किया है।

विवाह संस्कार का विस्तृत वर्णन सूरसागर में प्राप्त होता है जिसमें सगाई, पाणिग्रहण, अग्नि-प्रदक्षिणा, मंडपकरण, वधू गृहागमन इत्यादि का उल्लेख मिलता है। इन विवाहों में सीता के स्वयंवर में धनुष तोड़ने की, रुक्मिणी का पत्र पाकर देवी-मंदिर के बाहर आकर उसका हरण करके विवाह करने आदि के उल्लेख हैं -

“यह अति दुसह पिनाक पिता-प्रन, राघव-बयस किसोरा।

इन पै दीरघ धनुष चढ़ै क्यों, सखि, यह संसय भोरा।”¹⁶⁴

“रुकमिनि देवी मंदिर आई।

इहिं अंतर जादौपति आए, रुकमिनि रथ बैठाई।”¹⁶⁵

विवाह वेद-विधि से पंडित द्वारा मंत्रोच्चारण के द्वारा ही संपन्न होते थे। राम-जानकी का विवाह हो या श्रीकृष्ण-रुक्मिणी का ये वेद-विधि से ही संपन्न होते हैं -

“वेद बिधि कियौ ब्याह बिधि, बसुदेव मन उपजी रली।”¹⁶⁶

विवाह से पूर्व सगुन निकालना तथा सगाई का रिवाज होता है; जिसमें पुरोहित की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अष्टछाप में बहुधा ब्राह्मण ही सगाई का प्रस्ताव लेकर वर-वधू के घर जाता है। नंददास ने इस प्रसंग में बहुत ही रोचक संकेत दिया है कि यदि सगाई कराने वाला ब्राह्मण धन का लोभी हो तो वह कुपात्र के साथ भी कन्या का विवाह करा देने में संकोच नहीं करता। ‘स्याम-सगाई’ में द्विज-स्त्री सगाई का संदेश लेकर वृषभानु के घर जाती है -

“जसुमति महाप्रवीन, एक द्विज-नारि बुलाई,
लीनी निकट बिठाय, मरम की बात सुनाई
जाय कहौ वृषभानु सों, करियो बहु मनु हारि,
इहि कन्या मैं स्याम कों, मांगौ गोद-पसारि।”¹⁶⁷

अष्टछाप काव्य में राम-जानकी और कृष्ण-रुक्मिणी विवाह प्रसंग में बारात का वर्णन हुआ है। महाराज दशरथ बारात लेकर जनकपुर जाते हैं जहाँ मोतियों से चौक पूरा जाता है। ब्राह्मण वेद मंत्र उच्चारण करते हैं और युवतियाँ मंगल गान गाती हैं -

“महाराज दसरथ तहं आए।

बैठे जाइ जनक-मंदिर महं, मोतिनि चौक पुराए।”¹⁶⁸

वेद ध्वनि और मंत्रोच्चारण के बाद ‘पाणिग्रहण’ होता है, जिसमें वर, वधू का हाथ पकड़ कर आजन्म साथ देने का वचन देता है। सीता, राधा आदि के विवाह में इसका उल्लेख हुआ है -

“पानिग्रहन रघुवर बर कीन्ह्यौ, जनकसुता सुख दीना।”¹⁶⁹

अष्टछाप में राम, कृष्ण, राधा इत्यादि के जन्म का उल्लेख मिलता है। कृष्ण के जन्म की सूचना पाते ही ग्वाल-बाल बधाई देने पहुँच जाते हैं। स्त्रियाँ बार-बार पुत्र का मुँह खोलकर देखती हैं और प्रफुल्लित होकर आशीर्वाद देती हैं -

“नंद महर के पुत्र भयो है आनंद मंगल गाई।

हरदी तेल फुलेल अच्छत दधि बंदन वार बधाई।”¹⁷⁰

अष्टछाप-काव्य में नामकरण संस्कार का भी उल्लेख है, इसमें बालक का नाम रखा जाता है और यह जनम के दसवें या बारहवें दिन संपन्न होता है। नंद के घर कृष्ण के नामकरण हेतु गर्ग मुनि आते हैं। गर्ग जी नामकरण के अवसर पर विमल यश का वर्णन करते हैं -

“जहां गगन गति गर्ग कह्यो।

यह बालक अवतार पुरुष है ‘कृष्ण’ नाम आनंद लह्यो।”¹⁷¹

अष्टछाप के कवियों ने अन्नप्राशन, कर्णछेदन तथा उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार का भी उल्लेख किया है।

“यह मेरे लाल कौ अनप्रासन।”¹⁷²

“जाते पीर न होय करन को हम करिहें सब सेवा।”¹⁷³

“हरि हलधर कौं दियौ जनेऊ, करि षटरस ज्यौनारि।”¹⁷⁴

कृष्ण भक्त कवियों ने विविध प्रथाओं एवं उसकी कुरीतियों की तरफ संकेत किया है जैसे- सती प्रथा, जौहर प्रथा, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, बहु विवाह इत्यादि।

“देखि जरनि, जड़, नारि, की, (रे) जरति प्रेम के संग।

चिता न चित फीकौ भयौ, (रे) रची जु पिय के रंग।”¹⁷⁵

“जौहर की गत जौहर जाण्यां, क्या जाण्यां जिण खोय।”¹⁷⁶

“अंतर दूर करौ अंचरा कौ,

खोलि देहु घूंघट-पट सारी।”¹⁷⁷

“कोउ कहै हरि ब्याही बहुनार। तिनकौ बढ़यौ बहुत परिवार।”¹⁷⁸

महत्वपूर्ण बात यह है कि अष्टछाप के कवियों ने कहीं भी बाल विवाह का उल्लेख नहीं किया है। समस्त विवाहों में पुत्री के विवाह-योग्य अवस्था हो जाने पर ही विवाह प्रसंग उठाया गया है -

“मम पुत्री बय प्रापत आहि। आज्ञा होइ, देउं तिहिं ब्याहि।”¹⁷⁹

3.2.4 पर्वोत्सव और त्योहार

भारतीय संस्कृति में पर्वों, त्योहारों का काफी महत्व रहा है। इन त्योहारों का संबंध धर्म के साथ-साथ लोक जीवन, किसानी जीवन एवं ऋतुओं से रहा है। हिन्दू त्योहारों के संबंध में के.एम. अशरफ लिखते हैं- “हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक त्यौहार मनाए जाने की शैली या ढंग उस निश्चित ऋतु के लिए उल्लेखनीय है, जिसमें मनाए जाते हैं। वे साधारणतः कृषकों के लिए अपेक्षाकृत विश्राम की ऋतु से मेल खाते हैं और उन्हें नृत्य और लोकधुनों के साथ मनाया जाता है।”¹⁸⁰

अष्टछाप के कवियों ने अलग-अलग ऋतुओं में मनाये जाने वाले उत्सवों का उल्लेख किया है। ग्रीष्म में ‘फूल मंडली’, वर्षा में ‘हिंडोरा’, शरद में ‘रास’, हेमंत में ‘देवि-प्रबोधिनी’, शिशिर में ‘होली’ और वसंत में ‘डोल’ मनाये जाते हैं।

“हिंडोरे झूलत गिरिधर लाल।

मधुबन सघन कदंब की डारें झूलत झुकत गुपाल।”¹⁸¹

“रास-मंडल बिच नाचत है राधिका ब्रज-भावती।”¹⁸²

“डोल झुलावत सब ब्रज सुंदरि, झूलत मदन गुपाल।”¹⁸³

अष्टछाप के कवियों ने जन्म के उत्सवों में जन्माष्टमी और राधाष्टमी का उल्लेख किया है। त्योहारों में उन्होंने दशहरा, रामनवमी, होली, रक्षाबंधन, दीपावली, गोवर्धन पूजा, धनतेरस, गनगौरी की पूजा, अक्षय तृतीया, तीज इत्यादि का उल्लेख किया है।

भाद्रपद कृष्ण पक्ष की अष्टमी को श्रीकृष्ण जन्माष्टमी और भादों मास के शुक्ल पक्ष के अष्टमी को राधाष्टमी मनायी जाती है। कृष्ण भक्त कवियों ने इनका वर्णन बहुत ही उत्साह से किया है-

“राधाजू कौ जन्म भयौ सुनि माई।

सुकल पच्छ निसि आठें घर घर होत बधाई।”¹⁸⁴

बैशाख मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया को ‘अक्षय तृतीया’ का उत्सव मनाया जाता है। ग्रीष्म ऋतु में होने के कारण चंदन का शृंगार इस उत्सव की विशेषता है -

“अक्षय तृतीया सुभ दिन नीकौ चंदन पहिरत नवल किसोर।”¹⁸⁵

श्रावण शुक्ल पक्ष पूर्णिमा को रक्षाबंधन का पर्व बहुत पहले से मनाया जाता है। आज के समय में बहन, भाई को राखी बाँधती है लेकिन अष्टछाप के कवियों ने इसका उल्लेख नहीं किया है, वहाँ पर ब्राह्मण अथवा पुरोहित द्वारा राखी बाँधे जाने की बात कही है और किसी ने माता द्वारा पुत्र को राखी बँधवायी है -

“राखी बाँधत गरग स्याम करा।”¹⁸⁶

“राखी बाँधत जसोदा मैया।”¹⁸⁷

रक्षाबंधन के संबंध में हरगुलाल लिखते हैं कि-

“राखी या रक्षाबंधन का त्यौहार ब्रज समाज में ‘सलूनों’ के नाम से प्रसिद्धि है। कुंभनदास और गोविंद स्वामी ने राखी को रक्षा कहा है। कृष्णदास ने यशोदा द्वारा कृष्ण के राखी बाँधने पर द्विजों को दान देने एवं लाल की आरती करने का उल्लेख किया है।”¹⁸⁸

दशहरा आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की दशमी को मनाया जाता है। इसे दशमी, विजयादशमी नाम से भी जानते हैं। विजयदशमी के दिन नये वस्त्राभूषण पहनकर जौ के अंकुर धारण करने की बात कवियों ने कही है -

“सुभग दसहरा लागत नीकौ।

गिरिधर लाल जवारे बाँधत बन्यौ भाल कुंकुम कौ टीकौ।”¹⁸⁹

दीपावली कार्तिक कृष्ण अमावस्या को मनायी जाती है। दीपावली के एक दिन पहले धनतेरस तथा एक दिन बाद गोवर्धन पूजा होती है। इसके पाँचवें दिन ‘भाई-दूज’ या ‘यम-द्वितीया’ होता है। इन त्योहारों के एक, दो पद प्रायः सभी अष्टछाप कवियों में मिल जाते हैं -

“ब्रज घर घर सब दीपक साजत मंगल चार बधाई बाजता।”¹⁹⁰

फाल्गुन मास की पूर्णिमा को मनाये जाने वाले होली के त्योहार का वर्णन अष्टछाप के कवियों ने विस्तार से किया है। होली का त्योहार पन्द्रह दिन तक चलते रहने की बात सूरदास ने लिखी है। इस

त्योहार का प्रारंभ वसंत पंचमी से होता है। सूरदास ने इस ऋतु की शोभा का बहुत सुंदर वर्णन कई पदों में किया है।

“कुसल छेम निरवाहु, अहो हरि होरी है।

पंद्रह तिथि भरि बरनि हों, हरि होरी है।”¹⁹¹

अष्टछाप के कवियों ने पर्वों, त्योहारों की चर्चा मुख्य रूप से अपने आराध्य कृष्ण से संबंध स्थापित करने के लिए किया है, जहाँ पर ग्वाल-बाल भी हैं और ब्रज की लोक-संस्कृति भी। अष्टछापी कवियों ने जितना ध्यान इन त्योहारों के हर्षोल्लास-वर्णन में लगाया है, उतना उन त्योहारों के विधानों, कर्मकाण्डों में नहीं। ये कवि उत्सवधर्मी थे, कर्मकांडी नहीं।

3.3 संतकाव्य में अभिव्यक्त समाज व्यवस्था

संतों का सामाजिक चिंतन बहुत ही मुखर और आलोचनात्मक रहा है। उनके चिंतन पर रहस्यवादी, अलौकिक, तांत्रिक इत्यादि होने का आरोप भी लगता रहा है। यह भी माना जाता है कि आलोचकों द्वारा संतों की विद्रोही चेतना को ही केवल रेखांकित किया जाता है। प्रेम और अध्यात्म का पक्ष गौण हो जाता है, लेकिन ये सारी चीजें एक ही व्यक्तित्व की देन हैं। सही मायने में संतों की मुख्य चिंता भक्ति, मोक्ष और ईश्वर की है, जिसके कारण वे दुनिया की नश्वरता का भी बोध कराते हैं। संत कवि इसको जानते हैं कि ईश्वर को पाने की प्रक्रिया में सामाजिक विसंगतियों को तोड़ना जरूरी है। संतों ने न कभी लोक जीवन की उपेक्षा की और न ही सामाजिक संबंधों की - “कबीर हर समय अलख को लखने तथा निराकार का आकार स्पर्श करने की दीवानगी की स्थिति में नहीं रहे। वह एक सजग युगद्रष्टा भी थे तथा अपने आस-पास घटित सभी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक हलचलों से पूर्णतया अवगत थे। ऐतिहासिक ज्ञान वरन इससे भी अधिक उपयुक्त शब्द, ‘सैन्स ऑफ हिस्ट्री’ (ऐतिहासिक चेतना) अपने परिवेश के प्रति आत्मचेतना का ही एक आवश्यक अंग है।”¹⁹²

संत कवि हमेशा सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ आवाज बुलंद करते रहे और समतामूलक समाज का सपना देखते रहे। उन्होंने जीवन से जुड़े मूलभूत सवालों पर विचार किया। ‘भूख’ को रेखांकित करते हुए सुन्दरदास कहते हैं कि -

“पेटही के बस ऋषि मुनि तपधारी सब।

पेटही के बस सिद्ध, साधक सुजान है।

सुंदर कहत नहीं, काहू को गुमान रहै।

पेटही के बस प्रभु, सकल जहान है।”¹⁹³

कबीर के समय में मुख्य रूप से सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक समस्या थी, जिसका असर सांस्कृतिक घटकों पर पड़ रहा था। हिन्दू समाज व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था, जातिव्यवस्था, धार्मिक कर्मकांड, बहुदेववाद के कारण विविध मत-मतांतर, छुआछूत इत्यादि प्रमुख थी तो मुस्लिम समाज में धार्मिक कट्टरता, साम्राज्य विस्तार के साथ इस्लाम धर्म का विस्तार इत्यादि चीजें थी। इस्लाम का प्रचार भावनात्मक न होकर तलवार और शक्ति के बल पर निर्भर था। इस्लाम का आक्रमण मुख्यतः तीन कारणों से ही हुआ था- 1. लूटमार के निमित्त 2. साम्राज्य का विस्तार और उसकी स्थापना हेतु और 3. धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु।

उपर्युक्त तीनों कारणों में जनता के प्रति प्रेम और सहानुभूति देखना मूर्खता है। इन तीनों भावों में ही कट्टरपन था। हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही समाज अपनी-अपनी बुराइयों के साथ था। हिन्दू मुसलमानों के लिए म्लेच्छ शब्द प्रयोग करते थे तो मुसलमानों की नजर में हिन्दू काफिर थे।

संत कवि इन दोनों विसंगतियों के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं अपितु विद्रोह या बदलाव का भाव रखते हैं। इसलिए इनका प्रतिरोध दो चीजों के प्रति सबसे अधिक है। पहला वर्ण और जाति के आधार पर निर्मित श्रेष्ठता या ऊँच-नीच का भाव तथा दूसरा हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक वैमनस्यता एवं सम्प्रदायगत भेदभाव। इन दोनों की जगह संत कवि मनुष्य की समानता, स्वतंत्रता तथा धार्मिक एकता चाहते हैं। इसलिए दोनों समुदायों को कड़े स्वर में फटकारते हैं।

3.3.1 वर्ण और जाति

जिस वर्ण व्यवस्था का तुलसीदास समर्थन करते हैं उस वर्ण व्यवस्था का विरोध संत कवि पहले ही कर चुके होते हैं, क्योंकि मध्यकाल में वर्ण व्यवस्था का जो जातिगत स्वरूप व्याप्त हो चुका था वह कहीं से भी मनुष्य की समानता का प्रतिपादन नहीं कर पा रहा था। ऐसा माना जाता है कि वर्ण व्यवस्था का प्रारंभिक स्वरूप जन्म से न होकर कर्म से रहा है तथा वर्ण व्यवस्था का प्रारंभिक संबंध श्रम-विभाजन और दास प्रथा से भी है- “वर्ण व्यवस्था श्रम-विभाजन का परिणाम है। श्रम का विभाजन उत्पादन शक्तियों के विकास तथा युग की आवश्यकता के फलस्वरूप होता है। यह उत्पादन की सामूहिकता को समाप्त कर देता है। विभिन्न व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार अलग-अलग कार्यों में लगते हैं और यही कार्यात्मक विभाजन वर्ण-विभाजन बन जाता है। निश्चय ही, विभिन्न वर्ण किसी देवता का आविष्कार नहीं, बल्कि सामाजिक विकास की एक खास अवस्था की उपज है। वस्तुतः वर्ण व्यवस्था का उदय दास प्रथा वाले भारतीय समाज में हुआ।”¹⁹⁴

तत्कालीन समय में वर्ण व्यवस्था को संतों ने गुणों के आधार पर स्वीकार किया। सुन्दरदास इसका चित्रण करते हैं -

“देहही सों आप मानि, देहही सों होइ रह्यो।

जड़ता अज्ञान तम, सूद्र सोइ जानिये।

इन्द्रिन के व्यापरनि, अत्यन्त निपुण बुद्धि।

तम रज दुहूँ करि, वैस्यहु प्रमानिये।

अंतःकरण माहिं, अहंकार बुद्धि जा के।

रजगुण बर्धमान, छत्री पहिचानिये।

सत्त्वगुण बुद्धि एक, आतम-विचार जा के।

सुन्दर कहत वही, ब्राह्मण बखानिये।

आतमा अखंड सदा, एकहि रहतु है।”¹⁹⁵

उपर्युक्त पद में सुंदरदास वर्णों की विविधता को बताने के बाद अंतिम पद में सार तत्व को बताते हैं कि भले ही वर्ण, जाति, गोत्र में भेद कर लो लेकिन सबके अंदर आत्मा एक ही है। रैदास कहते हैं कि-

‘रैदास जात मत पूछिये, का जात का पात।

ब्राह्मण, खत्री, बैस सूद, सभन की एक जात।’¹⁹⁶

धर्मशास्त्रों के आधार पर प्रस्तुत की गई वर्ण व्यवस्था संतों के अनुसार स्वाभाविक नहीं थी; इसलिए संत कवि परम्परा पर सवाल खड़ा करते हैं। उनका कहना है कि सृष्टिकर्ता को वर्णव्यवस्था स्वीकृत थी तो उसने ब्राह्मणों के पहचान के लिए उनके ललाट पर कोई तिलक का चिह्न क्यों न बना दिया? उनके जन्म का भी कोई दूसरा उपाय क्यों न किया जिससे वे शूद्र से स्वभावतः भिन्न समझे जाते-

‘जौ पै करता बरण बिचारै, तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै।’¹⁹⁷

मध्यकाल में वर्ण व्यवस्था का जो स्वरूप जन्म से हो गया था उसका संत कवि विरोध करते हैं और कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण और शूद्र नहीं हो सकता, यदि कोई उच्चता को प्राप्त करना चाहता है तो यह सुकर्मों से ही संभव है -

‘ब्राह्मण खतरी बैस सूद रैदास जनम ते नाहिं।

जो चाहइ सुबरन कउ पावइ करमन माहिं।’¹⁹⁸

संतों ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर प्रहार किया। उन्होंने बार-बार कहा कि एक ही तरह का खून है, एक ही रीति से सभी का जन्म हुआ है, फिर श्रेष्ठता क्यों?

‘एक बूंद एकै मलमूतर, एक चांम एक गूदा।

एक जोति थैं सब उतपनां, कौन बांम्हन कौन सूदा।’¹⁹⁹

इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता कायम थी और कुछ नहीं तो ब्राह्मण अपने को श्रेष्ठ प्राणी मान रहे थे तथा अन्य वर्णों को अपने से हीन समझते थे -

‘ब्राह्मण का प्रभुत्व इतना अधिक था कि ‘महाभारत’ को घोषित करना पड़ा कि वास्तविक रूप से

ब्राह्मण ही एक वर्ण था और अन्य वर्ण तो उसके रूपांतर मात्र थे। स्पष्ट है कि ब्राह्मणों के लिए इतने विशेषाधिकारों की व्यवस्था स्वयं ब्राह्मणों ने ही की। इसमें उनका स्वार्थ था। उन्होंने सामान्य करों से अपने को मुक्त कर लिया और यह भी व्यवस्था कर दी कि उन्हें किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड नहीं दिया जा सकता।²⁰⁰

संतों के समय में जन्मना ब्राह्मण ही श्रेष्ठ माना जाता था। तुलसी ने बुद्धिहीन ब्राह्मण को भी पूजनीय माना है, यानी तत्कालीन समय में ब्राह्मण बुद्धिहीन, लोभी, संस्कारहीन आदि हो चुके थे, लेकिन उनका मुख्य पेशा वेद शास्त्रों के पठन-पाठन से जुड़ा हुआ था। इसीलिए सामान्यतः गुरु भी माने जाते थे। समाज में ब्राह्मण सारे संस्कारों को तय करता था तथा उसका प्रमुख भी था -

“पंडित भूले पढ़ि गुन्य वेदा, आप न पांवै नांनां भेदा।

संध्या तरपन अरु षट करमां, लागि रहे इनके आसरमां।”²⁰¹

“बाम्हन गुरु है जगत का भगतन का गुरु नाहिं।

उरझि उरझि कै पच मुआ चारहु बेदहु माहि।”²⁰²

संत कवि हमेशा गुण और कर्म की महत्ता को प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार यदि कोई ब्राह्मण गुणहीन और चण्डाल गुणवान है तो ब्राह्मण की जगह चण्डाल की पूजा होनी चाहिए। क्योंकि मनुष्य सुकर्म और कुकर्म से ही ऊँच-नीच होता है -

“रैदास ब्राह्मण मति पूजिए, जउ होवै गुन हीन।

पूजिहिं चरन चण्डाल के, जउ होवै गुन प्रवीन।”²⁰³

“रैदास सुकरमन करन सौं नीच-ऊँच हो जाया।

करइ कुकरम जो ऊँच भी, तो महानीच कहलाया।”²⁰⁴

रैदास कहते हैं कि ऊँचे कुल में पैदा हो जाने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। जो ब्रह्म को जानता है तथा अपना कार्य काम, क्रोध, मद, लोभ इत्यादि दुर्गुणों को त्यागकर करता है वही ब्राह्मण है -

“ऊँचे कुल के कारणै, ब्राह्मण कोय न होय।

जउ जानहि ब्रह्म आत्मा, रैदास कहि ब्राह्मन सोय।”²⁰⁵

“काम क्रोध मद लोभ तजि, जउ करइ धरम कर कार।

सोइ ब्राह्मन जानिहि, कहि रैदास विचारा।”²⁰⁶

क्षत्रियों का कर्तव्य राज्य संचालन, प्रजा रक्षण एवं सामाजिक शांति व्यवस्था बनाये रखना था। राज्य के शासक, सेनापति, योद्धा प्रायः यही लोग होते थे। क्षत्रियों का ब्राह्मणों की तरह यज्ञोपवीत संस्कार होने लगा था। यज्ञोपवीत संस्कार के बाद ही इन्हें द्विजत्व की प्राप्ति होती थी। संतों ने क्षत्रियों का मुख्य गुण धर्म प्रजारक्षक ही माना है। मध्यकाल में क्षत्रियों का कर्तव्य वीरता, ओज, शौर्य से परिपूर्ण था-

“दीन दुःखी के हेत जउ, बरै अपने प्राण।

रैदास उह नर सूर कौ, सांचा छत्री जाना।”²⁰⁷

“अंग अंग कटवाइहिं, जउ दीनन करि हेत।

रैदास छत्री सोइ जानिये, जौ छाड़ै नाहिं खेत।”²⁰⁸

वैश्य वर्ण के लोगों का संबंध कृषि, पशुपालन तथा व्यापार से था। ‘वैश्य’ के लिए पहले ‘विश’ शब्द का प्रयोग होता था जिसका अर्थ बसने वाला होता है। रैदास कहते हैं- वैश्य वही है जो पूरी सच्चाई के साथ व्यापार करके कमाता है। उसमें भी वह नेक कमाई प्राप्त करता हो और सभी मनुष्यों के सुख की कामना करता हो -

“रैदास बैसव जानिये जउ सतकार कमाय।

पुन कमाई सदा लहै, लोरै सर्वत सुखाय।”²⁰⁹

रैदास एक दूसरे पद में कहते हैं कि सच्चा वैश्य वही है जो सत्य के बाजार में बैठकर सत्य की तराजू से तौलकर सत्य का सौदा करता है -

“सांची हाट बैठिकर, सौदा सांचा देइ।

तकड़ी तौले सांच की, रैदास वैस है सोइ।”²¹⁰

उपर्युक्त दोनों पदों से पता चलता है कि तत्कालीन समय में वैश्यों का संबंध सबसे अधिक व्यापार से ही था। शूद्र वर्ण व्यवस्था में चौथे पायदान पर है जिसकी उत्पत्ति ब्रह्मा के पैर से मानी गयी।

शूद्रों का एकमात्र कर्तव्य निर्धारित किया गया उपर्युक्त तीनों वर्णों का मन, वचन और कर्म से सेवा करना। रैदास ने शूद्र का अर्थ शुद्ध या पवित्रता से लिया है -

‘रैदास जउ अति पवित्र हैं, सोइ सुदर जाना।

जउ कुकरमी असुध जन, तिन्ह ही न सूदर माना।’,²¹¹

संत कवियों के वर्णनों से ऐसा लगता है कि उस काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों से च्युत हो गये थे। कोई भी वर्ण या जाति सत्य के रास्ते पर, कर्तव्य के रास्ते पर नहीं चल रही थी। वर्ण व्यवस्था अपना महत्व खो चुकी थी, खोखली और ढकोसला-मात्र बनकर रह गयी थी। शूद्रों के अलावा ‘अलबेरुनी’ अन्त्यज जातियों का भी उल्लेख करता है।

‘‘ये लोग चार वर्णों के गाँवों और नगरों के पास, परन्तु उनके बाहर रहते हैं। जो लोग हाड़ी, चण्डाल और बधतौ कहलाते हैं। उनकी किसी वर्ण या जाति में गणना नहीं होती।’’,²¹²

संत कवियों ने कई जातियों-उपजातियों का उल्लेख किया है। अधिकांश संत शिल्पी वर्ग से संबंध रखते थे इसलिए इनके पदों में अक्सर कुम्हार, लुहार, सुनार, दरजी, चर्मकार इत्यादि जातियों का उल्लेख प्राप्त होता है। संत कवि इस जातिगत विविधता का उल्लेख करने के बावजूद अंतिम सत्य के रूप में मानव मात्र की एकता को ही स्थापित करते हैं।

‘‘हम तौ एक एक करि जानां।

दोइ कहै तिनही कौं दोजग, जिन नांहीन पहिचानां।

एकै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।’’,²¹³

ये संत जातिगत एकता में मनुष्यता की तलाश करते हैं, जहाँ न कोई छोटा है न बड़ा है सब मनुष्य हैं। रैदास कहते हैं कि जाति-पाति का चक्कर मनुष्यता को खा जाता है -

‘‘जाति पांत के फेर मंहि, उरझि रहइ सब लोग।

मानुषता कूं खात हइ, रैदास जात कर रोग।’’,²¹⁴

3.3.2 स्त्री जीवन

संतों ने ईश्वरीय-भक्ति के मार्ग में स्त्री को बाधा माना है, इसलिए वे 'कनक' और 'कामिनी' का विरोध करते हैं। उनके लिए ये आसक्ति के केन्द्र हैं -

“एक कनक अरु कामनी, जग में दोइ फंदा।”²¹⁵

संतों ने स्त्री के लिए विविध विशेषणों का प्रयोग किया तथा उसे माया, विष, नागिन, नरक इत्यादि माना। उनके अनुसार नारी का साथ भक्ति, मुक्ति और ज्ञान से वंचित कर देता है -

“नारि नसावैं तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।

भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैसि न सकइ कोइ।”²¹⁶

संतों की स्त्री संबंधी इस धारणा पर पुरुषोत्तम अग्रवाल की टिप्पणी महत्वपूर्ण है - “नारी का नारीत्व यदि साधना में ऐसा बाधक है, तो परमात्मा के प्रति अपने समर्पण को नारी के प्रेमाकुल समर्पण का, और परमात्मा से दूर होने की अपनी मजबूरी को नारी की विरह वेदना का मुहावरा देने की क्या जरूरत है? यदि नर-नारी का परस्पर कामज आकर्षण इतना ही पापपूर्ण है तो राम को ‘बालम’ कहकर उन्हें पाप में घसीटने की क्या जरूरत है? क्या कारण है कि अपने प्रेम और विरह की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए पुरुष कबीर कविता में लगभग हर जगह नारी बन जाते हैं।”²¹⁷

यानी संतों का विरोध खासकर कामी नारी को लेकर है। वे ईश्वर तक पहुँचने की सबसे बड़ी बाधा के रूप में ‘काम-भाव’ को स्वीकारते हैं। एकाध जगहों पर स्त्री के साथ कामी पुरुष का भी उल्लेख करते हैं और भक्तिमार्ग में निष्काम भाव का होना आवश्यक मानते हैं -

“नर नारी सब नरक है, जब लग देह सकाम।

कहै कबीते राम के, जे सुमिरै निहकाम।”²¹⁸

स्त्री को लेकर संतों की दृष्टि परम्परावादी है वहाँ स्त्री-मुक्ति का कोई भी सार्थक प्रयास नहीं दिखायी पड़ता, जिस प्रकार से उन्होंने वर्ण व्यवस्था का विरोध किया और समानता की बात की। यहाँ ऐसा करने में चूकते हैं। यदि इन संतों की सोच परम्परागत, रूढ़िगत या सामंती मूल्यों से उपजी न होती

तो ये सती प्रथा जैसी प्रथाओं का समर्थन नहीं करते और न ही भक्ति के लिए इस तरह के प्रतीकों का चुनाव ही करते जो स्त्री-जीवन के प्रतिकूल है -

“सती बिचारी सत किया, काठौं सेज बिछाड़।

ले सूती पीव आपणा, चडं दिसि अगनि लगाइ।”,²¹⁹

यदि यह भी मान लें कि सती होना प्रेम, प्रतिबद्धता और एकनिष्ठता का सूचक है तो इस तरह के विधान केवल स्त्री के लिए ही क्यों है? स्त्री को लेकर संतों का सामाजिक चिंतन धर्म तंत्र और सामंती मूल्यों से अनुप्राणित है, जहाँ स्त्री दोगुने दर्जे की नागरिक है और उसका परम कर्तव्य पुरुष-सेवा है। पति के बिना वह महत्वहीन है -

“कबीर कन्यां करै स्यंगार, सोभ न पावै बिन भरतार।”,²²⁰

संतों को स्त्री का पतिव्रता रूप अधिक प्रिय है, यह ठीक है कि संतों ने स्वस्थ सामाजिक संबंधों को बनाये रखने के लिए इसकी पैरवी की, साथ ही परायी स्त्री और पराये धन का भी निषेध किया, लेकिन इस ईमानदारी की अपेक्षा केवल स्त्री के साथ ही दिखायी पड़ती है। इस मानदण्ड में पुरुष लगभग नगण्य है और है भी तो यदा-कदा -

“पतिव्रता पति पीव कों, सेवै दिन अरु रात।

दादू पति कूं छाड़ि करि, काहू संगी न जाता।”,²²¹

संत कवियों के स्त्री-चिंतन के दो पक्ष हैं : पहला कि स्त्री माया, नरक-कुण्ड, कामिनी इत्यादि है। दूसरा कि जब ये संत भक्ति या चिंतन के उच्च धरातल पर होते हैं तो खुद अपने को स्त्री मान बैठते हैं। कभी अपने को दुलहिन कहते हैं तो कभी पत्नी और कभी हरि जननी का पुत्र। कभी स्त्री की महत्ता को इतना अधिक प्रतिपादित करते हैं कि संसार के सृजनकर्ता के रूप में देखने लगते हैं -

“एक हीं जननीं जन्यां संसारा, कौन ग्यान थैं भये निनारा।”,²²²

स्त्री जीवन को लेकर इन संतों की दृष्टि मुख्यतः तत्कालीन सामंती जीवन से ही परिचालित है, लेकिन जब ये संत ईश्वरीय-भक्ति में तल्लीन होते हैं तो वहाँ पर स्त्री जीवन की बंदिशें टूटती हुई दिखाई पड़ती है और स्वयं अपने को स्त्री रूप में पाते हैं।

3.3.3 संस्कार और प्रथाएँ

प्राचीन काल से ही हिन्दू-परिवारों में संस्कारों का विशेष महत्व रहा है। हिन्दुओं की यह दृढ़ मान्यता है कि संस्कार ही कर्म का बीज है। संस्कार का संबंध शास्त्र-विहित मांगलिक कृत्यों से है। मध्यकाल में इन संस्कारों का निर्णय जाति के आधार पर किया जाने लगा। भक्तिकाल के लगभग सारे संत कवि इन संस्कारों का विरोध करते हैं क्योंकि इन संस्कारों का संबंध मनुष्य के सहज जीवन की जगह कर्मकाण्डों एवं पुरोहितों से अधिक हो गया था। भक्ति के संदर्भ में विवाह-संस्कार का उल्लेख वैदिक रीति-रिवाज के अनुसार मिलता है -

“पंच जना मिलि मंडप छाये, तीन जनां मिलि लगन लिखाई।

सखी सहेली मंगल गावैं, सुख-दुख माथै हलद चढ़ाई।

नांना रंगै भांवरि फेरी, गांठि जोरि बावै पति ताई।”²²³

मध्यकालीन समाज में पर्दा-प्रथा या घूँघट काढ़ने की प्रथा थी। बहुतेरे अपने परिवार में सास-ससुर, गुरुजन या अपने से बड़े लोगों के सामने घूँघट में ही निकलती थी। घूँघट का भारतीय संदर्भ मर्यादा, मान-प्रतिष्ठा से जुड़ा हुआ है। संभवतः तत्कालीन समय में पर्दा-प्रथा पर इस्लाम का प्रभाव रहा हो या उन शासकों की परायी स्त्रियों का हरण करने वाली नीतियाँ रही हो। कबीर इस पर्दा प्रथा का विरोध करते हैं -

“मुद्रा पहरया जोग न होइ, घूँघट काढ़या सती न कोई।”²²⁴

तत्कालीन समय में राजाओं, सामंतों की बहु विवाह की जो प्रवृत्ति बन गयी थी, कबीर उसका विरोध करते हैं तथा उस विवाह में प्रेम तत्व को आवश्यक मानते हैं -

“कबीरा तासूं प्रीति करि, जो निरबाहे ओड़ि।

बनिता बिबिध न राचिये, दोषत लागे षोड़ि।”²²⁵

संतों का सामाजिक चिंतन वर्ण, वर्ग और सम्प्रदाय के विरुद्ध है। उनके चिंतन का मुख्य आधार समानता और एकता है इसलिए वे बार-बार वर्ण व्यवस्था, जाति व्यवस्था, धार्मिक-वैमनस्य,

सांप्रदायिक विविधता इत्यादि पर चोट करते हैं। इसकी जगह एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर की चिंता दिखायी पड़ती है जहाँ मनुष्यता सर्वोपरि है।

3.4 सूफीकाव्य या प्रेमकाव्य में अभिव्यक्त समाज व्यवस्था

3.4.1 वर्ण और जाति

मध्यकाल में सूफी या प्रेममार्गी कवियों ने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति में एकता की तलाश कर दोनों ही समुदायों पर एक भावनात्मक प्रभाव छोड़ा। मध्यकाल का दौर घात-प्रतिघातों का रहा। इस प्रतिकूल समय में सांस्कृतिक एकता की बात करनी मुश्किल थी, परंतु ये कवि ऐसा करने में सफल रहे। इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की टिप्पणी महत्वपूर्ण है - “ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान ‘प्रेम की पीर’ की कहानियाँ लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिन्दुओं के ही घरों की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने यह दिखला दिया कि एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदय से होता हुआ गया है जिसे छूते ही मनुष्य सारे बाहरी रूप रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है।”²²⁶

सूफी कवियों का संबंध लोक-जीवन से काफी गहरा रहा है। सूफियों ने मध्यकालीन जीवन की त्रासदी के साथ ही सामाजिक जीवन के मूलाधार, आचार-विचार, पर्वोत्सव, स्थानीय जीवन का हर्षोल्लास इत्यादि का उल्लेख किया है।

वर्ण और जाति को लेकर भक्त एवं संत कवियों के यहाँ कहीं समर्थन तो कहीं विरोध दिखायी पड़ता है, लेकिन प्रेममार्गी कवियों में यह वर्ण और जाति वाली बात कथा कहने की प्रक्रिया में सहजता से आती है। सूफी काव्यों की केन्द्रीय विशेषता प्रेम को माना गया है जो अपने आप में एक सामंत विरोधी मूल्य है, जहाँ जाति व्यवस्था पुरानी, कमजोर होती हुई नजर आती है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण चन्दा और लोरिक की प्रेम कथा है।

तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता बनी हुई थी और उस पर सवाल भी उठाये जा रहे थे। दरबारों में ब्राह्मणों को उच्च मान-प्रतिष्ठा प्राप्त थी। जायसी ‘पदमावत’ में राघव चेतन नामक ब्राह्मण

का उल्लेख करते हैं जो पहले चित्तौड़गढ़ के दरबार में था और वहाँ से निकाले जाने के बाद दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन की शरण में आ गया -

“राघव चेतन कीन्ह पयाना। दिल्ली नगर जाइ नियराना।

आइ साह के बार पहुँचा। देखा राज जगत पर ऊँचा।”,²²⁷

बहुत से ब्राह्मण राजपुरोहित होते थे और पोथी-पत्रा देखने का कार्य करते थे। उनका संबंध ज्योतिष से भी होता था। वे शुभ-अशुभ अवसरों की व्याख्या, लगन, मुहूर्त, नामकरण इत्यादि किया करते थे। पद्मावती के जन्म की छठी के दूसरे दिन राजा के पंडित आते हैं और कन्या का राशिफल इत्यादि देखकर उसका नामकरण करते हैं -

“भा बिहान पंडित सब आए। काढ़ि पुरान जनम अरथाए।

कन्या रासि उदय जग कीया। पद्मावती नाम अस दीया।”,²²⁸

वेद का ज्ञाता होना पांडित्य का सर्वोच्च लक्षण माना जाता था। हीरामन सुआ वेद शास्त्रों में पारंगत एवं विद्वान था। तत्कालीन समय में वेद-शास्त्रज्ञ पंडितों को लक्ष्य करके जायसी ने कुछ जगहों पर उनके गुणों की प्रशंसा की है -

“वह हीरामन पंडित सुआ। जो बोले मुख अमृत चूआ।

पंडित तुम्ह खंडित निरदोखा। पंडित हुतें परै नहिं धोखा।

पंडित केरि जीभ मुख सूधी। पंडित बात न कहै बिरुधी।

पंडित सुमति देइ पथ लावा। जो कुपंथि तेहि पंडित न भावा।”,²²⁹

जायसी ने ‘पंडित’ शब्द विद्वान के अर्थ में किया है तथा ब्राह्मण शब्द जातिवाचक है। जायसी ने ब्राह्मणों के जातीय भातृत्व की ओर भी संकेत किया है।

“हम तुम जाति बराम्हन दोऊ। जातिहि जाति पूछ सब कोऊ।”,²³⁰

एक तरफ पंडित वेद को जानने वाला, सत्य आचरण करने वाला है तो दूसरी तरफ वेद मार्ग से भटकने वाला कुटिल एवं भ्रष्ट है। राघव चेतन विद्वान होते हुए भी कुटिल था। वह यक्षिणी का पूजक, जादू-टोना एवं छल विद्या में पारंगत, लोभी, कामासक्त और अत्यंत प्रतिशोधी प्रकृति का ब्राह्मण था-

“राघौ पूजा जाखिनी दुइज देखावा सांझ।

पंथ गरंथ न जे चलहिं ते भूलहिं बन मांझ।”²³¹

जायसी ऐसे वेद विरुद्ध आचरण करने वाले ब्राह्मणों की निंदा करते हैं। दक्षिणा का लोभी ब्राह्मण स्वर्ग का परित्याग करके भी दक्षिणा लेने पहुँच जाता है। ब्राह्मणों की भिक्षावृत्ति का उल्लेख जायसी करते हैं।

“बांभन जहां दक्खिना पावा। सरग जाइ जौ होइ बोलावा।”²³²

जायसी ने क्षत्रियों के छत्तीस कुलों का उल्लेख किया है इन छत्तीस कुलों में गिना जाना क्षत्रिय कुल के लिए अतिरिक्त मान-मर्यादा का लक्षण माना जाता था -

“फेरेउ तुरै छत्तीसौ कुरी। सबहिं सराहा सिंघलपुरी।”²³³

“खत्री औ पंचबान बघेले। अगरवान चौहान चंदेले।

गहरवार परिहार सो कुरी। मिलन हंस ठकुराई जुरी।”²³⁴

‘बादशाह-चढ़ाई खण्ड’ में अलाउद्दीन के पद्मावती समर्पण संबंधी प्रस्ताव से क्रुद्ध होकर रतनसेन ने हम्मीर, विक्रमादित्य, अर्जुन, हनुमान, राम आदि की अपनी प्राचीन क्षत्रिय परम्परा का स्मरण किया। जायसी ने गोरा-बादल के लिए क्षत्रिय शब्द का प्रयोग किया है। ‘पद्मावती गोरा बादल संवाद खण्ड’ में रतनसेन को छुड़ाने के लिए गोरा बादल को बीड़ा देती हुई रानी उन सामंतों की तुलना अंगद और हनुमान, अर्जुन और भीम, नल और नील इत्यादि से करके उनके भीतर जातीय गौरव की भावना जाग्रत करती है -

“तुम्ह अरजुन औ भीम भुआरा। तुम्ह नल नील मेंड देनिहारा।”²³⁵

इस्लाम के आक्रमण के समय हिन्दू राजाओं के छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे। हिन्दुओं के पराजय का एक कारण यह भी था कि वे हिन्दू राजा और सामंत आपस में एकमत नहीं थे और वे तुर्कों का विरोध मिलकर नहीं कर पाये। इन राजाओं की चिंता केवल अपने-अपने राज्य की हुआ करती थी। इस तत्कालीन स्थिति का चित्रण जायसी क्षत्रिय राजाओं के माध्यम से करते हैं। अलाउद्दीन के आक्रमण की सूचना पाकर रतनसेन ने हिन्दू राजाओं को एक संगठन-सूत्र में बाँधने तथा मातृभूमि की

रक्षा के लिए युद्ध का जो निमंत्रण-पत्र भेजा उससे हिन्दू राजाओं में जातीय-चेतना, वीरता, क्षात्र-धर्म इत्यादि प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं -

“दूतन्ह आइ कहा जहं राजा। चढ़ा तुरुक आवै दर साजा।

सुनि राजै दौराई पाती। हिंदू नांव जहां लागि जाती।”²³⁶

वैश्य जाति का संबंध व्यापार से था। जायसी ने ‘बनिजारा खण्ड’ में बनिज को व्यापार करते हुए दिखाया है तथा ‘सिंहलद्वीप वर्णन खण्ड’ में सिंहल के बाजार या हाट का विस्तृत वर्णन किया है -

“कनक हाट सब कुंहकुह लीपी। बैठ महाजन सिंघल दीपी।”²³⁷

जायसी ने पद्मावती के साथ विश्वनाथ की पूजा के लिए जाने वाली सखियों को छत्तीस जातियों की बताया है। जिनमें कोरिन, ब्राह्मणी, अग्रवालिन, वैश्य, चंदेलिन, चौहान, सुनारिन, कलवारिन, वणिक, कैथिन इत्यादि नारियों का उल्लेख है। इससे हिन्दुओं की छत्तीस जातियों तथा उपजातियों का परिचय मिलता है -

“भै अहान पदुमावति चली। छतीस कुरी भै गोहने भली।”²³⁸

छोटी जातियों में बढई, लोहार, दर्जी, रंगरेज, कहार, जुलाहा, धोबी, माली इत्यादि थे। ये जातियाँ अन्य बड़ी जातियों की सेवा करके अपने जीवन का निर्वाह करती थीं -

“साजा पदुमावति क बेवानू। बैठ लोहार न जानै भानू।”²³⁹

3.4.2 स्त्री जीवन

सूफियों के यहाँ भी स्त्री जीवन संतोषजनक नहीं है, वहाँ भी उनकी स्थिति दयनीय बनी हुई है। उनके लिए सत्य और धर्म से बढ़कर कुछ है तो वह पति है -

“सत और धरम देउं सब तोही। पिय की बात कही जेइं मोही।”²⁴⁰

मध्यकालीन पुरुष सामंत या राजा के लिए स्त्री भोग की वस्तु और सेविका है। वह एक मूल्यहीन वस्तु की तरह है। एक ओर स्त्री पुरुष को सत्य और धर्म से बढ़कर मानती है लेकिन वहीं पुरुष एक पक्षी के लिए अपनी स्त्री का प्राण लेने के लिए आतुर दिखायी पड़ता है -

“सेवा करै जो बरहौ मासा। एतनिक औगुन करहु बिनासा।”²⁴¹

कुल मिलाकर स्त्री के प्रति मध्ययुग की दृष्टि अनुदार रही है। सामंतवादी भोग-विलास के युग में उसे अधिकांश भोग्या रूप में ही ग्रहण किया गया। नारी के विविध रूपों का उल्लेख सूफियों के यहाँ मिलता है जैसे- पत्नी, कुलवधू, कामिनी, दासी, दूती इत्यादि। इन रूपों में पत्नी और कुलवधू होने के कारण वह आदर और प्रतिष्ठा की पात्र तो अवश्य हो गयी, बावजूद इसके वह पुरुष के अधीन या अनुचरी के रूप में ही रही। पत्नी रूप में वह पति की कृपा पर ही जीवित रही -

“का रानी का चेरी कोई। जा कहं मया करहु भलि सोई।”,²⁴²

नारी का कुलवधू रूप समाज को स्वीकार्य था। इस रूप में वह लज्जा, संकोच, सहनशीलता, वाणी-माधुर्य आदि गुणों की प्रतिमा होने के कारण उसे कुलवंती की संज्ञा दी गयी थी -

“जोबन चंचल ढीठ है करै निकाजहिं काज।

धनि कुलवंति जो कुल धरै करि जोबन महंलाज।”,²⁴³

‘लक्ष्मी समुद्र खण्ड’ में पद्मावती के खो जाने पर रतनसेन, पद्मावती के गुणों की प्रशंसा करने के लिए लालायित होता हुआ भी उसका स्मरण मात्र ही कर पाता है क्योंकि लोक रीति के अनुसार पुरुष अपनी स्त्री की सराहना नहीं करता -

“पुरुख न आपन नारि सराहा। मुएं गए संवरा पै चाहा।”,²⁴⁴

युग-प्रवृत्ति के इसी लोक का अनुसरण करता हुआ रतनसेन ‘जोगी खण्ड’ में रानी नागमती को स्त्री होने के कारण अल्प-बुद्धि एवं अपरिपक्व कहता है तथा गृहिणी से परामर्श लेने वाले मनुष्य को मूर्ख कहता है। ‘गोरा बादल युद्ध खण्ड’ में दोनों सामंतों की स्थिति भी यही है। उनके अनुसार पुरुष स्त्री की तरह कच्ची बुद्धि से काम नहीं करता -

“तुम्ह तिरिआ मति हीन तुम्हारी। मुरुख सो जो मतै घर नारी।”,²⁴⁵

“पुरुख न करहिं नारि मति कांची। जस नौसाबैं कीन्ह न बांची।”,²⁴⁶

सूफियों, खासकर जायसी, ने तत्कालीन स्त्री-जीवन का सशक्त चित्र उकेरा है। यह सत्य है कि स्त्री मुक्ति का विकल्प सूफी काव्य में दिखाई नहीं पड़ता लेकिन सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन कवियों ने मध्यकालीन स्त्री जीवन की त्रासदी, उसकी पीड़ा को बखूबी पहचाना। इसीलिए विजयदेव

नारायण साही ने पदमावत जैसी कथा में तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक उलटफेर और उसकी त्रासदी को ज्यादा महत्व दिया - “जायसी अपने समाज और उसमें प्रचलित सत्ता-संघर्ष को देख रहे थे। उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने इस समूचे परिदृश्य को नई पूर्वग्रहहीन आँखों से देखा- और उन्होंने उस विराट ट्रेजडी और साथ ही इस सारे अभियान को देखा जो उनके समाज को मथ रही थी। पदमावत की कथा केवल अलाउद्दीन, रतनसेन और पद्मिनी की व्यक्तिगत ट्रेजेडी नहीं है- जिन शर्तों पर जायसी का समाज उलट-पुलट रहा है, उनके चलते समूची पृथ्वी के झूठी पड़ जाने की ट्रेजेडी है।”²⁴⁷

जायसी ने ‘मायके’ और ससुराल के माध्यम से स्त्री-पीड़ा की एक दारुण तस्वीर खींची है। पिता के घर में थोड़ी बहुत खेल-कूद की स्वतंत्रता तो थी लेकिन ससुराल में उसे तमाम बंदिशों में रहना पड़ता था। सास, ननद, ससुर का भय हमेशा लगा रहता था। स्त्री जीवन की व्यथा पद्मावती से उसकी सखियाँ व्यक्त करते हुए कहती हैं -

“ऐ रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।

जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौ खेलहु आजू।

X X X X X X X X

सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहिं। दारुन ससुर न आवै देहीं।”²⁴⁸

जायसी ने ‘देवपाल दूती खण्ड’ में ससुराल के मार्मिक प्रसंग का उल्लेख किया है जहाँ पर मध्यकालीन स्त्री की एक त्रासद तस्वीर दिखायी पड़ती है। पद्मावती कहती है-

“माइ बाप कत जनमी बारी। दइउ तुहू न जन्मतहि मारी।”²⁴⁹

जायसी ने स्त्री के प्रति उस युग की अनुदार दृष्टि का सांकेतिक परिचय दिया है। कुलवधू और सती की सराहना वहाँ बार-बार दिखायी पड़ती है, ससुराल के प्रसंग में स्त्री जीवन का सामंती ताना-बाना भी झलकता है। पद्मावत में स्त्री प्रेम से अधिक भोग की वस्तु दिखायी पड़ती है जहाँ उसका रूप सौंदर्य ही प्रमुख है।

3.4.3 संस्कार और प्रथाएँ

सूफी काव्य में वैष्णव भक्त-कवियों की तुलना में संस्कारों का उल्लेख कम मिलता है। जायसी ने विवाह, जन्मोत्सव, छठी, अंत्येष्टि आदि संस्कारों का वर्णन किया है। इनमें सबसे सजीव एवं विस्तृत वर्णन विवाह का मिलता है। विवाह मानव-जीवन का प्रधान संस्कार माना गया है जिसका वर्णन भारतीय धर्मशास्त्रों ने विस्तार से किया है। ब्राह्म, दैवी, आसुरी, गांधर्व, राक्षसी, पैशाची इत्यादि विवाह-प्रकार बताये गये हैं। भारतीय समाज में विवाह को जन्म-जन्मांतर तक रहने वाला संबंध माना गया है -

“गांठि दुलह दुलहिनी कै जोरी। दुऔ जगत जो जाइ न छोरी।”²⁵⁰

मध्य काल में राजाओं और सामंतों द्वारा बलपूर्वक स्त्री का अपहरण करना आम बात हो गयी थी। जायसी इसका विरोध करते हैं-

“भलेहं सो साहि पुहमिपति भारी। मांग न कोइ पुरुख कै नारी।”²⁵¹

इस प्रकार मध्यकाल में आसुरी, राक्षसी तथा गांधर्व विवाहों की ओर कुलीनों, सामंतों तथा राजा-महाराजाओं की प्रवृत्ति उन्मुख होने लगी थी। वैदिक युग से लेकर अब तक इन विवाहों को निम्न कोटि में गिना जाता है -

जायसी ने विवाह की विविध रीतियों का वर्णन किया है, जैसे- लग्न, तिलक, विवाह का निमंत्रण, मंडपकरण, जयमाल, वर-वधू मिलन इत्यादि -

“मिला सुबंस अंस उजियारा । भा बरोक औ तिलक संवारा।”²⁵²

“लगन धरी औ रचा बिआहू। सिंघल नेवत फिरा सब काहू।”²⁵³

जायसी ने पद्मावती-रतनसेन का विवाह वैदिक रीति से ही पूर्ण होना बताया है। जहाँ गठजोड़ हो रहा है, पंडित वेद-मंत्र का उच्चारण करता है। मंगलाचार, जयमाल तथा फेरे लेने का भी उल्लेख किया है-

“गांठि दुलह दुलहिन कै जोरी।

बेद भनहिं पंडित तेहि ठाऊं।”²⁵⁴

विवाह के बाद बहुत ही करुण दृश्य जायसी ने प्रस्तुत किया है। विदाई का नाम सुनते ही पद्मावती के नेत्रों में आँसू भर आए -

“गहबर नैन आए भरि आंसू। छांडब यह सिंघल कबिलासू।”,²⁵⁵

जायसी ने पद्मावती और रतनसेन के माध्यम से जन्म-संस्कार, छठी इत्यादि का उल्लेख किया है।

जायसी ने पर्दा प्रथा, सती प्रथा, जौहर-प्रथा, दहेज प्रथा तथा दास प्रथा का भी जिक्र किया है। सबसे अधिक सती प्रथा का उल्लेख मिलता है। पति सेवा और पतिव्रता के अतिरिक्त विनयशीलता और एकनिष्ठता के कारण सती प्रथा का प्रचलन हुआ जिसमें धर्म और परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण थी। सती होना किसी भी रानी अथवा कुलीन नारी के लिए गौरव की बात समझी जाती थी -

“सती जो जरे पेम पिय लागी। जौ सत हिं तौ सीतल आगी।”,²⁵⁶

क्षत्रिय या राजपूतों की स्त्रियाँ युद्ध में पति के मारे जाने पर जौहर होती थी -

“जौहर कहं साजा रनिवांसू। जेहि सत हिं कहां तेहि आंसू।”,²⁵⁷

जायसी ने विवाह के साथ-साथ दहेज प्रथा का भी वर्णन किया है। दहेज में पद्मावती को अनमोल रत्न, मोती, घोड़े, हाथी इत्यादि दिये थे -

“लाख बोहित तेइं दाइज भरे। नग अमोल औ सब निरमरे।”,²⁵⁸

जायसी ने दास प्रथा का उल्लेख किया है। राजा रतनसेन के दरबार में काफी दासियाँ थीं। शृंगार करने के बाद वे पद्मावती की तरह ही सुंदर लगती थीं, जिससे बादशाह को भ्रम हो गया था कि इनमें से ही कोई पद्मावती होगी। राज द्वार पर आने वाली जोगिन की सूचना भी इन्हीं दासियों ने पद्मावती को दी थी -

“राजा के सोरह सै दासी। तिन्ह महं चुनि काढ़ीं चौरासी।”,²⁵⁹

“मांगत राजबार चलि आई। भीतर चेरिन्ह बात जनाई।”,²⁶⁰

3.4.4 पर्वोत्सव और त्योहार

पर्व और त्योहार भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। इसके द्वारा मनुष्य का मनुष्य से, मनुष्य का प्रकृति से तादात्म्य स्थापित होता है, साथ ही इसमें लोक, धर्म, अध्यात्म की भी अभिव्यक्ति होती है। सूफी-काव्य में वर्णित पर्वोत्सवों में ऋतु-शृंगार, वसन्त पूजन, हिंडोरा इत्यादि प्रमुख हैं। जायसी ने षड् ऋतु वर्णन में ऋतु-अनुकूल परिधान एवं शारीरिक अलंकार का चित्रण किया है। पद्मावती तथा उनकी सखियों के द्वारा वसंतागमन पर सोलह शृंगार से सुसज्जित होकर वीणा-मृदंग के साथ आनंदोत्सव मनाने का उल्लेख हुआ है -

“पदुमावती सब सखीं बोलाई। चीर पटोर हार पहिराई।

बारह अभरन सोरह सिंगारा। तोहि सोहइ यह ससि संसारा।”²⁶¹

वसंत में कुसुम-हार पहनने, घर में चंदन छिड़कने, पुष्प-शय्या रचने, देवगृह में पति-पत्नी द्वारा पूजा करने, बगीचे में घूमने इत्यादि का वर्णन मिलता है -

“प्रथम बसंत नवल रितु आई। सुरितु चैत बैसाख सोहाई।

कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरी छिरिका कबिलासू।”²⁶²

इसी प्रकार जायसी ने ग्रीष्म, पावस, हेमंत, शिशिर ऋतुओं का भी उल्लेख किया है। इन ऋतुओं में फाग, हिंडोरा तथा वसंत पूजन का उल्लेख मिलता है -

“होइ फागु भलि चांचरि जोरी। बिरह जराई दीन्ह जसि होरी।”²⁶³

त्योहारों में जायसी ने दशहरा, दीपावली तथा होली का वर्णन कहीं कहीं सांकेतिक रूप में किया है। ‘नागमती वियोग खण्ड’ में दीपावली का जिक्र है। जब कार्तिक के कृष्ण पक्ष में दीपावली का त्योहार आया तो नागमती पति-वियोग के कारण दुखी थी। संसार में अन्यत्र उल्लास था अन्य सखियाँ गाते हुए त्योहार का आनंद ले रही हैं -

“कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहैं जारी।

चहूं खंड लागै अंधियारा। जौं घर नाहिंन कंत पियारा।

अबहूं निठुर आव एहिं बारा। परब देवारी होइ संसारा।”²⁶⁴

जायसी ने फाग का सजीव वर्णन किया है। फाल्गुन मास में पवन तेज बह रहा है, वृक्षों से पीले पत्ते झड़ रहे हैं, नये पत्तों का अंकुरण हो रहा है। सभी स्त्री-पुरुष गीत गाते हुए फाग खेल रहे हैं; इसमें नागमती का हृदय होलिका-दहन की तरह जल रहा है -

“फागुन पवन झंकोरै बहा। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा।

तन जस पियर पात था मोरा। बिरह न रहै पवन होइ झोरा।

तरिवर झरै झरै बन ढांखा। भइ अनपत फूल फर साखा।

फाग करहि सब चांचरि जोरी। मोहिं जिय लाइ दीन्हि जस होरी।”²⁶⁵

पर्वोत्सव एवं त्योहारों की जो संक्षिप्त सी झलक जायसी-काव्य में दिखाई पड़ती है वह काव्य-प्रसंगों के संदर्भ में ही आयी है। इसलिए इनका यदा-कदा उल्लेख प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि पूरे भक्ति काव्य में कथा-प्रसंग-विशेष के बावजूद कवि के तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश की भी झलक मिलती रहती है क्योंकि भक्ति काव्य अपने ही ढंग से समय-समाज-सचेतन रहा है। संभव है कि तुलसी-कबीर-काव्य की भाँति अन्यत्र भी प्रक्षेपण और विरोधी भाव मिले पर कुल मिलाकर यह काव्य व्यक्ति, परिवार और समाज में मानवीय जीवन-मूल्य लाने वाला था, मनुष्य के भीतर के ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा करने वाला था। भक्ति का तत्व ही मनुष्य को उसकी तमाम क्षुद्रताओं से ऊपर उठा देता है - यही संदेश उन सभी कवियों का था।

संदर्भ

- ¹ तुलसीदास. कवितावली, पृ.सं. 105
- ² वर्मा, रामचन्द्र. सं. मानक हिन्दी कोश, खण्ड - 5, पृ.सं. 284
- ³ वही, खण्ड - 5, पृ.सं. 127
- ⁴ बसु, नगेन्द्रनाथ. सं.इन्साइक्लोपीडिया इंडिका, तेईसवाँ भाग, पृ.सं. 599-600
- ⁵ वही, बाईसवाँ भाग, पृ.सं. 428
- ⁶ दास, श्यामसुंदर. सं. हिन्दी शब्द सागर, दसवाँ भाग, पृ.सं. 4968
- ⁷ वही, नवाँ भाग, पृ.सं. 4640
- ⁸ सांकृत्यायन, राहुल. मानव समाज, पृ.सं. 8-9
- ⁹ गुप्ता, मोतीलाल. भारत में समाज, पृ.सं. 1
- ¹⁰ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 105
- ¹¹ श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ.सं. 248
- ¹² अहमद, इमत्याज. मध्यकालीन भारत : एक सर्वेक्षण, पृ.सं. 137
- ¹³ प्रेमशंकर. भक्तिकाव्य की पूर्व पीठिका, पृ.सं. 47
- ¹⁴ हुसैन, एस. आबिद. भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, पृ.सं. 76
- ¹⁵ चन्द्र, सतीश. मध्यकालीन भारत : राजनीति समाज और संस्कृति, पृ.सं. 177
- ¹⁶ बिस्मिल्लाह, अब्दुल. मध्यकालीन हिंदी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय, पृ.सं. 8
- ¹⁷ वही, पृ.सं. 6
- ¹⁸ चन्द्र, सतीश. मध्यकालीन भारत : राजनीति, समाज और संस्कृति, पृ.सं. 291
- ¹⁹ गुप्ता, मोतीलाल. भारत में समाज, पृ.सं. 352
- ²⁰ अशरफ, के. एम. हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ, पृ.सं. 245-246
- ²¹ अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 11
- ²² तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 925
- ²³ वही, पृ.सं. 923
- ²⁴ हबीब, इरफान. मध्यकालीन आर्थिक सर्वेक्षण, पृ.सं. 20
- ²⁵ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 934
- ²⁶ प्रेमशंकर. भक्तिकाव्य की भूमिका, पृ.सं. 35
- ²⁷ श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ.सं. 18
- ²⁸ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 938
- ²⁹ वही, अरण्यकाण्ड, पृ.सं. 610
- ³⁰ मुक्तिबोध, गजानन माधव. नयी कविता का आत्मसंघर्ष: आलेख- मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन एक पहलू, पृ.सं. 94
- ³¹ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, किष्किंधाकाण्ड, पृ.सं. 650
- ³² मुक्तिबोध, गजानन माधव. नयी कविता का आत्मसंघर्ष: आलेख- मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन एक पहलू, पृ.सं. 92
- ³³ युगेश्वर. तुलसीदास आज के संदर्भ में, पृ.सं. 43, 44
- ³⁴ कुमार, सुवास. मध्यकालीन फैण्टेसी : सूरदास और चण्डीदास का काव्य, पृ.सं. 24, 25
- ³⁵ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 157
- ³⁶ मेघ, रमेश कुंतल. तुलसी आधुनिक वातायन से, पृ.सं. 15, 16
- ³⁷ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 920

-
- 38 तुलसीदास. दोहावली, पृ.सं. 155
39 तुलसीदास. कवितावली, पृ.सं. 108
40 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 442
41 दिनकर, रामधारी सिंह. संस्कृति के चार अध्याय, पृ.सं. 45
42 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 920
43 वही, पृ.सं. 923
44 तुलसीदास. विनयपत्रिका, पृ.सं. 178
45 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ.सं. 613
46 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 458
47 वही, पृ.सं. 458
48 राघव, रांगेय. तुलसीदास : एक दृष्टिकोण, पृ.सं. 235
49 तुलसीदास. कवितावली, पृ.सं. 117
50 कमल, अरुण. सं. आलोचना (जुलाई-सितम्बर, 2013)
51 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 410
52 वही, बालकाण्ड, पृ.सं. 62
53 तुलसीदास. वैराग्य संदीपनी, पृ.सं. 12
54 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 871
55 वही, पृ.सं. 920
56 वही, बालकाण्ड, पृ.सं. 4
57 वही, पृ.सं. 166
58 वही, पृ.सं. 171
59 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 317
60 वही, पृ.सं. 410
61 वही, अरण्यकाण्ड, पृ.सं. 587
62 वही, पृ.सं. 610
63 वही, पृ.सं. 610
64 वही, पृ.सं. 610
65 वही, किष्किंधाकाण्ड, पृ.सं. 642
66 वही, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 935
67 वही, पृ.सं. 934
68 वही, पृ.सं. 874
69 वही, पृ.सं. 921
70 वही, पृ.सं. 923
71 वही, पृ.सं. 922
72 वही, पृ.सं. 922
73 वही, बालकाण्ड, पृ.सं. 229
74 वही, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 961
75 वही, पृ.सं. 961
76 वही, पृ.सं. 961
77 वही, पृ.सं. 929
78 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 523

-
- 79 वही, बालकाण्ड, पृ.सं. 282
80 वही, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 926
81 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 459
82 वही, पृ.सं. 504
83 वही, पृ.सं. 504
84 वही, पृ.सं. 504
85 वही, पृ.सं. 504
86 वही, पृ.सं. 505
87 वही, लंकाकाण्ड, पृ.सं. 813
88 वही, पृ.सं. 714
89 वही, बालकाण्ड, पृ.सं. 205
90 वही, अरण्यकाण्ड, पृ.सं. 573
91 वही, पृ.सं. 615
92 वही, लंकाकाण्ड, पृ.सं. 760
93 वही, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 923
94 वही, पृ.सं. 944
95 वही, किष्किंधाकाण्ड, पृ.सं. 639
96 वही, बालकाण्ड, पृ.सं. 94
97 वही, अरण्यकाण्ड, पृ.सं. 573
98 वही, पृ.सं. 611
99 वही, पृ.सं. 611
100 वही, पृ.सं. 573
101 वही, किष्किंधाकाण्ड, पृ.सं. 640
102 वही, बालकाण्ड, पृ.सं. 94
103 वही, पृ.सं. 283
104 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 351
105 वही, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 910
106 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 339
107 वही, पृ.सं. 446
108 वही, किष्किंधाकाण्ड, पृ.सं. 641
109 वही, लंकाकाण्ड, पृ.सं. 760
110 तुलसीदास. जानकी मंगल, पृ.सं. 39
111 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 224
112 वही, पृ.सं. 241
113 वही, पृ.सं. 243
114 वही, पृ.सं. 265
115 वही, पृ.सं. 274
116 वही, पृ.सं. 274
117 वही, पृ.सं. 277
118 वही, पृ.सं. 280
119 वही, पृ.सं. 284

-
- 120 वही, पृ.सं. 169
121 वही, पृ.सं. 174
122 वही, पृ.सं. 175
123 वही, पृ.सं. 88
124 वही, पृ.सं. 93
125 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 453
126 वही, पृ.सं. 549
127 वही, बालकाण्ड, पृ.सं. 167
128 तुलसीदास. गीतावली, पृ.सं. 361
129 वही, पृ.सं. 361
130 वही, पृ.सं. 359
131 वही, पृ.सं. 358
132 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 167
133 मीतल, प्रभुदयाल. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, पृ.सं. 75
134 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 228
135 वही, पृ.सं. 278
136 वही, पृ.सं. 279
137 तिवारी, बलराम. सूर की काव्य चेतना, पृ.सं. 17
138 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 157
139 वही, द्वितीय, पृ.सं. 417
140 वही, प्रथम, पृ.सं. 50
141 वही, द्वितीय, पृ.सं. 570
142 वही, प्रथम, पृ.सं. 77
143 वही, द्वितीय, पृ.सं. 318
144 द्विवेदी, हजारी प्रसाद. सूर साहित्य, पृ.सं. 60
145 वर्मा, धीरेन्द्र. सं. सूरसागर सार सटीक, पृ.सं. 146
146 वही, पृ.सं. 146
147 चौधरी, सरला. सं. नंददास, पृ.सं. 75
148 हरगुलाल. सं. परमानंददास, पृ.सं. 62
149 वही, पृ.सं. 82
150 तिवारी, बलराम. सूर की काव्य चेतना, पृ.सं. 16
151 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 358
152 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 527
153 वर्मा, धीरेन्द्र. सं. सूरसागर सार सटीक, पृ.सं. 339
154 हरगुलाल. सं. कृष्णदास, पृ.सं. 110
155 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 485
156 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ.सं. 573
157 हरगुलाल. सं. परमानंददास, पृ.सं. 57
158 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 485
159 वही, पृ.सं. 485
160 वही, पृ.सं. 484

-
- 161 चतुर्वेदी, परशुराम. सं. मीराबाई की पदावली, पृ.सं. 152
162 वही, पृ.सं. 107
163 तिवारी, भगवानदास. सं. मीरा का काव्य, पृ.सं. 55
164 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 160
165 वही, द्वितीय, पृ.सं. 536
166 वही, द्वितीय, पृ.सं. 538
167 चौधरी, सरला. सं. नंददास, पृ.सं. 83
168 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 160
169 वही, पृ.सं. 161
170 हरगुलाल. सं. परमानंददास, पृ.सं. 70
171 वही, पृ.सं. 72
172 वही, पृ.सं. 72
173 वही, पृ.सं. 72
174 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 305
175 वही, प्रथम, पृ.सं. 89
176 चतुर्वेदी, परशुराम. सं. मीराबाई की पदावली, पृ.सं. 116
177 हरगुलाल. सं. कृष्णदास, पृ.सं. 99
178 वर्मा, धीरेन्द्र. सं. सूरसागर सार सटीक, पृ.सं. 342
179 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 153
180 अशरफ, के. एम. हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ, पृ.सं. 45
181 चौधरी, सरला. सं. नंददास, पृ.सं. 106
182 हरगुलाल. सं. कृष्णदास, पृ.सं. 87
183 चौधरी, सरला. सं. नंददास, पृ.सं. 109
184 हरगुलाल. सं. परमानंददास, पृ.सं. 81
185 हरगुलाल. सं. कृष्णदास, पृ.सं. 122
186 चौधरी, सरला. सं. नंददास, पृ.सं. 104
187 हरगुलाल. सं. परमानंददास, पृ.सं. 115
188 वही, पृ.सं. 115
189 हरगुलाल. सं. कृष्णदास, पृ.सं. 112
190 वही, पृ.सं. 113
191 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 258
192 गुप्ता, ओम. पी. कबीर और समकालीन इतिहास, पृ.सं. 66
193 सुन्दरदास. सुन्दर बिलास, पृ.सं. 41
194 सिंह, कृष्ण कुमार. संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका, पृ.सं. 13
195 सुन्दरदास. सुन्दर बिलास, पृ.सं. 92
196 शरण, जगदीश. सं. रैदास ग्रंथावली, पृ.सं. 67
197 दास, श्यामसुन्दर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 79
198 शरण, जगदीश. सं. रैदास ग्रंथावली, पृ.सं. 65
199 दास, श्यामसुन्दर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 82
200 सिंह, कृष्ण कुमार. संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका, पृ.सं. 19
201 दास, श्यामसुन्दर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 182

-
- 202 वही, पृ.सं. 194
- 203 शरण, जगदीश. सं. रैदास ग्रंथावली, पृ.सं. 98
- 204 वही, पृ.सं. 98
- 205 वही, पृ.सं. 100
- 206 वही, पृ.सं. 100
- 207 वही, पृ.सं. 102
- 208 वही, पृ.सं. 102
- 209 वही, पृ.सं. 103
- 210 वही, पृ.सं. 103
- 211 वही, पृ.सं. 104
- 212 अलबेरुनी. अलबेरुनी का भारत, भाग-1, पृ.सं. 129
- 213 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 82
- 214 शरण, जगदीश. सं. रैदास ग्रंथावली, पृ.सं. 94
- 215 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 113
- 216 वही, पृ.सं. 31
- 217 अग्रवाल, पुरुषोत्तम. अकथ कहानी प्रेम की, पृ.सं. 356-357
- 218 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 31
- 219 वही, पृ.सं. 55
- 220 वही, पृ.सं. 98
- 221 दादूदयाल. दादूदयाल की बानी, पृ.सं. 206
- 222 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 185
- 223 वही, पृ.सं. 122
- 224 वही, पृ.सं. 120
- 225 वही, पृ.सं. 38
- 226 शुक्ल, रामचन्द्र. त्रिवेणी, पृ.सं. 19
- 227 साही, बिजयदेव नारायण. जायसी, पृ.सं. 185
- 228 वही, पृ.सं. 18
- 229 वही, पृ.सं. 33
- 230 वही, पृ.सं. 28
- 231 गुप्त, माता प्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 420
- 232 वही, पृ.सं. 422
- 233 वही, पृ.सं. 306
- 234 वही, पृ.सं. 456
- 235 वही, पृ.सं. 527
- 236 वही, पृ.सं. 455
- 237 अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 37
- 238 गुप्त, माता प्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 245
- 239 अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 677
- 240 वही, पृ.सं. 658
- 241 वही, पृ.सं. 89
- 242 गुप्त, माता प्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 180

-
- 243 वही, पृ.सं. 238
244 वही, पृ.सं. 396
245 वही, पृ.सं. 209
246 वही, पृ.सं. 534
247 साही, बिजयदेव नारायण. जायसी, पृ.सं. 88
248 अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 61
249 वही, पृ.सं. 639
250 गुप्त, माता प्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 314
251 वही, पृ.सं. 447
252 अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 260
253 वही, पृ.सं. 261
254 वही, पृ.सं. 273
255 वही, पृ.सं. 382
256 गुप्त, माता प्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 237
257 अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 570
258 गुप्त, माता प्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 395
259 वही, पृ.सं. 496
260 वही, पृ.सं. 521
261 वही, पृ.सं. 346
262 वही, पृ.सं. 348
263 वही, पृ.सं. 348
264 वही, पृ.सं. 357
265 वही, पृ.सं. 359

चतुर्थ अध्याय

भक्ति काव्य में अभिव्यक्त अर्थव्यवस्था का स्वरूप

4.0 मध्यकालीन अर्थव्यवस्था का स्वरूप

प्राचीन समय से ही 'अर्थ' भारतीय जीवन का महत्वपूर्ण घटक रहा है। भारतीय जीवन दर्शन के चार पुरुषार्थों में 'अर्थ' को भी स्वीकार किया गया। पहले जीवन के चार पुरुषार्थों में 'अर्थ' का उद्देश्य भोगवादी जीवन पद्धति नहीं था बल्कि जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए 'अर्थ' एक सामान्य जरूरत था। प्राचीन समय से ही अर्थोपार्जन के विविध उपादान रहे हैं। जैसे- कृषि, पशुपालन, उद्योग धंधे इत्यादि। वर्ग-व्यवस्था हो या वर्ण-व्यवस्था इसके केन्द्र में 'अर्थ' की भूमिका हमेशा से महत्वपूर्ण रही है; जिसके लिए वर्ग-संघर्ष और जीवन के विविध धार्मिक, सामाजिक सिद्धांत भी बनाए गए। मध्यकाल में दो ही वर्ग थे- निम्न-वर्ग और उच्च-वर्ग। मध्य-वर्ग का उदय नहीं हुआ था। उच्च-वर्ग में राजा, मंत्री, अमीर, सामंत आते थे; जिनकी जीवन शैली विलासितापूर्ण और भोगवादी थी। इनके लिए 'अर्थ' का अभिप्राय भोग था।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के फलस्वरूप तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ ही आर्थिक परिवर्तन भी हुए। मध्यकालीन अर्थव्यवस्था कृषि, कर वसूली एवं भूमि वितरण से जुड़ी हुई अर्थ व्यवस्था थी; इसके साथ ही शहरीकरण, व्यापार तथा लघु उद्योगों की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी; यानी आर्थिक आधारों के बदलने से सामाजिक चिंतन का आधार भी बदलता है, जिसको हम मध्यकाल में देख सकते हैं। मध्यकाल में सामंतवाद के बीज से सौदागरी पूँजीवाद का विकास प्रारंभ हो गया था। एक केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था के आने से नगरीय जीवन तथा व्यापारों, उद्योगों का स्वरूप बदला। सड़कों, नहरों तथा कृषि आधारित यंत्रों के निर्माण कार्य शुरू हुए। कपड़े उद्योग के उत्पादन पर भी असर पड़ा। शिल्पकारों के जीवन में भी बदलाव आया। इससे निम्न जातियों को रोजगार के अवसर प्राप्त हुए। जब ये जातियाँ आर्थिक रूप से थोड़ी निर्भर हुईं तो इनमें आत्मसम्मान और प्रतिरोधी चेतना का पनपना स्वाभाविक था। इस संदर्भ में प्रो. मैनेजर पाण्डेय

लिखते हैं कि- “आरंभ के इस काल में किसान, शिल्पकार और व्यापारी वर्ग का प्रभुत्व बढ़ता है। समाज के आर्थिक आधार और उत्पादन संबंधों में परिवर्तन के कारण विचारधारात्मक रूपों में परिवर्तन होता है; संस्कृति, कला और साहित्य के नए विकास की संभावना बनती है। नए आर्थिक विकास और बदले हुए सामाजिक संबंधों के कारण जिन वर्गों का प्रभाव बढ़ता है, संस्कृति कला और साहित्य में भी उनकी भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।”¹

मध्यकाल में तुर्कों के आगमन से एक नगरीय जीवन शैली का आविर्भाव हुआ। इतिहासकार इरफान हबीब सल्तनत काल की दो महत्वपूर्ण देन मानते हैं; एक तो नगरों का विकास तथा दूसरा कृषि संबंधों में तब्दीली - “सल्तनत काल में नगरीय अर्थव्यवस्था का अच्छा-खासा प्रसार हुआ। लगता है, आपस में जुड़े तीन विकास क्रम सामने आए : (अ) नगरों के आकार और संभवतः उनकी संख्या में अच्छी-खासी बढ़ोत्तरी, (ब) दस्तकारों के उत्पादन का उल्लेखनीय प्रसार हुआ, और (स) वाणिज्य का एक संगत प्रसार हुआ।”²

ग्रामीण क्षेत्रों ने बहुत हद तक अपनी स्थानीय स्वायत्तता बनाये रखा; फिर भी उन्हें राजस्व देना पड़ता था। आधारभूत आर्थिक उत्पादक ग्राम थे। वह उत्पादन मुख्यतः स्थानीय उपभोग के लिए होता था। प्रत्येक ग्राम के अपने निजी कारीगर होते थे। जैसे- लोहार हल, कुदाल, खुरपी, हंसियाँ इत्यादि कृषि से जुड़े काम करता था। बुनकर सूत कातने और कपड़े बुनने का कार्य तथा कुम्हार मिट्टी के बर्तन, बढ़ई लकड़ी से संबंधित कार्य करते थे। इस प्रकार विविध कारीगर गाँवों के अलग-अलग कार्यों से संबंध रखते थे। ये सब शिल्पी जातियाँ थीं; जिनका उत्पादन सीमित था। जाति से संबंधित होने के कारण शिल्प-श्रम एक प्रकार से पैतृक हो गया था। देश के कुलीन जीवन के ढाँचे ने माल के विनिमय को प्रोत्साहित किया। कुछ क्षेत्रों में ग्रामीण उत्पादन निकटवर्ती नगरों से सम्बद्ध हो गया। अष्टछाप के कवियों के यहाँ इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं। वहाँ ब्रज क्षेत्र की ग्वालिनें दही बेचने मथुरा जाती हैं -

“गोरस बेचन जात मधुपुरी आय अचानक बन में घेरी।”³

ऐसा नहीं कि ग्रामीण उत्पादन पर ही शहरों का संपूर्ण जीवन निर्भर था क्योंकि नगरों की आवश्यकता पूर्ति नगर में कार्य करने वाले शिल्पी भी करते थे। जैसे मध्यकाल में नगरों के कपड़ा उद्योग काफी उन्नत अवस्था में थे। जिसमें बनारस, बंगाल, गुजरात तथा दक्षिण में मदुरई इसके प्रमुख केन्द्र थे। कबीरदास स्वयं बुनकर थे; उनकी कविताओं में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं -

“तांनां तनि करि बांनां बुनि करि, छाक परी मोहि ध्यांना।

कहै कबीर मैं बुनि सिरांना जानत है भगवांनां हो राम।”⁴

नगर धीरे-धीरे व्यापारिक केन्द्र बन गए। दरबार की बढ़ती माँगों के कारण विलास की वस्तुओं का आंतरिक उपभोग भी बढ़ गया था। प्रत्येक नगर में एक बाजार होता था, जहाँ व्यवसायी और वणिक एकत्र होते थे। जायसी ने सिंहलद्वीप के बाजार का विस्तृत वर्णन किया है -

“जेइं न हाट एहि लीन्ह बेसाहा। ताकहं आन हाट कित लाहा।”⁵

कई जातियाँ अब व्यापार से सम्बद्ध हो गयी थीं। जैसे गुजराती बनिये जो सुदूर दक्षिण में मालाबार तक बस गये थे। मुल्तान के मुल्तानी तथा राजस्थान के मारवाड़ी वणिकों के रूप में अपनी नींव जमाने लगे थे। बंजारे भ्रमणशील व्यवसायी थे जो बड़े-बड़े काफिले के साथ सुदूर प्रदेश तक व्यापार करते थे -

“मन बनजारा जागि न सोई लाहे कारिन मूल न खोई।”⁶

छोटे-छोटे सौदागर खच्चर, ऊँट तथा बैलों पर माल लादकर गाँव-गाँव जाकर बेचते थे -

“बेसर ऊँट वृषक बहु जाती। चले बस्तु भरि अगनित भांती।”⁷

नगरों में व्यापारियों के लिए सरायें होती थीं। व्यापारियों के आने जाने से सराय बाजार की भाँति ही व्यापार के लिए महत्वपूर्ण बन गई थी।

व्यापार ने मुद्रा के प्रयोग को प्रोत्साहन दिया; जिसका प्रचलन उत्तरी भारत के सभी नगरों में हुआ। दिल्ली प्रदेश में जारी की जाने वाली मुद्राएँ चौहानों और गहड़वालों द्वारा जारी की गयी मुद्राओं की अनुकृतियाँ थीं; स्थानीय लोगों में नयी मुद्रा के प्रति विश्वास उत्पन्न करने का यह विवेकपूर्ण तरीका था। इन मुद्राओं पर सुल्तान के नाम अंकित किए जाते थे। इस काल की मुद्राओं में जीतल और

टंका का सर्वाधिक उल्लेख हुआ है। जीतल तांबे की और टंका चाँदी की मुद्राएँ होती थीं। टंका सुल्तानों की मानक मौद्रिक इकाई बन गया। यह आधुनिक भारतीय रुपये का रूप था। मोहर नामक स्वर्ण मुद्रा का प्रयोग अधिकतर व्यापारिक उद्देश्यों के लिए अथवा विशेष अवसरों पर होता था। सल्तनत काल में राज्य के विभिन्न भागों में टकसालें थीं। दिल्ली के मानकीकृत तौल मन, सेर, छटांक थे। कुलीन वर्ग के शान-शौकत में होने वाले विशाल व्यय तथा नागरिक केन्द्रों के विकास के कारण मुद्रा प्रचलन को प्रोत्साहन मिला।

प्राचीन काल से ही भारतीय अर्थव्यवस्था का मूलाधार कृषि रही है। वह कृषि मध्यकाल में बहुत हद तक सामंतों एवं जागीरदारों की कृपा पर निर्भर हो गयी। कृषकों के लिए कर अदायगी के कोई निश्चित नियम नहीं थे और न ही जमीन के सही माप-तौल के सार्वजनिक तथा प्रामाणिक आंकड़े ही थे। शासक वर्ग के लगान वसूलने वाले कर्मचारी प्रजा के साथ अत्याचार करते और कृषकों की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके बलपूर्वक लगान वसूलते थे। पैदावार का बहुत कम हिस्सा ही कृषकों के पास रह पाता था। इस संदर्भ में के.एम. अशरफ लिखते हैं कि- “भूमि की उपज का अधिकांश भाग भू-राजस्व और विभिन्न अव्वाबों के रूप में राज्य के पास चला जाता था। शेष का एक रस्मी अंश घरेलू और अन्य मजदूरों के विभिन्न वर्गों के लिए निश्चित था। शेष अंश कृषक और उसका परिवार अपने उपयोग के लिए रखते थे और धीरे-धीरे उसका उपभोग करते थे।”⁸

बेचारे किसान लगान के भार से परेशान रहते और कभी-कभी दुर्भिक्ष, अनावृष्टि के कारण अन्न के अभाव में और अधिक दुःखमय जीवन बिताते थे। इस काल में अमीरों और गरीबों का पारस्परिक भेद लगातार बढ़ता गया। तुलसीदास लिखते हैं-

“खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिय, न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सीधमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों कहां जाई का करी?”⁹

कृषि के उचित प्रबंधन के लिए शासकों के पास कोई कारगर नीति नहीं थी। अलाउद्दीन की नीति बाजार नियंत्रण एवं दोआब की कृषि तक ही सीमित थी। शेरशाह ने कृषि क्षेत्र में अल्प समय के लिए सार्थक प्रयास किया लेकिन वह भी सफल नहीं हो पाया। उसके इस प्रयास को अकबर के जमाने में गति मिली, जिसने भूमि की माप कराई तथा उसकी उर्वरा शक्ति के आधार पर उसे वांगर, चांचर, बंजर या ऊसर भूमि के रूप में बाँटा गया। कबीर ने मगहर के लिए ऊसर शब्द का प्रयोग किया है -

“क्या कासी क्या ऊसर मगहर राम रिदय जौ होई”¹⁰

लगान प्रणाली को भी कोड़ी, जाब्ता तथा दससाला के रूप में परिवर्तित किया गया। इसके बावजूद भी आम जन-जीवन में कोई गंभीर सुधार नहीं हुआ। इस समय भी मनसबदारी, जमींदारी जैसी प्रथाएँ सामंतों के विलासितापूर्ण जीवन का सहारा बनी हुई थीं। आम जनता आर्थिक संकट की अभ्यस्त हो चुकी थी। किसानों की व्यवस्था सबसे खराब थी जो अपने तीन शत्रुओं राजकर्मचारी, प्रकृति की विनष्टकारी शक्तियों तथा जंगली जानवरों द्वारा बराबर सताये जाते थे -

“संतनि एक अहेरा लाधा, मिर्गनि खेत सबनि का खाधा”¹¹

इस प्रकार मध्यकालीन जन-जीवन बढ़ते व्यापार और नगरीय जीवन के बावजूद भी अस्त-व्यस्त ही रहा।

4.1 ग्राम

ग्रामीण जीवन प्राचीन समय से ही भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ रहा है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि थी। ग्रामीण लोग कृषि की पैदावार केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं करते बल्कि इस उत्पादन पर गाँव के साथ कस्बे और नगर भी निर्भर होते थे। गाँवों में किसानों की संख्या अधिक थी। कृषि-कर्म गाँव का मुख्य पेशा होता था। गाँवों में वर्ग-भेद के साथ श्रम का विभाजन भी देखने को मिलता है; जिसका आधार लगभग जातिगत था। शिल्प अथवा दस्तकारी एक विशेष जाति का पेशा था; जिसके हर गाँव में दो, चार परिवार होते थे। जैसे, कुम्हार, लोहार, बढ़ई, दर्जी इत्यादि। विभिन्न पेशे से जुड़े ये लोग जमींदार, साहूकार तथा कृषक वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। जमींदार, ताल्लुकदार आदि गाँव में बसने वाले निम्न जाति के

लोगों से जिन्हें ‘चाकर’ कहा जाता था, सेवा लेते थे। मीराबाई कृष्ण भक्ति के संदर्भ में ‘चाकर’ शब्द का प्रयोग करती हैं -

“म्हाणे चाकर राखांजी, गिरधारी लाला चाकर राखांजी।

चाकर रहस्युं बाग लगास्युं नित उठ दरसण पास्युं।”¹²

ये वर्ग मुख्यतः फसलों की कटाई के समय जमींदारों आदि के लिए काफी सहायक थे। गाँव तथा फसलों की निगरानी के लिए छोटी-छोटी जमीनें ‘भूमि-अनुदान’ में दे दी जाती थी। इनमें पटवारी के अतिरिक्त चमार, सुनार, लुहार, धोबी, नाई, कुम्हार, पुरोहित आदि प्रमुख थे। पटवारी गाँव का सह-अधिकारी था जो गाँव की आय और खर्च का हिसाब रखता था। प्रत्येक कृषक गाँव के संयुक्त कोष में अपनी किस्त का भुगतान करता था और इसमें से गाँव का खर्च, राजस्व अधिकारियों के भत्ते आदि की व्यवस्था की जाती थी।

उपर्युक्त ये जातियाँ अपने पेशेवर कार्य करती थी जैसे- चमार मरे हुए जानवरों की खाल निकालने के साथ ग्रामीणों के लिए जूते बनाने का कार्य करते थे। लोहार कृषि से संबंधित यंत्र जैसे- हल, खुरपी, हंसियाँ तथा घरेलू लौह यंत्रों आदि को बनाते थे। कुम्हार मिट्टी के बर्तन बनाने का काम करते थे। धोबी कपड़ा धोने का कार्य करते थे। इस प्रकार और भी पेशेवर जातियाँ थीं जो अपने-अपने कार्यों को करती थीं। इन सेवाओं के बदले इनको काश्तकार की प्रत्येक उपज में से निश्चित भाग मिलता था; जिससे वे अपना जीवन यापन करते थे।

यानी गाँवों में कृषि और गैर-कृषि आधारित दोनों तरह के लोग बसते थे। कृष्णदास नंद के गाँव में बसने की इच्छा व्यक्त करते हुए कहते हैं कि -

“जो बन बसौं तो बसौं बृंदावन गांव बसौं तो बसौं नंद गाम।”¹³

मध्यकाल में पुराने स्थापित गाँवों को ‘असली’ तथा नये विकसित गाँवों को ‘इजाफा’ अथवा ‘दाखिली’ गाँव कहते थे। दाखिली गाँव असली गाँवों के अंग होते थे। दाखिली गाँव की जोत योग्य भूमि तथा उसका राजस्व ‘असली’ गाँवों के साथ जुड़ा होता था।

गाँव का गैर-स्वामित्व रियाया 'पाही' एवं 'मुजारियन' नाम से जानी जाती थी। तुलसीदास ने दोहावली में 'पाही' शब्द का जिक्र किया है -

“पाही खेती, लगनवट, दिन कुब्याज, मग खेता।

बैर बड़े सों आपने, किए पांच दुख-हेता।”¹⁴

ऐसी जमीनों को वहाँ के परिवारों को देकर कृषि योग्य बनाया जाता था तथा वहाँ के अधिकारी उससे भी राजस्व वसूलते थे। वे गाँव जो राज्य को राजस्व का भुगतान करते थे 'देहात-तालुका' अथवा 'देहात-ए-रैयती' नाम से पुकारे जाते थे। यहाँ लगान या राजस्व की वसूली जमींदार, मुकदम, चौधरी इत्यादि द्वारा किए जाते थे।

गाँवों में मुखिया, मुकदम या पटेल होते थे। अधिकांशतः ये गाँव के धनी कृषक ही हुआ करते थे और एक बार इनकी हस्ती जम जाने पर ये सदैव इस तलाश में रहते थे कि इसको अपने ही वंश में स्थायी कर इसे व्यक्तिगत सम्पत्ति बना लें। रैयती गाँवों में ग्रामीण समुदाय की स्थिति कमजोर थी; वहीं मुखिया की स्थिति काफी महत्वपूर्ण होती थी क्योंकि वह लगान की वसूली भी करता था। जब मुखिया स्वच्छंद होता था तब वह कमजोर काश्तकारों से अधिक कर वसूल लेता था। ग्राम के संदर्भ में इरफान हबीब लिखते हैं कि - “ग्राम समुदाय किसी भी प्रकार लोकतांत्रिक नहीं था। उसमें शासक वर्ग के लिए जायद (सरप्लस) की वसूली की एक व्यवस्था थी, और साथ ही गाँवों के ऊँचे लोगों द्वारा गरीब किसानों और मजदूरों के एक प्रकार के उप-शोषण को भी सहारा मिलता था।”¹⁵

इस प्रकार हम पाते हैं कि ग्रामीण जीवन मुख्यतः कृषि पर ही निर्भर था तथा उन्हें राजस्व अधिकारियों की प्रताड़नाएँ हमेशा सहनी पड़ती थी।

4.1.1 कृषि

मध्यकालीन अर्थव्यवस्था कृषि आधारित अर्थव्यवस्था थी। भारत के विस्तृत भू-भाग, विभिन्न प्रकार की मिट्टियों और पर्यावरणीय वातावरण के कारण यहाँ कई प्रकार के कृषि उत्पादों का उत्पादन पहले से ही होता रहा है। भक्तिकालीन कवियों ने कृषि और कृषक जीवन का यदा-कदा बहुत

ही सजीव वर्णन किया है जिससे तत्कालीन समय में कृषि की स्थिति का भी पता चलता है। सूरदास ने खेती करते हुए किसान का एक सुंदर रूपक खींचा है -

“प्रभु जू, यों कीन्ही हम खेती।
बंजर भूमि, गाऊं हर जोते, अरु जेती की तेती।
काम-क्रोध दोउ बैल बली मिलि, रज-तामस सब कीन्हौ।
अति कुबुद्धि मन हांकनहारे, माया जूआ दीन्हौ।
इन्द्रिय-मूल-किसान महातृन-अग्रज-बीजबई।”¹⁶

उत्तर भारत की अधिकांश मौसमी फसलें दो प्रमुख फसल ऋतुओं ‘खरीफ’ और ‘रबी’ में उगाई जाती है। कबीर के यहाँ ‘रबी’ की फसल का उल्लेख मिलता है -

“जदपि रबि कटिये सुर आटी, झूठे रबि लीन्हा सुर चाही।”¹⁷

कुछ किसान इनके बीच लघु अवधि की फसलें उगाकर कभी-कभी तीन फसलें भी उपजा लिया करते थे। प्रमुख खरीफ फसल धान और प्रमुख रबी फसल गेहूँ थी। दक्षिण भारत में इस प्रकार का विभाजन नहीं था जिसमें अलग मौसमों में अलग फसल उपजाई जाती हो। गेहूँ और धान पूरे देश की दो महत्वपूर्ण फसलें थीं। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में धान का उत्पादन अधिक होता था। सूरदास ने एक पद में वर्षा के बिना धान के सूखने का उल्लेख किया है -

“सूखति सूर धान अंकुर सी, बिनु बरषा ज्यों मूल तुई।”¹⁸

संपूर्ण उत्तर-पूर्व, पूर्वी भारत, गुजरात का दक्षिणी तटीय प्रदेश और दक्षिण भारत प्रमुख धान उत्पादक क्षेत्र थे। चावल के समान गेहूँ के भी कुछ खास इलाके थे। पंजाब, सिंध, उत्तर प्रदेश और अन्य कम वर्षा वाले क्षेत्रों में गेहूँ उपजाया जाता था। इन दोनों फसलों के अतिरिक्त मध्य मैदानी भागों में जौ का उत्पादन होता था। गेहूँ वाले इलाकों में ज्वार और बाजरा भी उपजाया जाता था। विभिन्न प्रांतों में चना, अरहर, मूँग, उड़द तथा खेसाड़ी इत्यादि दालों का उत्पादन होता था।

मध्यकालीन नगदी फसलों में गन्ना, कपास, नील और अफीम प्रमुख थे। नगदी फसलें मुख्य रूप से बाजार के लिए उपजाई जाती थीं। मध्यकाल में वाणिज्यिक गतिविधियों के बढ़ने के कारण इन

फसलों की माँग में वृद्धि हुई। नगदी फसलों में सबसे ज्यादा खेती गन्ने की होती थी। इसके अलावा एक और नगदी फसल कपास की खेती मुख्य रूप से महाराष्ट्र, गुजरात और बंगाल में होती थी। नील का उत्पादन वृहद पैमाने पर होता था जिसकी माँग भारत के साथ-साथ विदेशों में भी थी। तिलहन खाद्यान्न के साथ-साथ नगदी फसल भी थी। इससे तेल निकाला जाता था। सरसों, अरंडी, तीसी प्रमुख तिलहन फसलें थीं। तिलहन के अन्य प्रकारों को कम ही उपजाया जाता था। कच्चे सरसों से तेल निकालने का उल्लेख कबीर करते हैं -

“काची सरसो पेलि कै ना खलि भई न तैलु।”¹⁹

कृषि आधारित पैदावारों पर आधारित गुड़, इत्र और शराब महत्वपूर्ण उत्पादन थे। कबीर ने अपने पदों में शराब बनाने की विधि का वर्णन किया है -

“गुड़ करि ग्यान ध्यांन कर महुवा भव भाठी करि भाए।

X X X X X X X X

दोइ पुड़ जोड़ि चिगाई भाठी, चुया महा रस भारी।”²⁰

मध्यकाल में शराब बनाने के लिए गुड़, महुआ, जौ, चावल इत्यादि प्रयोग में लाया जाता था। सूरदास ने एक पद में ‘गन्ना पेरकर’ गुड़ बनाये जाने की बात कही है।

“रस लै-लै औटाइ करत गुर, डारि देत है खोई।

फिरि औटाए स्वाद जात है, गुर तैं खांड़न होई।”²¹

कपास की कताई-बुनाई भी कृषि आधारित उत्पादन था। इससे तैयार कपड़े का थान नगद मूल्य के बदले या अन्य वस्तुओं के बदले टुकड़े करके या तौलकर भी बेचा जाता था।

कृषि उत्पादन में पशुओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। हल जोतने और सिंचाई करने में उनसे सहायता ली जाती थी और उनके गोबर का खाद के रूप में उपयोग होता था। दुग्ध उत्पादन के अतिरिक्त ये कृषि संबंधी उत्पादन में भी ये काफी योगदान देते थे। आम तौर पर किसान और कुछ खास जाति के लोग पशुपालन का कार्य करते थे। अष्टछाप काव्य में ‘चारागाही संस्कृति’ का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है।

“गाय सब गोवर्धन तें आई।

बछरा चरावत श्रीनंदनंदन बेनु बजाय बुलाई।”²²

बैलों का उपयोग कृषि कार्य के अतिरिक्त बैलगाड़ी खींचने के लिए भी होता था। बंजारों के पास बहुत अधिक मात्रा में पशु रहते थे जिससे वे अपना माल ढोते थे।

भारतीय कृषि बहुत हद तक वर्षा पर निर्भर करती थी। किसी क्षेत्र विशेष में फसलों को लगाने से पहले वर्षा के जल की उपलब्धता को मुख्य रूप से ध्यान में रखा जाता था। वर्षा जल के अतिरिक्त सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी उपयोग किया जाता था। इस समय ‘रहट’ का विकास कृषि के लिए एक क्रांतिकारी परिवर्तन था। ‘रहट’ के होने से सिंचाई करना पहले से सरल हो गया। ‘रहट’ के संदर्भ में इरफान हबीब लिखते हैं कि - “‘रहट’ में जहाँ जंजीर पानी को गहराई से निकाल पाना संभव बनाती है वहाँ दाँतेदार पहिए इसे पशु-शक्ति के उपयोग और जंजीर की गति को ठीक तरह से नियंत्रित करने में सक्षम बनाते हैं। यह माना जा सकता है कि ये दोनों वस्तुएँ भारत में ही, अलग-अलग बनी और विकसित हुई होंगी। ... इसका निर्णायक विकास इसमें दाँतेदार पहिए के लगने से ही हुआ होगा क्योंकि उसके बिना बड़े खेतों की सिंचाई के लिए आवश्यक निरंतर और वेग युक्त जल प्रवाह के लिए पर्याप्त शक्ति और गति प्राप्त नहीं की जा सकती थी।”²³

कबीर और जायसी ने अपनी कविताओं में ‘रहट’ का उल्लेख किया है -

“नैना नीझर लाइया, रहट बहै निस जाम।”²⁴

“मुहमद जीवन जल भरन रहंट घरी की रीति।”²⁵

पूरे देश में कुएँ द्वारा सिंचाई की जाती थी। कुएं से पानी को निकालने के लिए विभिन्न उपलब्ध तकनीकों का इस्तेमाल किया जाता था। उत्तर भारत में कुएं से पानी निकालने के लिए ‘ढेकुल’ का प्रयोग किया जाता था, जिसका उल्लेख कबीरदास ने किया है -

“सुरति ढीकुली ले जल्यो, मन नित ढोलन हारा।

कंवल कुवां मैं प्रेम रस, पीवै बारंबारा।”²⁶

पूरे देश में झीलों, तालाबों और जलाशयों का उपयोग एक समान होता था। दक्षिण भारत में यह अधिक लोकप्रिय प्रणाली थी। इन जलाशयों का निर्माण कराना राज्य, स्थानीय सरदारों और मंदिर प्रबंधन की जिम्मेदारी थी। राजस्थान में भी पानी जमा करने के लिए जलाशयों का निर्माण कराया जाता था।

उत्तरी मैदानी भागों में नहरों का उपयोग सिंचाई के लिए किया जाता था, लेकिन इन नहरों की संख्या बहुत कम थी। यह नहरों के निर्माण का समय था। चौदहवीं शताब्दी में सुल्तान फिरोज तुगलक ने कुछ नहरें बनवाई थीं। शाहजहाँ ने 150 मील लम्बी फैज नामक नहर बनवाई थीं; इसके द्वारा यमुना का जल विस्तृत क्षेत्र में पहुँचाया जाता था। इन सबके बावजूद खेतों की सिंचाई मुख्य रूप से वर्षा पर ही निर्भर थी।

4.1.2 कृषक

कृषक या किसान ग्रामीण समाज का मुख्य वर्ग था और उससे वसूले गये राजस्व पर ही पूरा शासन और राज्य-तंत्र आधारित था। इसके बावजूद भी कृषक वर्ग साम्राज्य का सर्वाधिक उत्पीड़ित तथा शोषित वर्ग बना रहा। कृषक वर्ग का कोई समरूप समुदाय नहीं था। बड़े किसानों के पास ज्यादा संसाधन होते थे, उनके पास ज्यादा खेत थे और वे अपने खेतों में मजदूरों की भी सहायता लेते थे। धनी किसानों को 'मुकद्दम' या 'खुदकाशत' कहते थे तथा गरीब किसानों को 'रेजा रियाया' या 'बलाहार' कहते थे। इसके अतिरिक्त भूमिहीन श्रमिकों की एक बड़ी संख्या भी प्रत्येक गाँवों में रहती थी। इनके पास कृषि-भूमि नहीं होती थी और होती थी तो बहुत कम। अतः जीवन-यापन के लिए वे किसानों के खेत में कृषि-कार्य करते थे जिसकी मजदूरी के तौर पर उन्हें फसल कटने के समय उपज का एक निश्चित भाग मिलता था। कृषि आश्रित अर्थव्यवस्था में राजनैतिक, सामाजिक तथा प्राकृतिक उथल-पुथल का कृषक के जीवन पर सीधा असर पड़ता था। ये आर्थिक कारक उसके अपने भाग्य-निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। किसानों के भाग्यवाद पर हरबंस मुखिया लिखते हैं कि - “किसान भाग्यवाद के विचार को तभी स्वीकार करता था जब उसकी फसल तबाह हो जाती थी जिसके लिए वह किसी को इलजाम नहीं दे सकता था। मध्यकालीन यूरोपीय किसान के उत्पादन की प्रक्रिया लार्ड

के नियंत्रण में होती थी और इसलिए फसल के तबाह होने पर उसके पास एक गोचर निशाना मौजूद होता था। मगर उसके विपरीत भारतीय किसान की उत्पादन की प्रक्रिया ऐसे बाहरी नियंत्रण से मुक्त होती थी।... ऐसी दशा में भाग्य जैसा एक अगोचर कारक व्याख्या में सहायक होता था।”²⁷

कृषि योग्य भूमि की प्रचुरता होने के बावजूद भी कृषक जिस भूमि को जोतता था उस पर उसका स्वामित्व नहीं था। इसके विपरीत वह जो फसल उगाता था उस पर उच्च वर्गों के निश्चित अधिकार थे; हालांकि किसान को जन्म से स्वतंत्र स्वीकार किया जाता था परंतु बहुधा उसे अपनी इच्छानुसार स्थान बदलने या भूमि छोड़कर जाने के अधिकार से वंचित रखा जाता था।

किसान खेत में जो उत्तम कोटि की फसल जैसे- गेहूँ, चावल, चना इत्यादि पैदा करता था वह राजस्व चुकाने के लिए होता था। किसान का अपना सामान्य भोजन मोटा अनाज था। उसका सारा जीवन मिट्टी, घास-फूस और बाँस की बनी झोपड़ियों में व्यतीत होता था; यद्यपि वह कुलीन वर्ग के महलों के निर्माण का साधन था। उसे केवल उतने ही कपड़े पहनकर संतुष्ट होना पड़ता था जितने शरीर ढकने के लिए आवश्यक थे जबकि उच्च वर्ग की कीमती पोशाकों के निर्माण तथा देश से निर्यात के लिए सूत व रेशम का खेतों में उत्पादन उसके परिश्रम के फलस्वरूप ही होता था।

इसके बावजूद भी कृषक वर्ग भू-राजस्व कर्मचारियों तथा जमींदारों आदि के प्रकोप का प्रायः निशाना बनते थे। किसान उपज के एक बड़े भाग से वंचित रहता था। कभी-कभी तो यह अवस्था आ जाती थी कि लगान आदि न चुका सकने के कारण उसे अपना घर छोड़ कर दूसरे स्थानों पर भाग जाना पड़ता था। कबीरदास कहते हैं-

“अब न बसूँ इहि गांव गुसाईं, तेरे नेवगी खरे सयांने हो रामा।”²⁸

सामान्य उपज के वर्षों में भी किसान का जीवन गरीबी और तंगी में गुजरता था। फसल सदैव अच्छी नहीं होती थी। वर्षा न होने अथवा अधिक होने तथा अन्य कई कारणों से कभी-कभी फसल नष्ट हो जाती थी और अकाल पड़ जाता था -

“का वर्षा जब कृषि सुखानें। समय चुकें पुनि का पछिताने।”²⁹

“अंति कालि सूका पड़ै, तौ निरफल कदे न जाइ”³⁰

अकाल के प्रकोप का प्रभाव सामान्य रूप से समस्त जनसाधारण पर पड़ता था परंतु किसान का जीवन इससे सीधे प्रभावित होता था। अकाल के साथ-साथ साधारण जनता को प्लेग जैसी महामारियों का भी सामना करना पड़ता था। लोग भुखमरी, अकाल तथा इन महामारियों से बचने के लिए प्रभावित इलाकों से समृद्ध क्षेत्रों की तरफ प्रस्थान कर जाते थे।

किसान की गरीबी तथा कठिनाइयों का मुख्य कारण भू-राजस्व की ऊँची दर थी। किसान से उसकी उपज का एक-तिहाई से लेकर आधा भाग तक राजस्व के रूप में वसूल कर लिया जाता था। उपज का लगभग आधा भाग भू-राजस्व में देने के बाद किसान के पास आधे बचे हुए भाग में उत्पादन-व्यय, कृषि-यंत्र सप्लाई करने वाले शिल्पकारों, बढ़ई, नाई, धोबी तथा गाँव के अन्य कामगार शामिल थे। इसी उपज में से किसान को ग्रामीण समुदाय निधि में भी कुछ धनराशि जमा करनी पड़ती थी। इसके बाद बचे हुए उपज से किसानों को अपना जीवन-निर्वाह करना पड़ता था।

4.2 नगर

सल्तनत की स्थापना से पूर्व नगर संख्या और आकार में छोटे होते थे। उच्च शासक वर्ग सेना के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान भ्रमण करता रहता था। जबकि निम्न कुलीन वर्ग पूर्णतया गाँवों में सीमित था। सल्तनत काल में नगरों का विकास हुआ और व्यापार में वृद्धि हुई। कबीरदास नगर का उल्लेख करते हैं -

“चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या, मुसियत नगर तुम्हारा।”³¹

नगर या शहर के दो प्रमुख लक्षण हैं। पहला एक सीमित स्थान पर उच्च घनत्व वाले आबादी का होना तथा दूसरा जनसंख्या का मुख्यतः गैर-कृषक या गैर-खेतिहर होना है। संभवतः जनसंख्या के घनत्व का अनुपात और व्यावसायिक विभिन्नता ही ‘नगरों’ और ‘ग्रामों’ में भिन्नता के आधार हैं। तुलसीदास ‘पुर’, ‘नगर’ और ‘ग्राम’ का उल्लेख करते हैं -

“बन प्रदेश मुनि बास घनेरे। जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे।”³²

ग्रामीण वातावरण के अंदर ही शहरी केन्द्रों का विकास हुआ। ग्रामीण समुदायों का शहरी समुदायों में परिवर्तन हुआ। कबीरदास ने नए नगर के बनने का जिक्र किया है -

“तिहि पूत बाप इक जाया, बिन ठाहर नगर बसाया।”³³

उस समय गाँव से कस्बा और कस्बा से शहर बनते थे। मध्यकाल में उन गाँवों को ‘कस्बा’ कहते थे जिनमें बाजार होता था। शहरीकरण के लिए बहुत से कारण उत्तरदायी थे- प्रशासनिक, सैनिक, भौगोलिक, आर्थिक, धार्मिक और वाणिज्य से भी बल मिला। छोटे शहर स्थानीय जरूरतों और स्थानीय व्यापार की पूर्ति करते थे।

शहरों के विकास के लिए उत्तरदायी कारणों को देखने से पता चलता है कि एक अपरिचित नए प्रदेश में आने वाले आक्रमणकारियों के लिए स्वाभाविक था कि वे इधर-उधर बिखरे रहने की अपेक्षा संयुक्त रूप में रहें। इसलिए शुरूआती दौर में तुर्क आक्रमणकारी अपने घुड़सवारों के साथ अपने इक्तों के मुख्यालयों में रहने लगे। प्रारंभिक अवस्था में इक्ता मुख्यालयों में मुक्ति उसके घुड़सवार, उस पर निर्भर अन्य वर्ग, नौकर-चाकर और इन सभी के परिवार केन्द्रित थे और यह एक बड़े सैनिक शिविर नुमा शहर थे। ऐसा माना जाता है कि तुर्कों के आने के पूर्व भारत में उच्च वर्गों ने नगरों और शहरों पर अपना कब्जा कर रखा था जबकि श्रमिक लोग गाँवों तथा छोटी-छोटी बस्तियों में रहते थे। तुर्कों ने जब नगरों में प्रवेश किया तो उनके साथ निम्न जाति के भारतीय श्रमिकों को भी प्रवेश मिल गया। औद्योगिक और प्रशासनिक क्षेत्रों के लिए उनके श्रम-सेवाओं की जरूरत थी। इस संदर्भ में इरफान हबीब लिखते हैं कि-

“रायों की सरकार ने भारतीय कामगारों को नगर-दीवारों के बाहर ही छोड़ दिया था। तुर्कों ने जब नगरों में प्रवेश किया तो निम्नवर्गीय हिन्दू कामगारों ने उनके साथ-साथ भीतर प्रवेश किया और प्रवेश करके वे वहीं बस गए। नए शासन को कामगार, उनके परिवार और उनकी कार्यशालाओं की नगर-दीवारों के भीतर आवश्यकता थी। नए शासन के कामों के लिए उनकी उपस्थिति आवश्यक थी और उन्हें समीप ही स्थित होना था। उनकी सेवाओं की औद्योगिक उद्देश्यों के लिए भी और सरकार को भी आवश्यकता थी, उनके बिना न ही उद्योग और न ही सरकार सही तरह से काम कर सकती थी।”³⁴

एक भिन्न सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से आने वाले इस नये शासक वर्ग की आराम और विलासिता की आवश्यकताएँ भी भिन्न थीं। वे फारसी कविता और गाने, भिन्न प्रकार के नृत्य, किताबें, पहनने के लिए रेशमी कपड़े तथा मेहराबी भवनों का निर्माण चाहते थे। इसलिए इस्लामी संस्कृति के केन्द्रों से अप्रवास को प्रोत्साहन मिला। इन अप्रवासियों में केवल सैनिक ही नहीं बल्कि शिल्पी, कारीगर, गायक, नृतक, संगीतज्ञ, कवि, हकीम, ज्योतिष आदि थे। अप्रवासी कुशल कारीगरों ने संभवतः नई तकनीकों का प्रयोग किया, जिससे भारतीय कारीगर भी प्रभावित हुए। तुलसीदास ने कारीगर के लिए ‘गुनी’ शब्द का प्रयोग किया है -

“पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान बिधि कुसल सुजाना।”³⁵

इस्लामी और भारतीय कलाओं का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ा।

यदि नगरीय शिल्प उत्पादन की बात करें तो पाएँगे कि सल्तनत कालीन शासक वर्ग शहरों में केन्द्रित था और वह भूमि राजस्व से प्राप्त धन को शहरों में खर्च करता था। इस धन को वह सेवाओं के भुगतान के रूप में देता था या उत्पादित वस्तुएँ खरीदता था। इस धन का एक भाग शिल्प उत्पादन के क्षेत्र में भी व्यय होता था। शासक और अमीर वर्ग की माँग अधिक मूल्य की विलासिता की वस्तुओं की थी; उस पर निर्भर निम्न वर्ग ने साधारण आवश्यकता के शिल्प उत्पादन के लिए एक बड़े बाजार को जन्म दिया।

नगरीय उत्पादन को बढ़ाने वाला दूसरा प्रमुख कारण आक्रमणकारियों द्वारा भारत लाई गई नई तकनीकें थीं। विलासिता के क्षेत्र में रेशम के कपड़ों का उत्पादन बढ़ा; ईरान से कालीन बनाने की कला आई। एक अन्य महत्वपूर्ण उत्पादन कागज बनाना था। शहरों में रोजगार प्रदान करने वाला सबसे बड़ा क्षेत्र संभवतः भवन निर्माण का था। इस प्रकार नगरों के उत्पादन से श्रमिक वर्ग को लाभ पहुँचा तथा व्यापार की स्थिति बेहतर हुई।

4.2.1 व्यापार और उद्योग

व्यापार किसी भी वस्तु के वितरण और विनिमय से सम्बद्ध होता है। यह एक प्रक्रिया है जो बहुत कारकों पर निर्भर करती है जैसे उत्पादन का स्वरूप और मात्रा, यातायात की सुविधा, व्यापारियों

की सुरक्षा, विनिमय के प्रतिरूप आदि। इसमें व्यापारियों, सौदागरों, किसानों और शिल्पकारों के अलावा समाज के अन्य वर्ग भी शामिल होते हैं। अपरोक्ष रूप से इसमें राजनीतिक अधिकारियों की भी रुचि होती है; क्योंकि माल पर लगाया गया कर राज्य के राजस्व का एक महत्वपूर्ण स्रोत होता है। भक्तिकाव्य में व्यापार या वाणिज्य के लिए ‘बैपार’, ‘ब्यौपार’, ‘बनिज’ जैसे शब्दों का प्रयोग मिलता है -

“सो पुनि चला चलत बैपारी।”³⁶

“और बनिज मैं नाहीं लाहा, होति मूल मैं हानि।”³⁷

कहीं-कहीं ‘बनिज’ शब्द व्यापार की वस्तु या समान के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है -

“हींग, मिरिच, पीपरि, अजवाइनि, ये सब बनिज कहावै।”³⁸

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में कई छोटे-बड़े नगर अस्तित्व में आए और उनका विकास भी हुआ। अपने शिल्प उत्पादन के लिए इन शहरों को कच्चे माल और अस्तित्व के लिए भोजन की आवश्यकता थी। इस समय भू-राजस्व की वसूली नकद धन के रूप में करने की प्रथा बढ़ रही थी। भूमिकर का नकद भुगतान करने के लिए किसानों को अपनी अतिरिक्त उपज तुरंत बेचनी होती थी; जबकि व्यापारियों को नगरों के रूप में ऐसे बाजार प्राप्त थे जहाँ वे अनाज और खाद्यान्न बेच सकते थे। यानी व्यापारिक गतिविधि खेत में अनाज उत्पादन के साथ ही शुरू हो जाती थी। इसी प्रकार शिल्प उत्पादन के क्षेत्र में व्यापारिक गतिविधि कारीगर के घर से ही आरंभ हो जाती थी। यह गतिविधि स्थानीय, प्रांतीय, अंतर प्रांतीय और देश के बाहर कई स्तरों पर घटित होती थी। मध्यकालीन व्यापार के संदर्भ में के.एम. अशरफ लिखते हैं कि- “बाजार की नियमित दुकानों में व्यापार के अतिरिक्त छोटे दुकानदार और व्यापारी चलती-फिरती दुकानों और घोड़ों पर व्यापार करते थे। फेरी वाले घुमक्कड़ व्यापारी भी सामान्यतः थे। वस्तुओं का विशाल परिमाण में लेन देन मंडियों में होता था, जहाँ समीपस्थ क्षेत्र में उत्पन्न माल या अनाज के बचे हुए अंश का विनिमय भी सुविधापूर्वक हो जाता था। ... विख्यात स्थानों में सब प्रकार के पशुओं- जैसे घोड़ों, बैलों, ऊँटों, गायों और भैंसों के क्रय-विक्रय के

लिए विशेष रूप से बड़े पशु मेले होते थे और लोग वहाँ बड़ी दूर-दूर से अपने-अपने पशु बेचने या खरीदने आते थे।”³⁹

मध्यकालीन आंतरिक व्यापार का विकास दो स्तरों पर हुआ। पहला गाँव और नगर के बीच थोक वस्तुओं जैसे कृषि उत्पादन का व्यापार यह कम दूरी का व्यापार था। दूसरा अधिक दूरी का व्यापार था जो एक नगर से दूसरे नगर के बीच अधिक मूल्य की वस्तुओं का होता था। भक्तिकाव्य में गाँवों और नगरों में होने वाले व्यापारों का उल्लेख मिलता है। व्यापारी अपना माल लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर बेचते थे। सूरदास ने ‘गोकुल’, ‘वृंदावन’ जैसे गाँवों तथा ‘मथुरा’ और काशी जैसे नगरों में माल बेचने या व्यापार करने का उल्लेख किया है -

“उधौ तुम ब्रज में पैठ करी।”⁴⁰

“करि हियाव यह सौंज लादि कै, हरि कैं पुर लै जाहि।”⁴¹

“जोग मोट सिर बोझ आदि तुम, कत धौं घोष उतारि।

इतनिक दूर जाहु चलि कासी, जहां बिकति हैं प्यारी।”⁴²

सूरदास ने नगरों में होने वाले व्यापार तथा व्यापारियों की मनोदशा की सूक्ष्म पड़ताल की है। नगरों से ग्रामीण क्षेत्रों में आने वाले व्यापारी अधिक लाभ के चक्कर में खराब या ‘अकरी’ चीजें लाते हैं। व्यापारियों की इस धूर्तता के संबंध में गोपियाँ उधव से कहती हैं कि यहाँ ‘अकरी’ वस्तु का कोई ग्राहक नहीं है, इसे तुम मथुरा जैसी बड़ी नगरी में ले जाकर बेचो -

“लै आए हौ नफा जानि कै, सबै वस्तु अकरीं।

X X X X X X X

यह ब्यौपार उहां जु समातौ, हुती बड़ी नगरी।”⁴³

कभी-कभी जीवन के लिए उपयोगी वस्तु न होने पर या व्यापारियों द्वारा अधिक लाभ के लालच में उनका ‘माल’ गाँवों में नहीं बिक पाता था। सूरदास ने एक पद में व्यापार की इस स्थिति की तरफ संकेत किया है। उधव ‘जोग ठगौरी’ बेचने के लिए ब्रज आये हैं जिसकी जरूरत गोपियों को नहीं है; अतः वे कहती हैं कि तुम्हारी ‘जोग ठगौरी’ तो मूली के पत्तों जैसे है जिसके लिए ‘मुक्ताहल’ देने

की मूर्खता कौन दिखायेगा। अतः तुम्हारा यह व्यापार गाँव में नहीं चलेगा। यह माल जहाँ से लाए हो वहीं बिक सकता है -

“जोग ठगौरी ब्रज न बिकहै।

मूरी के पातनि के बदलैं, को मुक्ताहल दैहै।

यह ब्यौपार तुम्हारौ उधौ, ऐसैं ही धरयो रैहैं।

जिन पै तैं ले आए ऊधौ, तिनहिं के फट समैहैं।”⁴⁴

ब्रज की ग्वालिनें दूध, दही, मक्खन, घृत इत्यादि बेचने नित्य मथुरा जाती हैं। यानी सूरदास ने एक ऐसे ग्रामीण लघु व्यापार का उल्लेख किया है, जिसका संबंध मुनाफा या लाभ से उतना ही है जिससे कि जीवन का निर्वाह हो जाए-

“बेंचन चलीं दधि ब्रजनारि।

सीस धरि-धरि माट मटुकी, बड़ी सोभा भारि।”⁴⁵

नगर में बड़े व्यापारी बाजार में दुकान सजाकर बैठते थे। इसका उल्लेख जायसी और तुलसी दोनों ने किया है। जायसी पदमावत में सिंहलद्वीप के हाट का विस्तार से वर्णन किया है। तुलसी भी अयोध्या के व्यापारियों जैसे बजाज, सराफ तथा बनिक इत्यादि का वर्णन करते हुए उन्हें कुबेर के समान बताया है -

“बाजार रुचिर न बनत बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।

X X X X X X X

बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुं कुबेर ते।”⁴⁶

गाँव और शहरों का यह व्यापार शहरों के आविर्भाव और भूमि कर की नकद वसूली का स्वाभाविक परिणाम था। कृषि उत्पाद का अधिकांश हिस्सा गाँव में ही बेचा जाता था। इनमें से अधिकांश बजारों द्वारा खरीद लिया जाता था। वे इसे दूसरे शहरों और बाजारों में ले जाया करते थे -

“हहु बनिकारा तौ बनिक बेसाहहु। भरि बैपार लेहु जो चाहहु।”⁴⁷

प्रत्येक शहर में एक बाजार होता था। जहाँ आसपास के लोग सामानों की खरीद बिक्री किया करते थे। इन नियमित बाजारों के अतिरिक्त ‘हाट’ या ‘पेंठ’ भी लगते थे जहाँ गाँव के लोग रोजमर्रा की वस्तुओं को खरीद-बेच सकते थे। सूरदास ने ‘हाट’ या ‘पेंठ’ का उल्लेख किया है -

“भक्तनि हाट बैठि अस्थिर है।”⁴⁸

“उधौ तुम ब्रज में पेंठ करी।”⁴⁹

हाट नियतकालिक बाजार होते थे जो सप्ताह में किसी खास दिन लगाए जाते थे। कुछ हाट किसी खास वस्तु के व्यापार के लिए भी होते थे। जायसी ने सिंहलद्वीप के हाट का विस्तृत वर्णन किया है -

“पुनि देखिअ सिंघल की हाटा। नवौ निद्धि लछिमी सब बाटा।”⁵⁰

इन स्थानीय बाजारों में साधारणतया अनाज, नमक, कृषि और घरेलू उपयोग के लिए लकड़ी और लोहे के बने साधारण औजार और मोटे सूती कपड़े उपलब्ध होते थे।

मंदिरों और दरगाहों के आस-पास भी समय-समय पर मेले लगते थे जिनमें आम जरूरत की चीजें मिल जाती थी। फेरी लगाकर माल बेचने वाले व्यापारी भी साधारण चीजों को गाँवों तक पहुँचाते थे -

“आयो घोष बड़ो व्यापारी।

लाद खेंप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आय उतारी।

फाटक दैकर हाटक मांगत भोरै निपट सु धारी।”⁵¹

व्यापार के लिए वस्तुएँ एक जगह से दूसरी जगह सैकड़ों और कभी-कभी हजारों मील दूर ले जाई जाती थीं। अन्तरप्रांतीय व्यापार में अनाज और विभिन्न प्रकार के कपड़ों का विशेष स्थान था। लम्बी दूरी के व्यापार में विलास की वस्तुएँ, धातु और अस्त्र भी शामिल होते थे। विदेशी व्यापार में भारत से कपड़ा, शोरा और नील का निर्यात किया जाता था। चीनी, अफीम, मसाले और अन्य विभिन्न उत्पाद भी निर्यात की वस्तुएँ थीं। खुरासानी, मुगल, इराकी भारतीय कपड़ों के मुख्य खरीददार थे। ये इन कपड़ों को मध्य एशिया, फारस और तुर्की ले जाते थे। उत्तरी भारत, पंजाब, सिंध और

गुजरात में नील का उत्पादन होता था। इसका उपयोग रंगाई के लिए नीले रंग के रूप में होता था। आयात की जाने वाली चीजों में चाँदी और घोड़े प्रमुख थे।

वाणिज्यिक गतिविधियों में 'हुंडी' मुद्रा विनिमय का प्रमुख साधन हो गई थी। हुंडी कागज पर लिखा एक वचन पत्र होता था जिसके द्वारा किसी निर्धारित समय और स्थान पर लिखी गई राशि देने की व्यवस्था की जाती थी। इस प्रथा का आरंभ वाणिज्यिक कार्यों के लिए मुद्रा के रूप में अधिक धन को लेकर जाने वालों के खतरे को ध्यान में रखकर हुआ। व्यापारी अपनी राशि किसी खास स्थान पर सर्राफ के पास जमा कराकर हुंडी ले लिया करते थे। सर्राफ के अतिरिक्त कई बड़े व्यापारी भी हुंडी जारी करते थे। सर्राफ प्रत्येक हुंडी के लिए शुल्क लिया करता था। विनिमय के कमीशन की दर सूद की दर और विनिमय अवधि पर निर्भर करती थी। जायसी ने ब्याज पर रुपया लेने के लिए 'ऋण काढ़ना' तथा हुंडी-पूर्जा भर कर माल का दाम चुकाने के लिए 'भरि बैपार' शब्द का प्रयोग किया है -

“रिनि काहू कर लीन्हेसि काढ़ी। मकु तहं गएं होइ किछु बाढ़ी।”⁵²

“हहु बनिजार तौ बनिज बेसाहहु। भरि बैपार लेहु जो चाहहु।”⁵³

व्यक्तिगत जरूरतों और वाणिज्यिक उद्देश्यों के लिए पैसा उधार लेने का आम प्रचलन था। अधिकांश व्यापार ब्याज पर लिए पैसे से ही होता था। आम तौर पर सर्राफ और व्यापारी दोनों ही पैसा उधार देने का काम करते थे। कभी-कभी पैसा उधार देने का काम एक अलग कोटि का वाणिज्यिक वर्ग करता था जिन्हें 'महाजन', 'साहू' या 'साहूकार' कहा जाता था। जायसी और तुलसी दोनों ने ही 'महाजन' शब्द का प्रयोग किया है -

“कनक हाट सब कुंह कुंह लीपी। बैठ महाजन सिंघल दीपी।”⁵⁴

“बहुरि महाजन सकल बोलाए। आइ सबन्हि सादर सिर नाए।”⁵⁵

ऋण विभिन्न उद्देश्यों के लिए लिया जाता था। किसान राजस्व के भुगतान के लिए ऋण लिया करते थे और कटाई के समय ऋण चुकाया करते थे। किसानों के ब्याज-अदायगी के संदर्भ में रामशरण शर्मा लिखते हैं - “मध्यकालीन ब्याज-पद्धति की अलग पहचान बनाने वाला तत्व है इसकी कार्यविधि में भूमि का प्रवेश। एक ओर ऋण दाता मूलधन पर ब्याज के एवज में भूमि को बंधक रख

लेता था या फिर उसकी उपज को ब्याज-अदायगी के लिए निर्दिष्ट कर देता था, दूसरी ओर कर्जदारों को भूमि उधार दी जाती थी जो उन्हें फसल की आठ गुनी तक लौटानी होती थी। दोनों ही उदाहरण किसान कर्जदारों के हैं।⁵⁶

कुलीन और जमींदार अपने रोजमर्रा के खर्च के लिए ऋण लिया करते और राजस्व वसूली के समय भुगतान किया करते थे। व्यापारिक उद्देश्यों के लिए ऋण लेना भी आम बात थी -

“सबै कूर मोसौं ऋन चाहत, कहौ कहा तिन दीजै।”⁵⁷

व्यापार आरंभ करने के लिए धन की आवश्यकता होती थी जिसे सूरदास ने ‘मूल’ कहा है। सूरदास और जायसी ने व्यापार के लिए ‘जमा राशि’ या पूँजी के लिए पूँजी, गथ, सांठि आदि विविध शब्दों का प्रयोग किया है -

“होतौ नफा साधु की संगति, मूल गांठि नहिं टरतौ।”⁵⁸

“समुझि सगुन लै चले न उधौ, यह तुम पै सब पूँजी अकेली।”⁵⁹

“चेटक लाइ हरहिं मन जौ लहि गथ है फेंटा।

सांठि नाठि उठि भए बटाऊ ना पहिचान न भेंटा।”⁶⁰

व्यापार के लिए पूँजी आधार बिन्दु है। पूँजी की कमी के कारण छोटे व्यापारी बाजार से वस्तुएँ खरीदने में असमर्थ होते थे, ऐसी दशा में उन्हें निराशा का सामना करना पड़ता है। सिंहलद्वीप के समृद्धशाली हाट में निर्धन ब्राह्मण की शोचनीय दशा ऐसी ही थी -

“पै सुठि ऊंच बनिज तह केरा। धनी पाउ निधनी मुख हेरा।

X X X X X X X X

बांभन तहां लेइ का गांठि सांठि सुठि थोरा।”⁶¹

वस्तुओं के क्रय-विक्रय के अभाव में व्यापारी को लाभ की अपेक्षा मूलधन के नष्ट होने की आशंका सताती रहती थी तथा उसके लिए साहूकार से लिए गए ऋण को चुकाना मुश्किल होता था। घाटे की स्थिति में वह अपने भाग्य को ही कोसता था -

“लाभ जानि आएउं एहि हाटां। मूर गंवाइ चलेउं तेहि बाटां।

का मैं मरन सिखावन सिखी। आएउं मरै मीचु हुति लिखी।”⁶²

जायसी कहते हैं कि पूँजी के द्वारा प्रत्येक वस्तु खरीदी जा सकती है तथा पूँजी के अभाव में कोई किसी को नहीं पहचानता। पूँजी के बिना मनुष्य वस्तुतः निर्जीव हो जाता है। रतनसेन सामंतों को सिंहलद्वीप जैसे बड़े नगर में अपनी पूँजी के बल पर जीवन निर्वाह करने की सलाह देता है -

“सांठि नाहिं लगि बात को पूँछा। बिनु जिय भएउ मूँज तन छूँछा।”⁶³

“सब निबहिहि तहं आपनि सांठी। सांठी बिना रहब मुख मांटी।”⁶⁴

पूँजी या धन को लेकर संत कवियों की दृष्टि संतुलित है। वे जीवन के निर्वहन हेतु इसे आवश्यक मानते हैं लेकिन वे धन-संग्रह का विरोध भी करते हैं। ‘देशयात्रा खण्ड’ में रतनसेन ने धन को जीवन का महत्तम पुरुषार्थ स्वीकार किया है। धन को धर्म, कर्म, राज्य के लिए आवश्यक माना है -

“सोई पुरुष दरब जेहि सैंती। दरबहि तें सुनु बातैं एति।

दरब त धरम करम औ राजा। दरबत सुद्धि बुद्धि बल गाजा।”⁶⁵

लेकिन लगभग सारे भक्त एवं संत कवि धन के अत्यधिक संग्रह का विरोध करते हैं। वे इसे भक्ति के क्षेत्र में बाधक मानते हैं। जायसी ‘देशयात्रा खण्ड’ में समुद्र से कहलवाते हैं कि- रे लोभी राजा यह धन किसी का अपना नहीं हुआ। धन मनुष्य के पतन का कारण होता है। द्रव्य का भार किसी को ऊपर उठाने नहीं देता -

“दरब भार संग काहु न उठा। जेइ सैंता तेहि सों पुनि रूठा।”⁶⁶

केवल जायसी ही नहीं बल्कि लगभग सभी संतों ने ‘धन संचय’ का विरोध किया है तथा साथ ही वे राजा हो या प्रजा सभी को जागरण का संदेश देते हैं -

“धन कै गरबि राम नहीं जाना।”⁶⁷

“धन संचते राजा मूये अरू ले कंचन भारी।”⁶⁸

“धन तो धरयौही रहै, चलत न कौड़ी गहै।

रीते हाथन से, जैसो आयो तैसो जाइ है।”⁶⁹

यानी संतों के यहाँ धन केवल जीवन प्रक्रिया या जीविकोपार्जन का साधन है।

मध्यकाल में बड़े पैमाने पर उद्योग का विकास नहीं हुआ था। अधिकांश उद्योग स्थानीय रूप में थे। देश के कई शहर और क्षेत्र अपने विशिष्ट और श्रेष्ठ उत्पादों के लिए मशहूर हो गए थे। इसके अतिरिक्त दिल्ली के सुल्तानों ने कई शाही कारखाने भी स्थापित किए थे। इन कारखानों में शाही तथा दरबारी लोगों की जरूरत की चीजें बनायी जाती थीं। इसमें सुनार, रेशमी कपड़े तैयार करने वाले, दर्जी, कसीदाकारी करने वाले, पगड़ी बनाने वाले इत्यादि अनेक प्रकार के कारीगर होते थे। अबुल फजल ने शाही कारखानों के कपड़ा उद्योग के संदर्भ में लिखा है कि- “शाही कारखानों में लाहौर, आगरा, फतेहपुर, अहमदाबाद और गुजरात में अत्युत्तम वस्त्र बनने लगे हैं और तरह-तरह के चित्र, बेल-बूटे काढ़े बनाए गए जिनको देखकर संसार के वस्तु-पारखी यात्री चकित हो गए। थोड़े समय में बादशाह ने इस उद्योग का सैद्धांतिक तथा क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया। उनकी गृह ग्राहकता के कारण तीव्र बुद्धि शिल्पकारों ने इस विषय की उत्तम शिक्षा प्राप्त कर ली। सब प्रकार के ऊनी कपड़ों की बुनाई और रेशम की कटाई उन्नति के शिखर पर पहुँच गई और जितनी कारीगरियाँ संसार में पायी जाती हैं वह सब शाही कारखानों में जमा हो गई।”⁷⁰

मध्यकाल में सबसे प्रमुख उद्योग कपड़े का था। जिसका विस्तार पूरे देश में था। इसके मुख्य केन्द्र बंगाल, गुजरात, बनारस, उड़ीसा, मालवा तथा दक्षिण में मदुरई थे। ढाका में बना मलमल पूरी दुनिया में मशहूर हो चुका था। बंगाल में तैयार होने वाली फमदानी या कसीदाकारी युक्त मलमल कलापूर्ण चीज थी। दक्षिण का ‘खासा’ और लाहौर तथा लखनऊ का ‘चीकन’ भी बहुत प्रसिद्ध था। जायसी ने अलग-अलग जगहों पर बनने वाली विविध प्रकार की साड़ियों का उल्लेख किया है -

“पटुवन्ह चीर आनि सब छोरे। सारी कंचुकी लहरि पटोरे।

फुंदिया और कसनिआ राती। छाएल पंडुआए गुजराती।

चंदनौटा खीरोदक फारी। बांस पोर झिलमिल की सारी।

चिकवा चीर मेधौना लोने। मोति लाग औ छापे सोने।

सुरंग चीर मल सिंघल दीपी। कीन्ह छाप जो धन्नि वै छीपी।

पेमचा डोरिआ औ बीदरी। स्याम सेत पियरी औ हरी।”⁷¹

सोना, चाँदी तथा कांसा का काम करने वाले सुनार तथा कारीगर लगभग सभी प्रांतों में थे। बनारस, दिल्ली, गुजरात तथा आगरा सुंदर जड़ाऊ आभूषणों और सोने तथा चाँदी के चित्रकारी किए हुए बर्तनों के लिए प्रसिद्ध थे। बर्तनों पर सोने और चाँदी के सुंदर जड़ाऊ कार्य के लिए बीदर, कलापूर्ण संदूकों के लिए गुजरात प्रसिद्ध थे।

मध्यकाल में चमड़े के विभिन्न प्रकार के सामानों की माँग अधिक थी जैसे- घोड़ों के लिए काठी तथा लगाम, तलवार के लिए म्यान तथा जूते आदि। सिंध में बने चमड़े के समान उत्तम माने जाते थे। इस प्रकार मध्यकाल में लघु उद्योगों के साथ-साथ कुछ बड़े उद्योगों का स्वरूप उभरने लगा था।

4.2.2 व्यापारी या व्यवसायी वर्ग

व्यापारी हमेशा से उत्पादक और उपभोक्ता के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी रहे हैं। वे भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से कृषि उत्पादों और दस्तकारों, कारीगरों द्वारा बनायी गयी चीजों को एकत्रित करते थे और एक बड़े क्षेत्र में उसका वितरण करते थे। वे सिर्फ तैयार माल का ही व्यापार नहीं करते; बल्कि कच्चे माल का भी व्यापार करते थे। मध्यकाल में व्यापार स्थानीय के अलावा अन्तर्देशीय होते थे। एक तरफ फेरी वाले, खुदरा विक्रेता और छोटे व्यापारी थे तो दूसरी तरफ बड़े सौदागार और व्यापारी थे। इन छोटे-बड़े व्यापारियों में बनजारा, महाजन, जौहरी, बजाज, काछी, कुलाल, तेली इत्यादि प्रमुख थे।

मध्यकाल में घूम-घूमकर व्यापार करने वाले मुख्यतः बंजारा होते थे। अंतर्देशीय व्यापार की प्रगति और प्रसार में बंजारों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। वे ग्रामीण शहरी व्यापार की महत्वपूर्ण कड़ी थे। बंजारे मुख्यतः अनाज, दाल, चीनी तथा नमक इत्यादि का व्यापार करते थे। उनके पास अधिक संख्या में पशु होते थे और जिससे लोग घूम-घूम कर सामान खरीदते-बेचते थे। कबीर ने 'बनजारा' का विस्तृत वर्णन किया है -

“बेग ही तुम्ह लाद लदानों,

औघट घआ रे चलनां दूर पयांनां।

खरा न खोटा नां परिखानां,

लाहे कारनि रे सब मूल हिरांना।

सकल दुनीं मैं लोभ पियारा,

मूल ज राखै रे सोई बनिजारा।”⁷²

कबीर वास्तविक बंजारा उसी को मानते हैं जिसे खरे-खोटे अर्थात् जीवन के सत्य-असत्य का ज्ञान हो तथा जो किसी भी परिस्थिति में मूलधन को नहीं गँवाता है। कबीर उसी समय आज के बाजारवाद को पहचान चुके थे तथा वे इससे सचेत करते हुए कहते हैं कि-

“यह संसार हाट करि जानूं, सबको बणिजण आया।

चेति सकै सो चेतौ रे भाई, मूरिख मूल गंवाया।”⁷³

आम तौर पर बंजारे अपने परिवार और घर के सामान के साथ घूमते थे। इधर-उधर घूमते हुए वे जहाँ ठहरते थे उनके उस समुदाय को ‘टाण्डा’ कहते थे। कबीर ने ‘टाण्डा’ का जिक्र किया है -

“राम नाम की गुंनि भराउं, हरि कै टांडे जांऊं।”⁷⁴

प्रत्येक टाण्डा का एक प्रधान होता था जिसे नायक कहते थे। मध्यकाल में इन बनजारों की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। पदमावत का ‘बनिजारा खण्ड’ इसका प्रमाण है। ये बनजारे सिंहलद्वीप के बड़े हाट-बाजार से व्यापार की वस्तुएँ खरीदकर लाते थे। व्यापार में लाभ की अपेक्षा मूलधन के टूटने, मूलधन की रक्षा का उपाय इत्यादि से तत्कालीन दशा का पता चलता है -

“हहु बनिजार तौ बनिज बेसाहहु। भरि बैपार लेहु जो चाहहु।”⁷⁵

“बैठेउ खोइ जरी औ बूटी। लाभ न आव मूर भौ टूटी।”⁷⁶

मध्यकाल में बनजारों के अतिरिक्त बनिक, वणिक या बनिया का उल्लेख प्राप्त होता है। बनिक घूमकर व्यापार नहीं करते थे बल्कि इनकी दुकानें एक जगह स्थिर होती थीं। साधारणतया बनिक हिन्दू वैश्य होते थे जिनका मुख्य पेशा व्यवसाय करना था। भक्तिकाव्य में इनका उल्लेख प्राप्त होता है -

“किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाटा।”⁷⁷

“जब लग देखौं हाट पसारा,

उठि मन बणियों रे, करि ले बणज सवारा।”⁷⁸

इनके द्वारा व्यवसाय में उपयोग की जाने वाली वस्तुएँ जैसे- पलरा, डांड़ी, सेर, छटांक इत्यादि का वर्णन कबीर ने किया है -

“साईं मेरा बाणियां सहजि करै ब्यौपारा

बिन डांड़ी बिन पालड़ै, तोलै सब संसारा।”⁷⁹

मध्यकाल में इस्लाम के प्रभाव स्वरूप महाजन या साहूकार को सर्राफ या सराफा कहा जाने लगा। महाजन का मुख्य पेशा ब्याज पर पैसा देना तथा सोने, चाँदी और गहनों का व्यापार करना था। जायसी ने कनकहाट में सिंहलद्वीप के महाजनों के बैठने का उल्लेख किया है। वे ब्याज पर रुपया उधार देकर ऋण-पत्र लिखवा लेते हैं तथा आभूषणों को गिरवी रखकर पैसे उधार देते हैं -

“कनक हाट सब कुंहकुंह लीपी। बैठ महाजन सिंघल दीपी।”⁸⁰

“आछरि रूप देखाइ कै धरि गहनें जिउ लीन्ह।”⁸¹

तुलसीदास ने महाजन के लिए धनिक अथवा साहूकार शब्द का प्रयोग किया है और उनके द्वारा कागज लिखवाने की बात कही है -

“देबे को न कछू रिनियां हौं धनिक तूं पत्र लिखाउ।”⁸²

श्रीरामचरितमानस में लक्ष्मण परशुराम पर व्यंग्य करते हुए माता-पिता के ऋण से उक्लण होने की चर्चा की है और महाजनों का हिसाब तथा ब्याज का हिसाब रखने वाले मुनीम अथवा व्यवहरिया का उल्लेख किया है-

“माता पितहि उरिन भए नीकें। गुर रिनु रहा सोचु बड़ जी कें।

सो जनु हमरेहि माथे काढ़ा। दिन चलि गए ब्याज बड़ बाढ़ा।

अब आनिअ ब्यवहरिआ बोली। तुरत देउं मैं थैली खोली।”⁸³

सूरदास ने भी मूलधन और ब्याज का उल्लेख किया है -

“सूर मूर अक्रूर गयौ लै, ब्याज निबेरत ऊधौ।”⁸⁴

हीरे, जवाहरात तथा रत्न इत्यादि बेचने वाले को जौहरी तथा सोने-चाँदी के आभूषण बेचने वाले को सर्राफ कहा जाता था। तुलसीदास ने अयोध्या की समृद्धि का वर्णन करते हुए सर्राफों के समृद्ध व्यवसाय का उल्लेख किया है -

“बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुं कुबेर तो।”⁸⁵

कबीर और जायसी ने हीरे, जवाहरात की परख करने वाले को जौहरी बताया है -

“हरि हीराजन जौहरी, ले ले मांडिय हाटि।

जबर मिलैगा पारिषु, तब हीरां की साटि।”⁸⁶

“रतन छिपाएं ना छिपै पारखि होइ सो परीखा।”⁸⁷

मेवा, मसाले तथा सूखी वनस्पतियों आदि बेचने वाले को पंसारी कहा जाता था। सूरदास ने दान लीला प्रसंग में गोपियों के लिए पंसारिनि शब्द का प्रयोग किया है। एक अन्य पद में उन्होंने पंसारियों द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं का उल्लेख किया है -

“सूरदास ऐसा गथ जाकैं, ताकैं बुद्धि पंसारिनि?”⁸⁸

“लौंग नारियर, राख, सुपारी, कह लादे हम आवैं।

हींग, मिरिच, पीपरि, अजवाइनि, ये सब बनज कहावैं।”⁸⁹

सरसों, तिल आदि को कोल्हू में पेरकर तेल निकालने और बेचने वाले को तेली कहा जाता था। तेली के काम की चर्चा करते हुए तुलसीदास कहते हैं -

“पेरत कोल्हू मेलि तिल तिली सनेही जानि।”⁹⁰

कबीर ने भी तेली कोल्हू इत्यादि का वर्णन किया है -

“तेली द्वै तन कोल्हूं करिहौ, पाप पुनि दोऊ पेरूं।”⁹¹

सूरदास ने अपने मन को कोल्हू के चारों ओर नित्य घूमते रहने वाले तेली के बैल से तुलना की है-

“तेली के वृष लौं नित भरमत, भजत, न सारंग पानि।”⁹²

बजाज कपड़ा बेचने का काम करते थे। सूरदास ने बजाज की पत्नी को बजाजिनि कहा है। गोपियाँ बजाजिनि बनकर कृष्ण के पास पहुँचने की कामना करती हैं। तुलसीदास ने कुबेर जैसे धन संपन्न बजाजों का उल्लेख किया है -

“बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुं कुबेर तो।”⁹³

जायसी ने बजाज का उल्लेख प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया है। ‘पदमावती रतनसेन खण्ड’ में पटुए अथवा बुनकर विभिन्न प्रकार के वस्त्रों से पूर्ण पिटारे को पदमावती को दिखाते हैं -

“पटुवन्ह चीर आनि सब छोरे। सारी कंचुकी लहरि पटोरे।”⁹⁴

विविध प्रकार के इत्र-फुलेल बनाने और बेचने वाले को गंधी और उसकी स्त्री को गंधिनि कहा जाता था। सूरदास की राधा कृष्ण से मिलने के लिए गंधिनि रूप में चंदन, अरगजा, केसर लेकर जाना चाहती है -

“चंदन अरगजा सूर केसरि धरि लेउं।

गंधनि ह्वै जाउं निरखि, नैननि सुख देउं।”⁹⁵

गंधी अथवा इत्र बेचने वालों की तरफ जायसी ने भी संकेत किया है। पदमावती के शयनगार में विविध प्रकार के सुगंधित द्रव्यों का इतना आधिक्य था कि वह सुगन्धियों का हाट प्रतीत होता था -

“कोइ बीरा कोइ लीन्हे बीरी। कोइ परिमल अति सुगंध समीरी।”⁹⁶

पान बेचने वाले को तमोली, पनवाड़ी, पनहेरी आदि नामों से पुकारते थे। इनकी स्त्रियों को तमोली अथवा चोलिनि कहा जाता था। ‘राम लला नहछू’ में तंबोलिनि पान का बीड़ा लेकर बधाई देने के लिए आती है -

“रूप सलोनि तंबोलिनि बीरा हाथहि हो।”⁹⁷

सूरदास के यहाँ कृष्ण के दर्शन के लिए चोलिनि पान का बीड़ा लेकर जाती है -

“चोलिनि ह्वै जाउं निरखि, नैननि सुख देउं।”⁹⁸

जायसी ने रतनसेन के प्रेम तथा साधना का उल्लेख पान-सुपारी और कत्था-चूना के रूपक तथा पान के विविध प्रकारों द्वारा करते हैं -

“धनिआ का सुंग का चूना। जेहि तन नेह दगध तेहि दूना।

हौं तुम्ह नेहुं पियर भा पानू। पेंड़ी हुत सुनि रासि बखानू।”⁹⁹

गाय पालना तथा दूध, दही, घी आदि का व्यवसाय अहीर नामक जाति करती थी। इसका विस्तृत वर्णन अष्टछाप काव्य में दिखायी पड़ता है। इन्हें गोप, ग्वाल, ग्वार आदि नामों से भी पुकारते थे। इनकी स्त्रियों के लिए अहीरिन, गोपी, ग्वालिन, गुजरेटी आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। मथुरा की स्त्रियाँ कृष्ण को नंद अहीर का बेटा कहकर पुकारती हैं -

“एई सुत नंद अहीर के।”¹⁰⁰

अष्टछाप के कवियों ने ग्वाल, ग्वालिनों के दूध, दही, मक्खन, घी आदि के व्यवसाय का स्पष्ट उल्लेख किया है -

“ग्वालनि यह भली नहिं करति।

दूध दधि घृत नितहिं बेंचति, दान देतैं डरति।”¹⁰¹

पदमावत में एक स्थल पर दही बेचने के लिए ग्वालिन गुहार लगाती हुई दिखायी पड़ती है -

“भरे कलस तरुनी चली आई। दहिउ लेहु ग्वालनि गोहराई।”¹⁰²

‘अखरावट’ में मन का मंथन करने के निमित्त कवि ने अहीर का रूपक ग्रहण किया है जिसमें अहीर द्वारा दूध दुहने, औटने, दही को मथकर मक्खन निकालने और उसे गर्म करके घी बनाने की संपूर्ण प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है-

“मा-मन मथन करै तन खीरू। दुहै सोइ जो आपु अहीरू।

X X X X X X X X

मन माठा सम अस के धोवै। तन खैला तेहि माहं बिलौवै।

X X X X X X X X

जस अंतरपट साढ़ी फूटै। निरमल होइ मया सब छूटै।

माखन मूल उठै लेइ जोती। समुंद माहं जस उलथै मोती।”¹⁰³

उपर्युक्त जिन व्यवसायियों की चर्चा की गयी है; उनमें से कुछ दूसरों से माल खरीदकर अन्यत्र बेचते हैं और कुछ स्वयं वस्तु का उत्पादन करके बेचते हैं। भक्तिकाव्य में व्यापारिक पूँजीवाद का स्वरूप आज की तरह का नहीं था। भक्तिकाव्य में लगभग प्रत्येक जगह लघु उद्योग या व्यापार का ही चित्रण है जिसका संबंध मुनाफा से अधिक जीविकोपार्जन से है।

4.2.3 तकनीकी और दस्तकारी

तकनीकी किसी भी समाज की भौतिक संस्कृति का एक अभिन्न हिस्सा होता है। मध्यकाल में अप्रवासी मुसलमानों द्वारा लाए गये तकनीकों के नए यंत्रों और नई शिल्प-कलाओं से भारतीय परिचित हुए जो इस्लामी क्षेत्रों में उत्पन्न अथवा विकसित हुए थे। भारतीय हस्तकलाओं और तकनीकी का नयी आयातित तकनीकी और हस्तकलाओं से मिलन हुआ तथा एक दूसरे का प्रभाव इन दोनों पर पड़ा जिससे एक नई तकनीकी दौर की शुरुआत हुई। उस समय यंत्र और उपकरण लकड़ी और मिट्टी के बने होते थे तथा अधिक आवश्यकता पड़ने पर लोहे का प्रयोग होता था। पहले हल पूर्णतः लकड़ी का बना होता था; अब लोहे का हल या फाल प्रयोग में लाया जाने लगा।

बोआई के लिए छिटका-बोआई प्रणाली अपनायी जाती थी। फसल की कटाई हंसियाँ द्वारा की जाती थी। गुहाई का कार्य बैलों द्वारा किया जाता था जो खलिहान में जई के ऊपर गोल-गोल चक्कर लगाते थे। किसानों को खेती की सिंचाई के लिए वर्षा के अतिरिक्त तालाबों, कुण्डों तथा उत्तर भारत में मुख्य रूप से कुओं पर निर्भर रहना पड़ता था। जायसी ने कुओं से पानी निकालने का एक सुंदर दृश्य खींचा है -

“कुआं ढार जल जेस बिछोवा। डोल भरें नैनन्ह तस रोवा।”¹⁰⁴

कुएँ से पानी निकालने के लिए कई तरह के तकनीकों का सहारा लिया जाता था। सबसे सरल तरीका रस्सी और बाल्टी द्वारा हाथों से, बिना किसी यंत्र की सहायता के पानी खींचना था लेकिन इससे व्यापक सिंचाई करना संभव नहीं था। दूसरी विधि चरखी अथवा घिरी के प्रयोग द्वारा रस्सी बाल्टी द्वारा हाथों से पानी बाहर निकालने की थी। इसमें चरखी के कारण मनुष्य की ऊर्जा कम लगती थी। इसके बाद रस्सी-बाल्टी-चरखी की एक उन्नत विधि में मानव शक्ति के स्थान पर बैलों का प्रयोग

किया जाने लगा। उत्तर भारत में इसे चरस कहा जाता था। इसमें बैलों के चलने का मार्ग ढलावदार होता था जिसकी लम्बाई कुएँ की गहराई के अनुरूप होती थी। इसके बाद ढेंकली या ढेंकुल का प्रयोग होता था। सिंचाई की सबसे उन्नत तकनीक में ‘रहट’ या ‘साकिया’ का प्रयोग किया जाता था जिसमें गियर लगा होता था।

वस्त्र तकनीकी में ओटाई, धुनाई और कताई उसकी प्रारंभिक प्रक्रिया होती थी। कपास का संबंध कृषि तकनीक से था। ओटाई में कपास के बीजों को अलग किया जाता था। कई को मुलायम या अलग करने के लिए डंडों से उसकी धुनाई की जाती थी। वस्त्र निर्माण के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण तकनीकी क्रांति तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा भारत में लाए चरखे द्वारा संभव हुई। इरफान हबीब ने भारत में चरखे के इस्तेमाल के संदर्भ में बताया है कि - “चरखे का इस्तेमाल तेरहवीं शताब्दी से ही आरंभ हुआ। चरखा एक ऐसा उपकरण है जो केवल कातने की गति बढ़ाता है, कोई गुणात्मक सुधार नहीं लाता। ...चरखा केवल मोटा सूती कपड़ा तैयार करने के लिए प्रयुक्त होता था। परिमाण में बहुत अधिक वृद्धि मात्र चरखे की देन थी।”¹⁰⁵

इसके आने से तकली को भी गति मिली। तकली से महीन सूत की कताई होती थी जबकि चरखा मोटे सूत को कातता था। चरखा के आने से कताई या सूत निर्मित बहुत अधिक होने लगा जिसके फलस्वरूप वस्त्र निर्माण में भी तेजी आयी। कबीरदास ने चरखा का जिक्र किया है -

“चरखा जिनि जरे। कतौंगी हजरी का सूत नणद के भइया कीसौं।”¹⁰⁶

बुनाई के लिए भरनी या करघा का प्रयोग होता था जिससे साधारण और मोटे वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। इस क्षैतिज करघे में बुनकर अपने पैरों से धागों के तानों को ऊपर उठा और फैला सकता था जबकि उसके हाथ मुख्यतः भरनी और शेड पर कार्य करते थे। इससे बुनाई की गति में वृद्धि आयी। कबीरदास स्वयं बुनकर थे; उन्होंने करघा का भी उल्लेख किया है -

“करगहि एकै बिनांनी, ता भीतरि पंच परांनी।

तामैं एक उदासी, तिहि तणि बुणि सबै बिनासी।”¹⁰⁷

रंगाई और छपाई के लिए वनस्पति और खनिज स्रोतों से प्राप्त विभिन्न रंगों को प्रयोग में लाया जाता था। नील, मजीठ, लाख इत्यादि अधिक प्रचलित थे। तेज रंगों के लिए कई पदार्थ जैसे फिटकरी मिलाए जाते थे। भारतीय रंगरेज निमज्जन, बंधेज जैसी कई विधियों को अपनाते थे। इस काल की प्रमुख नई तकनीक ठप्पा-छपाई या छापा थी।

भारत में भवन निर्माण के लिए पारंपरिक मूलभूत अवयव मिट्टी, पत्थर, लकड़ी और कभी-कभी ईंटों का प्रयोग होता था। चुनाई के लिए गारा साधारणतया मिट्टी और पानी से मिलकर बना होता था। इससे प्लास्टर भी किया जाता था। परंतु दिल्ली सल्तनत में चूना-गारा का प्रयोग किया जाने लगा जो मुसलमानों द्वारा बाहर से लाया गया था। जायसी ने सिंहलद्वीप का वर्णन करते हुए हीरे की ईंट और कपूर के गारे की बात कही है -

“हीरा ईंट कपूर गिलावा। औ नग लाइ सरग लै लावा।”¹⁰⁸

चूने-गारे के प्रयोग ने भवनों को अधिक मजबूत बनाया तथा ईंटों की खपत अधिक होने लगी। चूने-गारे ने मेहराब के निर्माण को संभव बनाया; क्योंकि मेहराबों को बनाने के लिए सख्त चुनाई की जरूरत पड़ती थी। मेहराब बनने से गुम्बदों का भी निर्माण होने लगा। मध्यकाल की स्थापत्य कला अपने विकसित रूप में थी।

4.2.4 शिल्पी या श्रमिक

समाज में हमेशा से एक वर्ग ऐसा रहा है जो अपने शारीरिक श्रम एवं कला ज्ञान के द्वारा जीविकोपार्जन करता आया है। जैसे- कुम्हार, लुहार, बढई, मूर्तिकार, दर्जी इत्यादि।

मिट्टी के बरतन बनाने और बेचने वाले को ‘कुलाल’ या ‘कुम्भकार’ कहा जाता था। प्रचलित भाषा में इसे ‘कुम्हार’ कहते थे। ‘चाक’ और ‘आँवाँ’ कुम्हार के प्रमुख साधन थे। सूरदास ने विरहिणी गोपियों के चित्र को चाक चढ़ा सा बताया है -

“सदा रहत चित चाक चढ़यौ सो, गृह अंगना न सुहाई।”¹⁰⁹

तुलसीदास ने कोपरूपी आग और गुमान रूपी आवाँ में मन रूपी घट के पकाने का रूपक बाँधा है -

“कोप-कृसानु गुमान-अवां घट-ज्यों जिनके मन आव न आंचे।”¹¹⁰

सूरदास ने कुम्हार द्वारा घड़ा बनाने, उस पर चित्रकारी करने, उसे सुखाने और फिर आँवा में पकाने का विस्तृत वर्णन किया है -

“उधौ भली भई ब्रज आए।

बिधि कुलाल कीन्हे कांचे घट, ते तुम आनि पकाए।

रंग दीन्हौ हो कान्ह सांवै, अंग अंग चित्र बनाए।

X X X X X X X

ब्रज कारे अंवा जोग ईधन करि, सुरति आनि सुलगाए।”¹¹¹

कुम्हार एक मिट्टी को किस प्रकार विविध रूपों में गढ़ता है इसका उल्लेख कबीर करते हैं -

“माटी एक सकल संसारा, बहु बिधि भांडे घड़ै कुंभारा।”¹¹²

लोहार लोहे का काम करता था। वे कृषि एवं युद्ध से जुड़े विविध यंत्र तथा अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करते थे। कबीरदास ने लोहार एवं उसके यंत्र जैसे धोंकनी, भट्टी, निहाई, हथौड़ा आदि का उल्लेख अपनी कविताओं में किया है -

“धवणि धवंती रहि गई, बुझि गए अंगारा।

अहरणि रह्या ठमूकड़ा, जब उठि चले लुहारा।”¹¹³

जायसी ने ‘अखरावट’ में हृदय की शुद्धि का निरूपण लोहार द्वारा दर्पण गढ़ने के रूपक के द्वारा किया है, जिसमें धातु को भट्टी में गलाकर शुद्ध करने, संडासी से पकड़कर निकालने, हथौड़े पीटकर दर्पण बनाने की प्रक्रियाओं का विवरण मिलता है -

“सोइ हिरदय कै सीढ़ी चढ़ई। जिमि लोहार घन दरपन गढ़ई।

X X X X X X X X

पांच भूत लोहा गति लावै। दुहूं सांस भाठी सुलगावै।

कया ताइ के करि दर करई। प्रेम के संडसी पोढ़ कै धरई।

हनि हथेव हिय दरपन साजै। छोलनी जाप लिहे तन मांजै।”¹¹⁴

लकड़ी से संबंधित कार्य करने वाले शिल्पी को बढई कहा जाता था। सूरदास ने 'बढैया' शब्द का प्रयोग किया है। कृष्ण जन्म के अवसर पर बढई को चंदन की लकड़ी को खराद कर पलना लाने की बात कही जाती है -

“पालनौ अति सुंदर गढ़ि ल्याउ रे बढैया।”¹¹⁵

स्वर्णकार सोने-चाँदी के आभूषण बनाते थे। सूरदास ने इसके लिए 'सुनार' शब्द का प्रयोग किया है -

“बिसकर्मा सूतहार, रच्यौ काम ह्वै सुनार।”¹¹⁶

मध्यकाल में स्वर्णकार के मुख्य कार्य थे- गढ़ना, जड़ना और सोने की कलई चढ़ाना। सूरदास ने इसका उल्लेख अपने अलग-अलग पदों में किया है -

“ब्रज-वधु कहैं बार-बार धन्य रे गढ़ैया।”¹¹⁷

“पंच रंग रेसम लगाउ, हीरा मोतिन मढ़ाउ।

बहु बिधि जरि करि जराउ, ल्याउ रे जरैया।”¹¹⁸

जायसी ने सुनार द्वारा सोने को अग्नि में तपाकर शुद्ध करने का उल्लेख किया है। उन्होंने आभूषण बनाते समय रेती से सोना काटने तथा राख में बिखरे हुए सोने के कण को प्राप्त करने के लिए राख समेटने, उसे पानी में धोकर छानने इत्यादि का वर्णन किया है -

“बिरह रेति कंचन तनु लावा। चून चून कै खेह मिलावा।

कनक जो कन कन होइ बिहराई। पिय पै छार समेटैं आई।”¹¹⁹

जायसी ने सुहागे द्वारा धातुओं को एक करने, सोहागे का टाँका लगाकर सोने का धागा जोड़ने, कंचन कली में हीरा जड़ने आदि का जिक्र किया है -

“धनि औ पिउ महं सीउ सोहागा। दुहूंक अंग एक मिलि लागा।”¹²⁰

वस्त्र सीने वाले श्रमिक को दरजी कहा जाता था। सूरदास ने विरह को दरजी बताते हुए विरहिणी गोपियों के शरीर को ब्योंत बताया है -

“सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु, तन भयौ ब्योंत बिरह भयौ दरजी।”¹²¹

तुलसीदास ने भी गोपियों का विरह-वर्णन करते हुए उनके शरीर को वस्त्र बताया है। जिसे विरह रूपी दरजी ब्योतता है -

“अब देह भई पट नेहके घाले सों, ब्योत करै बिरहा-दरजी।”¹²²

वस्त्र रँगने का कार्य करने वाले को रँगरेज और उसकी स्त्री को ‘रँगरेजिनी’ कहा जाता था। सूरदास की एक गोपी कृष्ण की ‘पाग’ को ‘जावक’ से रंगी देखकर व्यंग्यपूर्वक पूछती हैं- क्या कोई ‘रँगरेजिनी’ मिल गयी थी जिसने जावक से पाग रंग दी है?

“ऐसी कहौ रंगीले लाला।

जावक सों कहं पाग रंगाई, रंगरेजिनी मिली कोउ बाला।”¹²³

वस्त्र धोकर जीविकोपार्जन करने वाले को ‘रजक’ कहा गया है। ‘रजक’ को ‘धोबी’ भी कहते हैं। मथुरा पहुँचने पर कृष्ण का संघर्ष कंस के ‘रजक’ से होता है।

“नृपति रजक अंबर नृप धोवत।

देखे स्याम राम दोउ आवत, गर्व सहित तिन जोवत।”¹²⁴

सूरदास की गोपियाँ ऊधव से व्यंग्यपूर्वक कहती हैं कि दिगंबरपुर में ‘रजक’ का क्या कार्य रह जाएगा। अर्थात् वहाँ तो उसकी आवश्यकता ही नहीं होगी।

“सूरजदास दिगंबरपुर तैं, रजक कहा ब्यौसाइ।”¹²⁵

कहार पानी भरने, बर्तन साफ करने के साथ-साथ डोली तथा काँवर ढोने का काम करते थे। तुलसीदास ने मानस में राम विवाह के समय कहारों की सेवाओं का उल्लेख किया है। सीता की विदाई के समय जनक असंख्य बैलों तथा कहारों पर लाद-लाद कर दहेज की वस्तुएँ भेजते हैं -

“कोटिन्ह कांवरि चले कहारा। बिबिध बस्तु को बरनै पाए।”¹²⁶

नाई लोगों के बाल काटकर जीवन-यापन करता था। तुलसीदास ने ‘नाऊ’ और उसकी स्त्री के लिए ‘नाउन’ शब्द का प्रयोग किया है। राम विवाह के समय नाई, बारी, भाट आदि न्योछावर प्राप्त करके आनंदित होते हैं -

“नाऊ बारी भाट नट राम निछावरि पाइ।”¹²⁷

बारी दोने-पत्तल आदि बनाने और बेचने का काम करते थे। अन्य श्रमिक जातियों जैसे केवट, माली, धाय इत्यादि का भी भक्तिकाव्य में उल्लेख प्राप्त होता है।

इस प्रकार भक्तिकालीन जीवन मुख्यतः कृषि पर आधारित था; लेकिन भक्तिकाव्य के साक्ष्यों से पता चलता है कि कृषक की स्थिति अच्छी नहीं थी। कृषक राजस्व न चुका पाने से तथा व्यापारी महाजन का ब्याज समय से न चुका पाने के कारण तबाह रहते थे। भक्तिकाव्य में पूँजीवाद का प्रारंभिक स्वरूप बनता दिखायी पड़ता है इसलिए तत्कालीन समय में बड़े उद्योग की कल्पना करना ठीक नहीं। वे रचनाकार अपनी दूरदर्शिता के कारण यदा-कदा पूँजीवाद की विसंगतियों की निंदा करते हैं। मध्यकाल में छोटे-छोटे लघु उद्योग थे जो जीवन-यापन के लिए सहायक थे। गाँव की तुलना में नगरों का व्यवसाय मुनाफा या लाभ से अधिक संबंध रखता था। श्रमिक वर्ग अपने-अपने पेशेवर कार्यों से अपना जीविकोपार्जन कर रहे थे।

संदर्भ

- ¹ पाण्डेय, मैनेजर. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, भूमिका
- ² हबीब, इरफान. मध्यकालीन भारत का आर्थिक इतिहास : एक सर्वेक्षण, पृ.सं. 16
- ³ हरगुलाल. सं. परमानन्ददास, पृ.सं. 82
- ⁴ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 74
- ⁵ अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 37
- ⁶ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 158
- ⁷ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 251
- ⁸ अशरफ, के. एम. हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ, पृ.सं. 127
- ⁹ तुलसीदास. कवितावली, पृ.सं. 112
- ¹⁰ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 222
- ¹¹ वही, पृ.सं. 155
- ¹² चतुर्वेदी, परशुराम. सं. मीराबाई की पदावली, पृ.सं. 140
- ¹³ हरगुलाल. सं. कृष्णदास, पृ.सं. 127
- ¹⁴ शुक्ल, रामचन्द्र. सं. तुलसी ग्रंथावली, भाग-2, पृ.सं. 120
- ¹⁵ हबीब, इरफान. मध्यकालीन भारत का आर्थिक इतिहास : एक सर्वेक्षण, पृ.सं. 48
- ¹⁶ वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 50
- ¹⁷ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 179
- ¹⁸ वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 25
- ¹⁹ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 193
- ²⁰ वही, पृ.सं. 86
- ²¹ वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 18
- ²² हरगुलाल. सं. कुंभनदास, पृ.सं. 64
- ²³ हबीब, इरफान. मध्यकालीन भारत, भाग-1, पृ.सं. 29
- ²⁴ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 7
- ²⁵ अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 43
- ²⁶ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 14
- ²⁷ मुखिया, हरबंस. मध्यकालीन भारत नए आयाम, पृ.सं. 144
- ²⁸ दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 121
- ²⁹ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 222
- ³⁰ दास, श्यामसुंदर. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 45
- ³¹ वही, पृ.सं. 140
- ³² तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 492
- ³³ दास, श्यामसुंदर. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 137
- ³⁴ हबीब, इरफान. मध्यकालीन भारत, भाग-3, पृ.सं. 23
- ³⁵ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 242
- ³⁶ गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 36
- ³⁷ वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 85
- ³⁸ वही, पृ.सं. 621
- ³⁹ अशरफ, के. एम. हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ, पृ.सं. 141

-
- 40 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 422
- 41 वही, प्रथम, पृ.सं. 85
- 42 वही, द्वितीय, पृ.सं. 478
- 43 वही, पृ.सं. 422
- 44 वही, पृ.सं. 422
- 45 वही, पृ.सं. 615
- 46 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 860
- 47 अग्रवाल, वासुदेशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 209
- 48 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 85
- 49 वही, द्वितीय, पृ.सं. 422
- 50 अग्रवाल, वासुदेशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 37
- 51 शुक्ल, रामचन्द्र. सं. भ्रमरगीतसार, पृ.सं. 10
- 52 गुप्त, माताप्रसाद. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 169
- 53 वही, पृ.सं. 267
- 54 अग्रवाल, वासुदेशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 37
- 55 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 242
- 56 शर्मा, रामशरण. प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ.सं. 248
- 57 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 54
- 58 वही, पृ.सं. 82
- 59 वही, द्वितीय, पृ.सं. 435
- 60 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 145
- 61 वही, पृ.सं. 169
- 62 वही, पृ.सं. 169
- 63 वही, पृ.सं. 362
- 64 वही, पृ.सं. 207
- 65 वही, पृ.सं. 381
- 66 वही, पृ.सं. 382
- 67 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 92
- 68 वही, पृ.सं. 146
- 69 सुन्दरदास. सुन्दर बिलास, पृ.सं. 27
- 70 फजल, अबुल. आईने अकबरी, पृ.सं. 90
- 71 अग्रवाल, वासुदेशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 327
- 72 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 124
- 73 वही, पृ.सं. 125
- 74 वही, पृ.सं. 130
- 75 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 267
- 76 वही, पृ.सं. 319
- 77 तुलसीदास. कवितावली, पृ.सं. 111
- 78 दास, श्यामसुंदर. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 124
- 79 वही, पृ.सं. 48
- 80 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 144

-
- 81 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 428
- 82 तुलसीदास. विनयपत्रिका, पृ.सं. 132
- 83 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 233
- 84 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 470
- 85 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 860
- 86 दास. श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 62
- 87 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 303
- 88 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 607
- 89 वही, पृ.सं. 621
- 90 तुलसीदास. दोहावली, पृ.सं. 114
- 91 दास. श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 164
- 92 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 27
- 93 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 860
- 94 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 344
- 95 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 501
- 96 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 318
- 97 शुक्ल, रामचन्द्र. सं. तुलसी ग्रंथावली, द्वितीय भाग, रामलला नहछू, पृ.सं. 3
- 98 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, 501
- 99 गुप्त माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 330
- 100 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 297
- 101 वही, प्रथम, पृ.सं. 616
- 102 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 211
- 103 वही, पृ.सं. 666
- 104 अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 633
- 105 हबीब, इरफान. मध्यकालीन भारत, भाग-1, पृ.सं. 25
- 106 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 72
- 107 वही, पृ.सं. 139
- 108 अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 48
- 109 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 328
- 110 तुलसीदास. कवितावली, पृ.सं. 122
- 111 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 446
- 112 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 82
- 113 वही, पृ.सं. 59
- 114 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 670
- 115 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 224
- 116 वही, पृ.सं. 225
- 117 वही, पृ.सं. 225
- 118 वही, पृ.सं. 225
- 119 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 509
- 120 वही, पृ.सं. 351
- 121 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 368

-
- ¹²² तुलसीदास. कवितावली, पृ.सं. 129
¹²³ वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 147
¹²⁴ वही, पृ.सं. 290
¹²⁵ वही, पृ.सं. 483
¹²⁶ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 251
¹²⁷ वही, पृ.सं. 267

पंचम अध्याय

भक्ति काव्य और लोकतत्व

5.0 लोक संस्कृति

भक्ति काव्य का गहरा सरोकार लोक जीवन से है। इसमें किसानों की जीवन, चारागाही/चरवाही संस्कृति, रीति-रिवाज, रूढ़ियाँ, सामाजिक-पारिवारिक प्रथाओं के साथ-साथ लोक-गीतों, लोक गाथाओं एवं लोक कलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण है। यह लोक तत्व भी महत्वपूर्ण कारण हैं कि भक्ति काव्य काल सापेक्ष होने के बावजूद भी कालातीत और कालजयी बन सका है। एक ही साथ उसका एक देशज और अखिल भारतीय स्वरूप निर्मित होता है। भक्त कवियों की कवि-दृष्टि या उनका लोक मानस लोक, ईश्वर, भक्ति और मानवीय जीवन की अनुभूतियों से निर्मित होता है। लोक मानस के चार तत्व महत्वपूर्ण माने गये हैं -

- I. “प्राक्कल्पना या आदर्श राज्य कल्पना (Fantasy or fanciful thinking & Phantasy/Fantasy)
- II. सर्वात्मभाव (Animistic thinking)
- III. जादू-टोना परक विचार (Magical thinking)
- IV. आनुष्ठानिक विचार (Ritual thinking)’’¹

उपर्युक्त चारों तत्व भक्त एवं संत कवियों में दिखलायी पड़ते हैं। ‘प्राक्कल्पना’ को तुलसीदास के आदर्श राज्य या राम राज्य में, जायसी के सिंहलद्वीप में, रैदास के बेगमपुरा में और सूरदास के वृंदावन-वर्णन में देख सकते हैं। मध्यकाल के लगभग सारे कवि तत्कालीन समाज के समानांतर एक यूटोपिया गढ़ते हैं। सर्वात्मभाव का मतलब सभी सजीव-निर्जीव या जड़-चेतन को आत्म तत्व से युक्त मानना है। इसका एक उदाहरण हम मानस से देख सकते हैं कि सीता-हरण के बाद राम सारे पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों एवं लताओं से सीता के बारे में पूछते हैं-

“हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी। तुम्ह देखी सीता मृग नैनी’’²

‘टोना विचार’ यदा-कदा पूरे भक्ति साहित्य में दिखायी पड़ता है। जायसी ने पदमावत में लोना चमारिन को जादू-टोना में प्रवीण होना बताया है -

“जस कांवरू चमारी लोना। को न छरा पाढ़ित औ टोना।”³

प्रबंध रचना में कथा-प्रसंगों के चलते ‘आनुष्ठानिक विचार’ सबसे अधिक सगुण भक्त कवियों में दिखाई पड़ते हैं।

लोक-तत्व मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना के प्रत्येक पहलू से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ा रहता है। मानवीय आचरण के अकृत्रिम पहलुओं एवं मूल्यों में लोकतत्व निहित हैं। मानवीय व्यवहारों, भाषायी परंपराओं, अनुष्ठानों, क्रिया-कलापों से जुड़े मुहावरों, लोकोक्तियों दृष्टान्तों आदि के माध्यम से मनुष्य लोक तत्व का अनायास ही आश्रय लेता रहता है। लोक मानवीय संदर्भों में मनुष्य के आदिम जीवन, तत्कालीन जीवन-प्रक्रिया तथा भविष्योन्मुखी जीवन मूल्यों से जुड़ा हुआ है, यानी ‘लोक’ परम्परा के प्रवाह में गतिशील एक दूरदर्शी जीवन दृष्टि है। लोक का संबंध केवल आदिम प्रवृत्तियों या अतीत के आचार-विचारों, अंधविश्वासों- आदि से नहीं है बल्कि उसका संबंध वर्तमान से भी है।

“लोक साहित्य को परम्परागत मानना युक्तिसंगत है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें कुछ भी नया नहीं होता। केवल परम्परा या अतीत का रिक्थ होने पर इसके लिए प्रवाह बना रहना संभव नहीं है। कभी इस बात पर बल दिया गया था कि यह अवशेषों का अध्ययन है और आधुनिक युग में इसका विकास नहीं हो सकता। किन्तु यदि लोक साहित्य परम्परा है तो ऐसी, जिसका बदलती हुई परिस्थितियों के साथ नवीनीकरण होता गया है। इसके रूपांतरण की प्रक्रिया के विश्लेषण में यह देखा गया है कि यह अपने हर प्रस्तुतीकरण में अपने वाचकों द्वारा परिवर्तित हो जाती है। इसमें होने वाले परिवर्तन काल के दोनों आयामों- अतीत और वर्तमान- का स्पर्श करते हैं।”⁴

‘लोक’ प्रवाहमान है इसलिए वह कालबद्ध नहीं है। प्रत्येक समय में उसका स्वरूप अपनी शर्तों पर बदलता रहता है। लोक जीवन में मानव के आदि से अंत तक के राग-विराग हैं। लोक का चिंतन प्रकृतिपरक है। सामूहिकता और सामुदायिकता इसकी केन्द्रीय विशेषता है।

‘लोक’ शब्द का अर्थ- देखना या ज्ञान प्राप्त करना होता है। इस ज्ञान का संबंध दृश्य जगत और अदृश्य जगत दोनों से है। ‘लोक’ के शाब्दिक अर्थ के बारे में कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं कि -

“ ‘लोक’ शब्द संस्कृत के ‘लोक दर्शि’ धातु से ‘धञ्’ प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इस धातु का अर्थ देखना है। जिसका लट् लकार के अन्य पुरुष के एकवचन का रूप ‘लोकते’ है। अतः लोक शब्द का अर्थ हुआ देखने वाला। इस प्रकार वह समस्त जनसमुदाय जो इस कार्य को करता है ‘लोक’ कहा जा सकता है। ‘लोक’ शब्द से ही ‘लोग’ शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है जिसका तात्पर्य है सर्वसाधारण जनता। अतः ‘लोक’ शब्द का अभिप्राय उस समस्त जनसमूह से है जो किसी देश में निवास करता है।”⁵

लोक का अर्थ अंग्रेजी के फोक (FOLK) शब्द से लिया जाता है। जर्मन भाषा में इसे वोल्क (VOLK) कहते हैं जिसका अर्थ जनसामान्य होता है।

लोक के संबंध में विभिन्न विद्वानों के मतों को देख सकते हैं।

डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार “ ‘लोक’ मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है।”⁶ अर्थात् लोक प्रकृति से युक्त होते हैं तथा कृत्रिमता से दूर।

डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा की मान्यता है कि यह शब्द सर्वसमावेशी है। “‘लोक तंत्र का आधार स्तंभ ‘लोक’ है। लोक का अर्थ है- सर्वजन, सर्व वर्ण अर्थात् ‘सब लोग’ किसी कारणवश यदि ‘कुछ लोग’ ‘सब लोग’ से दूर होकर अपने को अलग मानने लगते हैं, तो इससे वर्ग अथवा वर्ण का प्रारंभ होता है और वर्गवाद असमानता की भावना पर आधृत होने से लोकतंत्र का विरोधी होता है। स्पष्ट है कि- लोक की संकल्पना के साथ ‘समानता’ जुड़ी हुई है। ‘लोक’ का तात्पर्य है- वह जनसमुदाय, जहाँ सब लोग समान रूप से स्वतंत्र हों। समानता और स्वतंत्रता साथ चलती है। लोक सामूहिक चेतना का स्रोत है। अपने स्वस्थ एवं सहज रूप में ‘लोक’ किसी भी वर्ग अथवा दल की अपेक्षा अधिक समझदार सबल और समर्थ होता है।”⁷

डॉ. दिनेश्वर प्रसाद सरीखे विद्वान 'लोक' को व्यापक आयाम देने में विश्वास रखते हैं और इसमें समकालीनता और आधुनिकता तक को समाहित देखना चाहते हैं- “कृषक-वर्ग या गाँवों और नगरों में रहने वाला अल्प-संस्कृत, अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित समुदाय ही लोक नहीं है। लोक क्षेत्र विशेष का पूरा जन-समुदाय है। यह विभिन्न सांस्कृतिक - आर्थिक इकाइयों की वह समष्टि है जिसे समस्त जनता या समूचा जन-समुदाय कहा जाता है और जिसके अंतर्गत शिक्षित और अशिक्षित तथा साधारण और असाधारण, सभी प्रकार के लोग आ जाते हैं।”⁸

लेकिन कृष्णदेव उपाध्याय का इससे नितांत भिन्न विचार है। वे सामान्यजन और विशिष्टजन की भिन्नता का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि “जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगों के प्रभाव से बाहर रहते हुए अपनी पुरातन परिस्थिति में वर्तमान हैं उन्हें ही लोक कहा जाता है।”⁹

आचार्य हजारी प्रसादी द्विवेदी के अनुसार- “लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों या गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।”¹⁰

उपर्युक्त कथनों से पता चलता है कि 'लोक' शब्द सीमित भी है और काफी व्यापक भी। यह जीवन से आदि से अंत तक, विविध रूपों में जुड़ा हुआ है। इसकी अभिव्यक्तियाँ कई प्रकार से होती हैं जिन्हें लोक-साहित्य, लोक-संस्कृति, लोक-कलाओं इत्यादि में देख सकते हैं। विद्वानों द्वारा इस लोक तत्व को समझाने या सुगम बनाने के लिए इसे विभाजित भी किया गया। जैसे- एक तो वे विश्वास, आचरण और अभ्यास हैं जिनका संबंध पृथ्वी और आकाश, वनस्पतियों, पशुओं, मनुष्यों, आत्मा, शकुनों-अपशकुनों, भविष्यवाणियों, जादू-टोनों इत्यादि से है। दूसरे रीति-रिवाजों से संबंधित हैं जिसमें तिथियाँ, व्रत तथा त्योहार आते हैं। तीसरे का संबंध कहानियों गीतों तथा कहावतों से होता है।

लोक साहित्य का गुण-धर्म शिष्ट साहित्य से भिन्न है। लोक साहित्य की कुछ सार्वदेशिक विशेषताएँ हैं। जैसे- लोक साहित्य श्रुति-परंपरा पर आधारित होता है। इसमें प्रामाणिक मूलपाठ का

अभाव रहता है। इसमें रचनाकार के व्यक्तित्व का अभाव होता है। लोक साहित्य में अलंकृत शैली और कोरे उपदेश लगभग नहीं होते हैं। लोक-साहित्य लोक-संस्कृति को प्रतिबिंबित करता है।

आदिम युग में मनुष्य को अन्य प्राणियों से भिन्न करने वाली वृत्तियाँ ही संस्कृति थीं। उस संदर्भ में संस्कृति का तात्पर्य संस्कार से है जो मनुष्य में मनुष्यता का संचार तथा उसकी मानवीय प्रवृत्तियों को परिष्कृत करता है।

संस्कृति का शाब्दिक अर्थ संस्कार है। ‘संस्कृति’ शब्द ‘संस्कार’ शब्द से बना है। संस्कार ‘सम’ उपसर्ग, ‘कृ’ धातु और ‘क्तन्’ प्रत्यय लगने से बना है। जिसका अर्थ सुधारना या परिष्कार करना है। अर्थात् मानव जीवन के विकास और परिष्कार को ध्यान में रखकर किए गए क्रिया-कलापों का लेखा-जोखा कह सकते हैं। संस्कृति के लिए अंग्रेजी में ‘कल्चर’ (Culture) शब्द का प्रयोग होता है। इस संदर्भ में कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं कि- “निरुक्ति की दृष्टि से ‘कल्चर’ शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के कोलर (Colar) धातु से निष्पन्न कुल्टुरा (Cultura) शब्द से हुई है जो संक्षेप में पूजा करना तथा कृषि संबंधी कार्य का क्रमशः बोधक है। कुछ विद्वान कल्चर (Culture) तथा कल्टीवेशन (Cultivation) अर्थात् कृषि कर्म में समानता की स्थापना करते हैं। अतः इस समता के आधार पर यह कथन कुछ असमीचीन नहीं होगा कि कृषि-विद्या (Agriculture) के सिद्धांतों के आधार पर जिस प्रकार पेड़-पौधों को सुविकसित करके अच्छी खेती तैयार की जाती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्यों में भी मानवता की भावना को पुष्पित और पल्लवित करने के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जाता है, जो प्रक्रिया अपनायी जाती है, उसे संस्कृति कहा जा सकता है।”¹¹

संस्कृति के संदर्भ में हम कुछ विद्वानों के मतों को देख सकते हैं। भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार “संस्कृति एक प्रकार का मानसिक विकास है, एक विशिष्ट दृष्टिकोण, जो सभ्य मानव में हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। यह एक प्रकार का संस्कार है, मानसिक निखार, और यह संस्कार व्यक्तिगत भी हो सकता है, सामूहिक भी।”¹²

प्रभुदयाल मीतल इसे व्यक्ति और समाज के लिए आवश्यक बताते हुए मानते हैं कि “मानव समाज के वे सब संस्कार, जो लौकिक और पारलौकिक उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करते हुए उसके सर्वांगीण जीवन का निर्माण करते हैं, उसकी संस्कृति कहे जाते हैं।”¹³

डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह कुछ इस प्रकार से संस्कृति की परिभाषा करने का प्रयास करते हैं- “मस्तिष्क में अव्यक्त, अवचेतन एवं अप्रत्यक्ष रूप में सक्रिय आनुवंशिक, आनुदेशिक एवं पर्यावरणीय शक्तियों का दृश्यमान जगत में विभिन्न रूपों में प्रतिफलन ही संस्कृति है। निःसंदेह मानव मस्तिष्क में अनेकानेक शक्तियाँ सृजन की प्रक्रिया में निरंतर लगी रहती हैं और समय-समय पर उनका प्रतिफलन भी होता रहता है जो मस्तिष्क में परिशोधित होकर व्यक्त होती है। इसी व्यक्तिकरण की पूर्वापर प्रक्रियाओं के समुच्चय का नाम संस्कृति है।”¹⁴

अतः उनके अनुसार संस्कृति का फलक काफी व्यापक है जिसका संबंध व्यावहारिक जगत से लेकर मानसिक जगत तक है। संस्कृति में मानवीय जीवन में संचित और प्रवाहित वे तमाम तत्व हैं जो हमारी जीवन शैली में हैं।

यदि इन संस्कृतियों की धाराओं की बात करें तो पाते हैं कि प्राचीन काल से ही संस्कृति की दो पृथक-पृथक धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। पहली शिष्ट संस्कृति और दूसरी लोक संस्कृति। शिष्ट संस्कृति से तात्पर्य उस अभिजात वर्ग की संस्कृति से है जिसका चिंतन बुद्धिवादी तथा भोगवादी है। यह वर्ग अपनी प्रतिभा के कारण अपने को समाज का पथ-प्रदर्शक मानता है। इस संस्कृति का आधार वेद और शास्त्र हैं। लोक संस्कृति का तात्पर्य जन-साधारण की उस संस्कृति से है जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करती है, जिसके चिंतन के केन्द्र में मनुष्य, उसकी सहज प्रवृत्तियाँ एवं प्रकृति है। शास्त्र और लोक के इसी परिप्रेक्ष्य में प्रो. नामवर सिंह भक्ति आंदोलन को देखते हैं, “मध्य युग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वंद्व है, न कि इस्लाम और हिन्दू धर्म का संघर्ष।”¹⁵

कृष्णदेव उपाध्याय लोक और शास्त्र की दोनों सांस्कृतिक धाराओं और उसकी प्रवृत्तियों को अथर्ववेद और ऋग्वेद के माध्यम से व्यक्त करते हैं तथा इन दोनों को लोक और शास्त्र की आधार

भूमि के रूप में स्वीकारते हैं। “यदि अथर्ववेद लोक संस्कृति का परिचायक है तो ऋग्वेद शिष्ट संस्कृति का दर्पण है। अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जन-जीवन है तो ऋग्वेद का विशिष्ट जन-जीवन है। ऋग्वेद में यज्ञ-यागादिक विधान पाया जाता है तो अथर्ववेद में अंधविश्वास, टोना-टोटका, जादू और मंत्र का वर्णन उपलब्ध है। इस प्रकार ऋग्वेद में शिष्ट तथा संस्कृत जन के विचारों का विवरण मिलता है तो अथर्ववेद में सामान्य जनता के जीवन का चित्रण हुआ है। इस प्रकार ये दोनों वेद दो विभिन्न संस्कृतियों के प्रतीक हैं।”¹⁶

लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है तथा शिष्ट संस्कृति लोक संस्कृति से प्रभाव-ग्रहण भी करती है। अपने देश और यहाँ के साहित्यों के इतिहास को देखने से पता चलता है कि प्रत्येक समय या कालखंड में कोई एक प्रवृत्ति केन्द्र में होती है। हिन्दी साहित्येतिहास को देखें तो आदिकाल में वीरता, भक्तिकाल में धर्म, रीतिकाल में शृंगार और भारतेन्दु युग में राष्ट्रीयता केन्द्र में रहे हैं। यदि इन चीजों को लोक और शास्त्र के संदर्भ में देखें तो कभी लोक पर शास्त्र हावी रहा है तो कभी शास्त्र पर लोक। यदि इन्हें धार्मिक और राजनैतिक संदर्भों में देखें तो कभी धर्मतंत्र पर राजतंत्र का वर्चस्व रहा है तो कभी राजतंत्र पर धर्मतंत्र का। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस तरह की विशेषताएँ एक दूसरे से प्रभावित होती हैं तथा उसमें रचती-बसती हुई एक नवीन जीवन शैली का निर्माण करती हैं। इस संदर्भ में नामवर सिंह का कथन है कि - “लोक के दबाव में शास्त्र ने कभी-कभी अपने आप को लचीला बनाकर लोक की बहुत-सी विशेषताओं को अन्तर्भुक्त कर लिया। भारत में उच्च वर्ग के इस वैचारिक लचीलेपन और समझौतावादी रूख का ही यह परिणाम हुआ कि हिंसात्मक विद्रोह की स्थितियाँ बहुत कम उत्पन्न हुईं। इस दृष्टि से भारत की प्राचीन मनीषा अन्य अनेक देशों के बुद्धि-जीवियों से अधिक चतुर और व्यवहार कुशल प्रतीत होती है। किन्तु यदि एक ओर शास्त्र ने झुककर लोक की विशेषताओं को अंतर्भुक्त किया तो दूसरी ओर शास्त्र-वंचित लोक भी अपने अनुभव संचित विचार-खण्डों को सुसंगत और समृद्ध बनाने के लिए ‘शास्त्र’ का सहारा लेता रहा है। इस दूहरी प्रक्रिया में कभी-कभी एक ऐसे ‘लोक धर्म’ का निर्माण हुआ है जो व्यापक जन-विद्रोह के लिए वैचारिक आधार का काम करता रहा है।”¹⁷

अतः भक्तिकाव्य के सांस्कृतिक मूल्यांकन में लोक और शास्त्र की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। भक्तिकाव्य का झुकाव सबसे अधिक लोकजीवन की तरफ ही रहा है, जहाँ लोक और संस्कृति के सारे तत्व जैसे लोक साहित्य, मिथक, लोक विश्वास, मान्यताएँ इत्यादि सब मौजूद हैं।

5.1 लोक साहित्य

लोक साहित्य मानवीय जीवन की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसकी पैठ आदिम प्रवृत्तियों से होते हुए आज के सभ्य कहे जाने वाले मनुष्य तक में है। यह एक सतत प्रवाहमान प्रक्रिया है। डॉ. सत्येन्द्र लोक साहित्य की परिभाषा करते हुए तीन महत्वपूर्ण बिन्दुओं को रेखांकित करते हैं-

“लोक साहित्य के अंतर्गत वह समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें (अ) आदिम मानस के अवशेष उपलब्ध हों, (आ) परम्परागत मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो। (इ) कृतित्व हो किन्तु वह लोक मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी, लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।”¹⁸

अतः लोक साहित्य मौखिक धरोहर के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है। इसके कोई निश्चित भाषा, रचना-पद्धति या व्याकरणिक नियम नहीं होते हैं। पहले लोक साहित्य का मतलब मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों तथा उससे जुड़े श्रुति-आधारित लोक-गाथाओं एवं लोक गीतों से ही लिया जाता था लेकिन बाद में यह अवधारणा बदली और इसे जीवन और प्रकृति में व्याप्त, सहज रूप से प्रवाहित एक स्थायी मूल्य के रूप में देखा जाने लगा। जिस प्रकार समय के परिवर्तन से समाज, संस्कृति, साहित्यिक मानदण्ड एवं मूल्य बदलते हैं, उसी प्रकार लोक साहित्य अपनी परिवर्तनशीलता के साथ आगे बढ़ता है। आज के बदलते सामाजिक जीवन और पूँजीवादी समय में लोक साहित्य के संदर्भ में डॉ. दिनेश्वर प्रसाद का कथन है कि - “लोक साहित्य में सामाजिक जीवन के प्रतिफलन का एक अर्थ यह भी होता है कि इसमें बदलते रहने के अतिरिक्त नये सृजन की क्षमता भी होती है। कभी यह विश्वास किया जाता था कि पूँजीवादी युग में लोक साहित्य का विकास संभव नहीं है। यह सच है कि

औद्योगीकरण से सामुदायिक जीवन का पुराना ढाँचा टूटा है, लेकिन नये प्रकार के पेशेवर समुदायों का भी विकास हुआ है जिसका अर्थ है नये प्रकार के सामुदायिक लोक साहित्यों का विकास।”¹⁹

अर्थात् लोक साहित्य केवल अतीत के अवशेषों का संकलन न होकर मनुष्य के तत्कालीन मूल्यों से भी जुड़ा हुआ है। लोक जीवन की केन्द्रीय विशेषता इसकी सामुदायिकता है। लोक साहित्य इस सामुदायिक जीवन के हर्ष-विषाद एवं उससे जुड़ी मिथकीय इत्यादि घटनाओं को अपने समय में दर्शाता है। लोक साहित्य में जितना अधिक महत्व सामुदायिकता का है उतना ही स्थानीयता का भी है। लोक साहित्य का निर्माण अधिकांशतः स्थानीय तत्वों के आधार पर होता है। ये स्थानीय मूल्य लोक साहित्य के साथ-साथ संस्कृति को प्रतिफलित करते हैं।

5.1.1 लोक गीत

लोक साहित्य में लोक गीतों का महत्व अधिक है। लोक-गीतों द्वारा हम किसी भी देश और समाज के भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों, रहन-सहन, उत्सव-त्योहारों आदि का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। लोक गीतों से प्राचीन संस्कृति, सभ्यता एवं तत्कालीन चिंतनशीलता का पता चलता है। ये गीत हमारे सामाजिक, धार्मिक विकास के इतिहास को भी अभिव्यक्त करते हैं। लोक गीत किसी भी देश की सांस्कृतिक निधि है। लोक गीत के संदर्भ में डॉ. नन्दलाल कल्ला लिखते हैं कि- “लोक गीत, मानव मन की अनुभूतियों की सरस रागात्मक अभिव्यंजना का लयात्मक उपहार है। लोक संस्कृति की सच्ची मधुर, मनमोहक तथा स्वरमूला अभिव्यक्ति को ‘लोक गीत’ की संज्ञा से अलंकृत किया जा सकता है। यह लोक आस्था तथा लोकानुभूत सत्य का अकृत्रिम, सहज, नैसर्गिक गीतात्मक उद्गार है।”²⁰

गीत शब्द का प्रयोग भक्तिकाव्य में मिलता है, जिसका मतलब ‘लोक गीत’ ही है। उन गीतों का संबंध संस्कारों, ऋतुओं, उत्सवों एवं विरह-वेदना से अधिक है -

“ताल मृदंग बीन डफ बांसुरि, बाजत गावत गीत”²¹

धर्मशास्त्रों में सोलह संस्कारों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से कुछ की चर्चा भक्त कवियों ने अपनी कविताओं में की है। ऐसे गीतों में सोहर, मंगल, नहछू, विवाह इत्यादि हैं।

संस्कारपरक गीत संभवतः लोक-जीवन के विभिन्न संस्कारों के अवसर पर गाये जाने वाले मंगल गानों के रूप में लिखे गये होंगे और उनमें प्रचलित लोक गीतों की शैली का अनुकरण किया गया होगा। पुत्र जन्म के अवसर पर 'सोहर' गाये जाते हैं। इसे सोभर, सोहिलो या सोहिला के नाम से भी जाना जाता है। कहीं-कहीं सोहर को मंगल गीत अथवा मंगल भी कहा गया है। नहछू भी पुत्र जन्म, कर्णभेद, यज्ञोपवीत आदि शुभ अवसरों पर गाया जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने इस लोक-प्रथा और उससे सम्बद्ध सोहर अथवा सोहिल नामक गीत-शैली के आधार पर 'राम लला-नहछू' की रचना की। इसमें केवल बीस पद्य हैं जो सोहर शैली में लिखे गये हैं -

“कोटिन्ह बाजन बाजहिं दसरथ के गृह हो।

देवलोक सब देखहिं आनंद अति हिय हो।”²²

“आजु महामंगल कोसलपुर सुनि नृप के सुत चारि भए।

सदन-सदन सोहिलो सोहावनो, नभ अरु नगर-निसान हए।”²³

“गौरि गणेश्वर बीनऊँ (हो), देवी सारद तोहिं।

गावौं हरि कौ सोहिलौ (हो), मन-आखर दै मोहिं।”²⁴

सोहर एक प्रकार का सहगान है, जिसमें स्त्रियाँ समूह में गाती हैं। इसमें लयात्मकता के साथ चरण के मध्य या अंत में 'हो' की ध्वनि होती है। संभवतः 'हो' की ध्वनि का प्रयोग हर्ष, उल्लास को व्यक्त करने तथा गीत को प्रभावशाली बनाने के लिए किया जाता है।

भक्त कवियों ने अन्नप्राशन का भी उल्लेख किया है। छठे महीने में बालक को अन्नप्राशन कराया जाता है। सूरसागर में नन्द-यशोदा यह सुनकर बहुत प्रसन्न होते हैं कि कृष्ण अन्नप्राशन योग्य हो गये हैं। यशोदा नाना प्रकार के व्यंजन तैयार करवाती हैं, ब्रज-वधुओं और युवतियों को आमंत्रित करती हैं जो 'महर' का नाम लेकर 'गारी' गाती हैं। नंद स्वर्ण थाल में खीर, घृत और मधु डालकर अपने हाथ से बालक का मुँह 'जूठा' कराते हैं -

“आज कान्ह करिहैं अनप्रासना।

मनि-कंचन के थार भराए, भांति-भांति के बासना।”²⁵

“आछौ दिन सुनि महरि जसोदा, सखिनि बोलि सुभ गान करयौ।

जुवति महरि कौ गारी गावतिं, और महर कौ नाम लिए।”²⁶

सूरदास जी ने राधा और कृष्ण के गंधर्व विवाह का तथा तुलसीदास जी ने सीता और राम के विवाह का बहुत ही सजीव वर्णन किया है जिसमें मंगल गीत गाया जाता है -

“गावहिं सुंदरि मंगल गीता। लै लै नामु रामु अरु सीता।”²⁷

ऋतु-परक गीतों का संबंध किसी न किसी ऋतु से होता है। भारत विविध ऋतुओं का देश है, इसलिए यहाँ लोक गीतों का बहुत बड़ा भाग ऋतुओं से और विशेषकर वसन्त और वर्षा ऋतु से संबंधित है। वसन्त में फाग, होरी के गीत गाये जाते हैं और वर्षा में कजली, झूमर, मलार, आल्हा इत्यादि गाये जाते हैं। हिंडोला सावन महीने का विशेष लोकप्रिय गीत है। भक्त कवियों ने इन ऋतुओं को लेकर तथा इन ऋतुओं में होने वाले लोकोत्सवों के कई गीत लिखे हैं। वसन्त में राम के होली खेलने का वर्णन तुलसीदास जी गीतावली में करते हैं -

खेलत बसंत राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर-समाज।

सोहैं सखा-अनुज रघुनाथ साथ। झोलिन्ह अबीर, पिचकारी हाथ।”²⁸

कृष्ण भक्त कवियों ने वसन्त, होली और फाग को लेकर सबसे अधिक गीत लिखे हैं। सूरदास जी के संदर्भ में डॉ. हरगुलाल लिखते हैं कि - “सूरदास जी ने होली और वसन्त के विविध प्रकार लिखे हैं। होली के गीतों को यद्यपि उन्होंने शास्त्रीय रागों, जैसे- वसन्त, गौरी, श्री मलार, टोड़ी, कल्याण, जैजैवन्ती, बिलावल और ‘काफी’ आदि में बाँधा है, परन्तु फिर भी उनमें ग्राम गीतों की लय, शब्दावली एवं सामूहिक उल्लास नितांत स्पष्ट है। सूर शास्त्रीय संगीत में निष्णात होते हुए भी लोक होरी की प्रत्यक्ष उमंग का तिरस्कार नहीं कर सके। सुतरां वे भी ब्रजवासियों के साथ हो, हो, हो, हो, हो होरी की ध्वनि करते ब्रज की गलियों में घुस पड़े।”²⁹

उपर्युक्त कथन से संबंधित सूरदास जी का होरी का एक पद देख सकते हैं -

“हो हो हो हो हो हो होरी।

खेलत अति सुख प्रीति प्रगट भई, उत हरि इतहिं राधिका गोरी।”³⁰

लगभग सारे अष्टछाप के कवियों ने होरी, फाग, बसंत के बहुत ही सजीव चित्रण किये हैं -

“आजु हरि खेलत फागु बनी

X X X X X

आबिर गुलाल उड़ावत गावत, सारी जात सनी।”³¹

सगुण भक्त कवियों के यहाँ वर्षा ऋतु और उसमें होने वाले उत्सवों तथा झूलों-हिंडोलों से संबंधित बहुत से पद मिलते हैं। इन अवसरों पर उत्तर भारत में कजली भी गायी जाती है। तुलसीदास जी ने गीतावली में सीता और राम के हिंडोला झूलने का वर्णन करते हुए मलार, सारंग, सोरठ इत्यादि का वर्णन किया है -

“पौढ़िये लालन, पालने हौं झुलावौं।

कर पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन भंवर भुलावौं।”³²

भक्ति काव्य में विरह के गीतों या पदों की प्रधानता है। ‘भ्रमरगीत’ एक प्रकार का विरह गीत ही है। विरह के पदों की प्रधानता कबीर और जायसी के यहाँ दिखाई पड़ती है। विरह-दशा में प्रकृति कभी तो सहयात्री बन जाती है और कभी एकदम विपरीत रूप धारण कर काटने को दौड़ती है यानी प्रकृति का मानवीकरण या प्रकृति और मनुष्य का साहचर्य खूब देखने को मिलता है -

“मधुबन! तुम कत रहत हरे?

बिरह बियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे!”³³

भक्तिकाव्य में बारहमासा और षट्ऋतु के भी उदाहरण मिलते हैं। बारहमासा और षट्ऋतु भी वियोगजनित गीत हैं जिसमें विरहिणी बदलते मास और ऋतुओं के द्वारा अपने कष्टों को अभिव्यक्त करती है। षट्ऋतु अर्थात् छः ऋतुओं का वर्णन संस्कृत साहित्य में अधिक मिलता है। यह विरहिणी के वियोग के साथ-साथ नायिका के जीवन के हर्ष, उल्लास को भी अभिव्यक्त करता है। जायसी ने षट्ऋतु और बारहमासा दोनों का सुन्दर प्रयोग रानी पद्मावती और रानी नागमी के माध्यम से किया है -

“प्रथम बसंत नवल ऋतु आई। सुऋतु चैत बैसाख सोहाई।”³⁴

“चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा।”³⁵

लोक गीत जीवन के अनुभवों की रागात्मक, करुण अभिव्यक्ति है। लोक गीतों में स्थानीयता, अंचल की छाप अपनी छोटी-बड़ी प्रवृत्तियों के साथ उपस्थित होती है। जायसी भी विरह दशा का वर्णन करते हुए अवध की आँचलिकता को बखूबी दर्शाते हैं। भक्त कवियों के यहाँ गीतात्मकता उनकी कविता के प्राणतत्व हैं।

5.1.2 लोक गाथा

लोक गाथा, लोक गीत ही है जिसमें प्रबंधात्मकता होती है। इसे लोक जीवन का महाकाव्य कह सकते हैं। लोक गीत आकार में छोटा तथा गेय प्रधान होता है लेकिन लोक गाथा प्रबंधात्मक और कथा-प्रधान होता है - “ ‘लोकगाथा’ एक ऐसी मनोरंजनात्मक, आह्लादक, प्रेरक लोक विधा है जिसमें गीतात्मकता, वर्णनात्मकता एवं अभिनेयता की त्रिवेणी का संगम है जो लोकमानस को लोक हितकारी पुण्यमना चरित्रों को जानने का सौभाग्य प्रदान करता है।”³⁶

लोक गाथाओं में भी लोक गीतों की तरह इसके रचयिता का पता नहीं होता है। उत्तर भारत में आल्हा, लोरकी, भरभरी इत्यादि अनेक लोक गाथायें प्रचलित हैं लेकिन इसकी रचना किसने की यह कहना मुश्किल है। लोक गाथाओं का कोई प्रामाणिक मूल पाठ नहीं होता। गाथा जातीय समुदाय की मिली-जुली रचना होती है। क्षेत्र या प्रदेश की विभिन्नता के कारण तथा गवैयों और भाषा क्षेत्र के आधार पर एक ही लोक गाथा के अनेक पाठ देखने को मिलते हैं। इस स्थिति में लोक गाथा की मौलिकता का दावा करना कठिन है। लोक गाथाओं में संगीतात्मकता इसका प्राण तत्व है। इसके बिना गाथा सुनने में आनन्द नहीं आता। उत्तरी भारत में अल्हैत गले में ढोल बाँधकर आल्हा गाते हैं। गोरखपंथी जोगी सारंगी बजाकर अपनी जीविका का उपार्जन करते हैं। स्थानीयता की अधिक छाप इन लोक गाथाओं में मिलती है। जैसे- आल्हा में बुंदेलखण्ड के कजरी बन, वहाँ का किला तथा महोबा इत्यादि का वर्णन मिलता है। लोक गाथाओं की प्रवृत्ति मौखिक होती है। लोक गाथाओं का कथानक बहुत लम्बा होता है। ‘आल्हा’ और ‘ढोला मारु रा दूहा’ की गाथाएँ बहुत बड़ी हैं। भक्तिकाव्य की प्रेमगाथा मुल्ला दाऊद की चांदायन है जिसे लोरकी भी कहा जाता है। इसमें लोरिक और चंदा की प्रेम कथा है -

“रंग कइ बात कहउं सुनि लोरा। कइसें रात मोहि मनु तोरा।”³⁷

5.1.3 लोक कथा

लोक साहित्य की विधाओं में लोक-कथाओं का अधिक महत्व है। इसका कारण इसमें लोक-मानस की सहज, सरल अभिव्यक्ति गद्य रूप में होती है। लोक कथा के संदर्भ में कृष्णदेव उपाध्याय का विचार है कि - “इन कथाओं के द्वारा सर्वसाधारण जनता के मन का जितना अनुरंजन होता है उतना अन्य किसी साधन के द्वारा नहीं होता। भारतवर्ष लोक-कथाओं की उत्स भूमि है। यहाँ की प्राचीन कथाओं ने समस्त संसार के कथा साहित्य को प्रभावित किया है। किम्बहुना, यूरोप में प्राचीन समय से प्रचलित ईसप की कहानियाँ ‘इसस्प फेबुल्स’ भी इनसे अप्रभावित नहीं है।”³⁸

लोक कथाओं की परंपरा तथा प्राचीनता को संस्कृत साहित्य में देखा जा सकता है। ‘वृहत्कथा मंजरी’, ‘कथा सरित्सागर’, ‘हितोपदेश’, ‘पंचतंत्र’ तथा जातक कथाएँ इत्यादि संस्कृत में हैं। लोक कथाओं का प्रधान उद्देश्य उपदेशात्मक होता है। पंचतंत्र और ‘हितोपदेश’ उपदेशमूलक कथाएँ हैं। लोक कथाओं में भाई-बहन, पिता-पुत्र, पति-पत्नी का सात्विक प्रेम दिखायी पड़ता है। इन कथाओं में मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ जैसे- काम, क्रोध, लोभ इत्यादि का चित्रण देखने को मिलता है। लोक कथाओं के संदर्भ में डॉ. ब्रजविलास श्रीवास्तव लिखते हैं कि- “लोक कथाएँ मुख्यतः मानव-जीवन की घटनाओं, मानवीय आवेगों और संवेगों तथा आचारगत पाप-पुण्य की बातों का वर्णन करती हैं। ये घटनाएँ मूलतः यथार्थ पर आधारित होते हुए भी प्रायः कल्पनाजनित अतिशयोक्ति से भरी होती हैं। उनमें यथार्थ मानवीय अनुभूतियों को ही कल्पना द्वारा अतिरंजित करके इस रूप में उपस्थित किया गया रहता है कि आधुनिक तर्कशील व्यक्ति के लिए वे असंभव और अमान्य प्रतीत होती हैं। निजन्धरी आख्यानों और लोक गाथाओं में भी यही बात दिखायी पड़ती है।”³⁹

लोक कथाएँ मंगल-कामना की भावना से भरी होती हैं तथा दुःख के वर्णन के बावजूद भी सुखान्त होती हैं। कुछ कथाएँ अलौकिक प्रधान होती हैं, जिनमें रहस्य, रोमांच, भूत-प्रेम, दानव तथा परियाँ इत्यादि होती हैं। लोक कथाओं में उत्सुकता की भावना प्रधान होती है।

भक्तिकाव्य में लोक कथाओं का प्रयोग दिखायी पड़ता है। श्रीरामचरितमानस स्वयं एक ऐसी काव्य-कथा है जिसका आधार लोक और शास्त्र दोनों ही हैं। राम और रावण दोनों ही मुख्य पात्र हैं जो शौर्य गुण से भरे हुए हैं। इस कथा में विविध संस्कृतियों की झलक दिखायी पड़ती है।

सूरसागर के लगभग प्रत्येक स्कन्ध में कोई न कोई धार्मिक अथवा पौराणिक कथा मिलती है। ‘भागवत प्रसंग’ में सूरदास जी ने शुकदेव जन्म की कथा, विदुर और द्रौपदी की कथा तथा राजा खट्वांग की कथा, ‘यज्ञपुरुष अवतार’ की कथा, पार्वती विवाह की कथा, ध्रुव कथा इत्यादि का उल्लेख किया है। पंचम स्कन्ध में ‘जड़भरत कथा’ प्रसंग में भीलराव का पुत्र प्राप्ति के लिए काली को नर-बलि देने की बात करना लोक कथाओं के ही तत्त्व हैं -

“तुव प्रसाद मम गृह सुत होइ। नर बलि देहुँ, भयौ बर सोइ।”⁴⁰

षष्ठ स्कन्ध में ‘श्री गुरु महिमा’ प्रसंग में अंगिरा ऋषि के प्रसाद से चित्रकेतु की पटरानी को पुत्र की प्राप्ति होती है और फिर उसे विष देकर मार दिया जाता है। इस तरह के प्रसंग अधिकांश लोक कथाओं में देखने को मिलते हैं। रामकथा में ‘अहल्या उद्धार’ का स्वरूप भी संभवतः लोक द्वारा ही निश्चित हुआ होगा। संभवतः लोक-मानस ने अहल्या को शाप देकर पत्थर बनाया होगा -

“गंगा-तट आए श्रीराम।

तहां पषान रूप पग परसे, गौतम रिषि की बाम।”⁴¹

‘गोचारण प्रसंग’ में एक दिन ग्वाल-बाल उस स्थान का पानी पी लेते हैं जहाँ ‘कालीय’ नाग रहता है। पानी पीते ही सब मरणासन्न की स्थिति में पहुँच गए फिर इन सबको कृष्ण खोजते हुए उस स्थान पर पहुँचते हैं और अपनी अमृत दृष्टि से इन्हें जीवित कर देते हैं -

“अमृत दृष्टि भरि चितए सूर प्रभु, बोलि उठे गावत हरि गाथा।”⁴²

इस प्रकार से लोक कथाओं में पुनर्जीवित करने की कथा बहुत प्राचीन समय से मिलती है।

लोककथाओं में वक्ता-श्रोता का अभिन्न तादात्म्य देखने को मिलता है। वक्ता जब कथा प्रारंभ करता है तो वह श्रोता से स्वीकृति सूचक शब्दों जैसे हाँ, हूँ इत्यादि की अपेक्षा रखता है। सूरदास

ने एक स्थान पर माता द्वारा कथा कहने का बहुत सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। कथा सुनते ही पुत्र हुँकारी देता है -

“सुनि सुत, एक कथा कहौं प्यारी।

कमल-नैन मन आनंद उपज्यौ, चतुर सिरोमनि देत हुँकारी।”⁴³

जायसी ने भी पदमावत में विभिन्न लोककथाओं जैसे- गौरा-पार्वती की कथा, दुष्यंत-शकुंतला की कथा, लोना-चमारिन की कथा, गोरख-मछंदर की कथा इत्यादि की तरफ संकेत किया है।

भक्तिकाव्य में विभिन्न लोकोक्तियों, मुहावरों एवं सूक्तियों का प्रयोग है। कुछ लोक जीवन से संबंधित सूक्तियों को देख सकते हैं -

“सूरदास तीनों नहिं उपजत धनिया धान कुम्हाड़े।”⁴⁴

“का बरखा सब कृषी सुखाने। समय चुकें पुनि का पछिताने।”⁴⁵

“सांठ होइ जासौं सो बोला। निसठां पुरुख पात पर डोला।”⁴⁶

इस प्रकार भक्तिकाव्य में लोक जीवन की बहुज्ञता देखने को मिलती है। कवियों ने लोक साहित्य की विविध विधाओं का प्रयोग बहुत ही सहजता से संदर्भानुसार किया है। उन्होंने कृषक-जीवन, ग्रह, नक्षत्र, स्थानीय रहन-सहन इत्यादि का सरल और बोधगम्य चित्रण किया है।

5.2 लोक विश्वास एवं मान्यताएँ

जिस समाज या देश की संस्कृति जितनी पुरानी होगी उसमें प्रचलित मिथक, विश्वास और मान्यताएँ उतने ही अधिक होंगे। भारतीय संस्कृति प्राचीन संस्कृतियों में से एक है तथा इसे आज भी विविधता में एकता का देश माना जाता है, जहाँ भाषा, वेशभूषा एवं सांस्कृतिक विविधता दिखायी पड़ती है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि लोक विश्वास और उसकी मान्यताएँ अलग-अलग होंगी। वैज्ञानिक प्रगति के बाजवूद लोक विश्वास और मान्यताएँ आज भी प्रत्येक समाज में मौजूद हैं, इसका संबंध हमारी प्रवाहमान परंपरा से है।

मध्यकालीन साहित्य में लोक विश्वास के साथ पौराणिक विश्वास एवं मान्यताओं को काफी महत्व दिया गया क्योंकि मध्यकालीन काव्य-रचना का पूरा परिवेश धार्मिक रहा है। देश में नाना प्रकार के संप्रदाय और साधनाएँ प्रचलित थीं। कबीर के एक पद में इसे देख सकते हैं -

“इक पढ़हिं पाठ इक भ्रमें उदास, एक नगन निरंतर रहै निवास।
इक जोग जुगति तन हूँहिं खीन, ऐसे राम नाम संगि रहै न लीन।
इक हूँहिं दीन एक देहि दांन, इक करै कलापी सुरा पांन।
इक तंत मंत ओषध बांन, इक सकल सिध राखै अपांन।
इक तीर्थ ब्रत करि काया जीति, ऐसे राम नाम सूं करै न प्रीति।”⁴⁷

5.2.1 अवतारवाद

मध्यकाल के सांस्कृतिक निर्माण में धार्मिक, पौराणिक, विचारों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। पौराणिक कथाओं, सत्संगों ने लोक-मानस को बहुत ही अधिक प्रभावित किया। वे पौराणिक विश्वासों के प्रति आस्थावान थे तथा इसमें अवतारवाद की भूमिका महत्वपूर्ण थी। सगुण भक्त कवियों ने विष्णु के अवतारों की विस्तृत विवेचना की है। पुराणों में त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) की चर्चा बार-बार होती है। इसका उल्लेख तुलसीदास जी करते हैं -

“नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरूपाधि अनूपा।
संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना।”⁴⁸

अर्थात् तुलसीदास जी ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उत्पत्ति किसी अन्य पुरुष से स्वीकारते हैं। वेद, पुराणों में इन तीन देवों के बाद तीन तरह के पुरुष की चर्चा है जिसे क्षर, अक्षर और अक्षरातीत या ‘परमपुरुष’ के रूप में जाना गया। इसका उल्लेख गीता में मिलता है -

“द्वविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयभविष्य बिभर्त्यत्यय ईश्वरः।”⁴⁹

अवतारवाद के पीछे एक धारणा यह भी काम करती है कि जब-जब संसार में अधर्म फैलेगा, दुष्टों की संख्या बढ़ेगी तब-तब ईश्वर अवतार लेंगे -

“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारता।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।”⁵⁰

उपर्युक्त विचारों का समर्थन तुलसीदास जी भी करते हैं -

“जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।

X X X X X X X X X

तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा।”⁵¹

सूरदास ने श्रीमद्भागवत के अनुसार असंख्य अवतार बतलाये हैं, लेकिन फिर भी सूरसागर के द्वितीय स्कंध के एक पद में उन्होंने अवतारों की संख्या चौबीस बतलायी है। सूरदास ने पहले दशावतारों की चर्चा की है और बाद में शेष चौदह की गणना की है -

“मच्छ कच्छ बाराह, बहुरि नरसिंह रूप धरि।

बामन, बहुरौ परसुराम, पुनि राम रूप करि।

बासुदेव सोइ भयौ, बुद्ध भयौ पुनि सोइ।

सोइ कल्पी होइहै, और न द्वितीया कोइ।

ये दस हरि-अवतार, कहे पुनि और चतुरदस।”⁵²

सगुण भक्त कवियों ने विष्णु के अवतार का उल्लेख सबसे अधिक किया है। उस समय सगुण भक्त कवियों के आराध्य राम और कृष्ण थे। तुलसीदास ने राम को विष्णु का अवतार, पारब्रह्म का अवतार तथा इसी प्रकार अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण को पूर्ण-ब्रह्म का अवतार माना है -

“बिष्णु जो सुर हित नरतनु धारी। सोउ सर्वग्य जथा त्रिपुरारी।”⁵³

“पूरन ब्रह्म, पुरान बखानैं। चतुरानन, सिव, अंत न जानैं।”⁵⁴

जायसी ने मत्स्य, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि अवतारों के पराक्रम का उल्लेख किया है। जायसी ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र के साथ तैंतीस करोड़ देवताओं का भी उल्लेख किया है -

“तैतिस कोटि देवता साजा। औ छयानवे मेघ दर गाजा।”⁵⁵

अन्य पौराणिक विश्वासों का उल्लेख मिलता है। जैसे- राम और कृष्ण के जन्म पर आकर देवताओं द्वारा स्तुति तथा फूलों की वर्षा करना, रावण और कंस के वध पर देवताओं का हर्ष मनाना, राहु द्वारा चन्द्रमा का ग्रसा जाना इत्यादि का उल्लेख है। पौराणिक पशु, पक्षियों में ऐरावत, उच्चैःश्रवा, कामधेनु, कल्पद्रुम, गरुड़, शेषनाग इत्यादि का उल्लेख प्राप्त होता है -

“ऐसी भांति जानकी देखी, चंद गह्यौ ज्यों राहु।”⁵⁶

“जेहि पंथ चला एरापति हाथी। अबहुं सो डगर गंगन महं आथी।”⁵⁷

समाज में ऐसा भी लोक विश्वास है कि सुंदर बालक को दूसरे द्वारा बुरी दृष्टि से देखने पर नजर लग जाया करती है। इसीलिए कृष्ण काव्य में यशोदा बालक कृष्ण का हमेशा ध्यान रखती हैं। उन्हें हमेशा खेलने के लिए बाहर जाने या आभूषण पहनाने में नजर लगने का डर लगा रहता है। बालक को नजर न लगे इस उद्देश्य से उसके माथे पर काजल का टीका लगाया जाता है। नजर लग जाने पर यशोदा नजर उतारती हैं जिसे ‘राई-लोन’ उतारना कहते हैं -

“खेलत मैं कोउ दीठि लगाई, लै-लै राई-लौन उतारति।”⁵⁸

5.2.2 शकुन-अपशकुन

शकुन-अपशकुन का वर्णन भक्तिकाव्य में खासकर राम कथा और कृष्ण कथा के विविध प्रसंगों में दिखायी पड़ता है। शकुन विचार भारतीय संस्कृति का हिस्सा रहा है और इसे महत्व भी दिया जाता रहा है। ऐसा विश्वास है कि शरीर और प्रकृति के कुछ कार्यों, व्यापारों जैसे- शरीर के विविध अंगों का फड़कना, स्वप्न देखना, विशेष पशु पक्षियों का दिखायी देना या उनकी बोली सुनायी पड़ना इत्यादि से मनुष्य को आगामी सुख-दुख की पूर्व सूचना मिल जाती है। पुरुषों के दाहिने अंगों और स्त्रियों के वामांगों का फड़कना शकुन-सूचक माना जाता है। तुलसीदास जी ने भरत का दाहिना तथा सीता जी का वाम भाग फड़कने की बात कही है -

“भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार।

जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचारा।”⁵⁹

“फरकत मंगल अंग सिय, बाम बिलोचन बाहु।”⁶⁰

इन शकुन-अपशकुनों के पीछे चिर-पुरातन विश्वास काम करता है। छींक होना, बिल्ली का रास्ता काटना, बायें दिशा में काग का बोलना इत्यादि अपशकुन सूचक माना गया है। कृष्ण के यमुना में कूदते ही यशोदा को अनेक प्रकार के अपशकुनों का सामना करना पड़ता है -

“जसुमति चली रसोई भीतर, तबहिं ग्वालि इक छींकी।

ठठकि रहि द्वारे पर ठाढ़ी, बात नहीं कछु नीकी।

बाएं काग, दाहिनैं खर-स्वर, व्याकुल घर फिरि आइ।

खन भीतर, खन बाहिर आवति, खन आंगन इहिं भांति।”⁶¹

श्रीरामचरितमानस तथा सूरसागर में दाहिनी ओर से दौड़कर निकलने वाले मृगों को शकुन माना गया है। काग को लेकर भी बहुत सारे शकुन-सूचक अंश देखने को मिलते हैं। आँगन में कौवे का बोलकर उड़ जाना प्रियतम या आत्मीयजन के आगमन का सूचक माना जाता है। पुत्रों के मिलन की सूचना देने वाले कौवे की चोंच एवं पंख दोनों ही कौशल्या सोने से मढ़वाने की बात कहती हैं-

“अब कै जौ परचो करि पावौं, अरु देखौं भरि आंखि।

सूरदास सोने कै पानी मढ़ौ चौंच अरु पांखी।”⁶²

इनसे पूर्व विद्यापति की नायिका कह चुकी थी-

‘मोरा रे अँगनवाँ चंदन केरा गछिया, ताहि चढ़ि कुड़ै काग रे।

सोना चोंच मढ़ाएब बायस जौं पिय आवत आज रे॥’

5.2.3 स्वप्न

भारतीय समाज में स्वप्न को शुभ-अशुभ का परिचायक माना जाता है। लोक जीवन में इन स्वप्नों को सुख-सूचक, अनिष्ट-सूचक तथा भावी गतिविधियों से जोड़कर देखा जाता है। जायसी पद्मावत में कहते हैं कि जिसका मन जिस कार्य में लग जाता है उसे स्वप्न में भी वही दिखायी पड़ता है-

“जेहि धंधा जाकर मन लागै सपनेहु सुझू सो धंधा।”⁶³

मानस में पार्वती शिव मिलन से पूर्व सुन्दर स्वप्न देखती है। अशोक वाटिका में सीता जब राम के विरह में अत्यंत दुखी होती हैं और अपनी मुक्ति के संबंध में निराश-सी हो जाती हैं, तभी उनका हित चाहने वाली राक्षसी त्रिजटा भोर के समय में सपना देखती हैं जिसमें राम और उनकी वानरी सेना लंका पर विजय प्राप्त करते दिखायी पड़ते हैं -

“सबन्हौ बोली सुनाएसि सपना। सीतहि सेइ करहु हित अपना।

सपनें बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी।”⁶⁴

भक्तिकाव्य में अनिष्ट-सूचक स्वप्नों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे- कैकेयी राम के राजतिलक से पहले प्रतिदिन बुरे सपने देखती है। भरत भी रामवनवास और पिता की मृत्यु से पूर्व अनेक दुःस्वप्न देखते हैं -

“देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कल्पना।”⁶⁵

कालीदह में कूदने से पूर्व कृष्ण, यशोदा और नंद दुःस्वप्न देखते हैं। अनिष्ट-सूचक स्वप्न का एक उदाहरण कृष्ण के मथुरागमन प्रसंग में मिलता है। बलराम और कृष्ण को बुलाने के लिए इधर कंस अक्रूर को भेजता है और उधर नंद को स्वप्न दिखायी पड़ता है कि बलराम और कृष्ण कहीं खो गये हैं। ग्वाल-बाल भी स्वप्न में देखते हैं कि बाल सखा कृष्ण को कोई दूत ठग कर ले जा रहा है -

उत नंदहिं सपनौ भयौ, हरि कहूं हिराने।

बलमोहन कोउ लै गयौ, सुनि कै बिलखाने।”⁶⁶

उधर कंस को भी इसी अवसर पर अनिष्ट-सूचक स्वप्न दिखायी पड़ता है। वह दोनों बालकों को काल के समान सामने खड़ा देख भयभीत होकर जाग जाता है।

5.2.4 टोना-टोटका या तंत्र-मंत्र

भारतीय समाज में ही नहीं अपितु दुनिया के लगभग प्रत्येक समाज में आदिम प्रवृत्तियों के अवशेष मौजूद हैं। प्राचीन काल से ही जादू, टोना, मंत्र इत्यादि का प्रचलन रहा है। इस संदर्भ में कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं कि-

“लोक जीवन में जादू, जन्तर (जंत्र), मन्त्र (मंत्र), टोना और टोटका का बड़ा महत्व है। जादू, टोना और टोटका की परम्परा बड़ी प्राचीन ज्ञात होती है। अथर्ववेद को इन विषयों का विश्वकोश ही समझना चाहिए। इस वेद में जादू करने की अनेक विधियों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। इससे ज्ञात होता है यह विधा कितनी प्राचीन है। अथर्ववेद में इसे यातु विधा कहा गया है।”⁶⁷

मध्यकालीन कवियों ने टोना-टोटका, झाड़-फूंक, जंत्र-मंत्र इत्यादि का यदा-कदा उल्लेख किया है। तुलसीदास जी राम के दूध नहीं पीने पर कौशल्या द्वारा झाड़-फूंक कराने का उल्लेख करते हैं। सूरसागर में झाड़-फूंक द्वारा सर्प का विष उतारने की बात कही गयी है। सूरदास जी ने एक अन्य पद में जादू-टोना का भी उल्लेख किया है-

“कहूं राधिका कारैं खाई, जाहु न आवौ झारि।

जंत्र मंत्र कछु जानत हौ तुम, सूर स्याम बनवारि।”⁶⁸

“टोना टामनि जंत्र मंत्र करि, ध्यायौ देव दुआरौ री।”⁶⁹

जायसी ने भी पदमावत में जादू-टोना इत्यादि का उल्लेख कई प्रसंगों में किया है। ‘नागमती संदेश खंड’ में नागमती ने लोना चमारिन द्वारा जादू के प्रभाव से योगी रतनसेन को छलने का संशय व्यक्त किया है। इसी प्रकार देवपाल की दूती जादू-टोने के बल से देवों को मोहित करती है। वह दूती मंत्र पढ़कर जादू करने में सिद्धहस्त है -

“तूं कांवरु परा बस लोना। भूला जोग छरा जनु टोना।”⁷⁰

“आइ कमोदिनि चितउर चढ़ी। जोहन मोहन पाढ़ित पढी।”⁷¹

तंत्र-मंत्र की सिद्धि के लिए राघव-चेतन यक्षिणी की पूजा करता था तथा वह उसके चाहने पर किसी भी वस्तु का दूसरा रूप दिखा देती थी -

“राघौ करत जाखिनी पूजा। चहत सो रूप देखावत दूजा।”⁷²

5.2.5 भाग्यवाद

भारतीय समाज कर्मवादी के साथ-साथ भाग्यवादी रहा है। उनका विश्वास है कि सृष्टि का अधिकांश कार्य पूर्व-निर्धारित भाग्य-विधान के अनुसार होता है। मानव-जीवन के अंतर्गत घटित होने

वाली अप्रत्याशित घटनायें उसके भाग्यवादी चिंतन को पुष्ट करती रही हैं। भाग्यवाद के दो महत्वपूर्ण बातों को डॉ. मायारानी टंडन रेखांकित करती हैं - “भाग्यवाद के प्रति आस्था रखने के मूल में दो उपयोगी भाव हैं। पहली बात तो यह है कि किसी कार्य या योजना में सफल होने पर व्यक्ति उस सफलता को भाग्य की देन समझता है, उसका श्रेय स्वयं न लेने से वह उस गर्व से बचा रहता है, जो उसके परमाराध्य को जरा भी नहीं भाता। दूसरी बात यह है कि योजना के पूरी न होने पर असफलता की स्थिति में हृदय पर जो भयंकर आघात होता है, उसको किसी सीमा तक सहन करने की शक्ति भी भाग्यवाद पर विश्वास से मिलती है जिसके फलस्वरूप मानवीय ही नहीं, दैवी आपत्तियाँ तक व्यक्ति सहज ही सहन कर लेता है।”⁷³

भाग्यवाद के अनुसार मानव जीवन के सुख-दुख, लाभ-हानि तथा यश-अपयश के लिए मनुष्य उत्तरदायी नहीं है क्योंकि वह मात्र भोक्ता होता है। दशरथ की मृत्यु पर बसिष्ठ मुनि भरत को धीरज बंधाते हुए कहते हैं -

“सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।

हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ।”⁷⁴

भक्त कवियों ने भाग्यवाद के माध्यम से ईश्वर की अपरिमित सामर्थ्य और शक्ति के प्रति अपनी आस्था को व्यक्त किया है। सूरदास के अनुसार संसार में वही होता है जो भगवान् कृष्ण चाहते हैं। सुख-दुख, लाभ-हानि सब कुछ उन्हीं की देन है। ईश्वर की इच्छा के विपरीत कार्य करने से मनुष्य के उद्यम व्यर्थ सिद्ध होते हैं -

“करी गोपाल की सब होइ।

जो अपनी पुरुषारथ मानत, अति झूठै है सोइ।

साधन, मंत्र, जंत्र, उधम, बल, ये सब डारौ धोइ।

जो कछु लिखि राखी नंद नंदन, मेटि सकै नहिं कोइ।

दुख-सुख, लाभ-अलाभ, समुझि तुम, कतहिं मरत हों रोइ।”⁷⁵

सगुण भक्त कवियों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का भाग्य उसके कर्म के साथ लगा होता है। अपने-अपने भाग्य के अनुसार उसे कर्म-फल की प्राप्ति होती है। सिद्ध, साधक, मुनि आदि भी ईश्वर द्वारा सुनिश्चित कार्य को घटा-बढ़ा नहीं सकते। पिता की मृत्यु से दुखी अंगद को समझाते हुए राम यही कहते हैं कि विधि के विधान को कोई टाल नहीं सकता। सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों का विश्वास था कि भाग्यफल सर्वोपरि होता है -

“कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलारा।

देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार।”⁷⁶

सूफी और संत कवियों ने भी भाग्यवाद का समर्थन किया है। यहाँ तक कि कबीर जो कि आँखन देखी में विश्वास करते थे, वे भी भाग्यवाद की बात करते हैं -

“करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ।

मासा घट न तिल बधै, जौ कोटिक करै उपाइ।”⁷⁷

जायसी का मानना है कि वह विधाता ही सारे जीवों को भोजन प्रदान करता है। उसी की कृपा से युद्ध में विजय प्राप्त होती है। वह प्रतिकूल को अनुकूल बना देता है। वही ज्ञानेद्रियों को शक्ति प्रदान करता है। मनुष्य के संकल्पों के बावजूद भी वही होता है जो विधाता ने लिखा है -

“जस ऊखा कहं अनुरुध मिला। मेंटि जाइ न लिखा पुरुबिला।”⁷⁸

5.2.6 कर्मवाद या कर्मफल

भारतीय चिंतन में ऐसी मान्यता है कि जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल मिलता है। आज की तरह मध्ययुगीन समाज में भी लोगों में यह विश्वास था कि जो जैसा बोयेगा, वैसा ही काटेगा। बबूल बोकर दाख की आशा करना निरर्थक है।

“जैसोइ बोइए तैसोइ लुनिऐ, कर्म न भोग अभागे।

X X X X X X X

बोवत बबुर दाख फल चाहत, जोवत है फल लागे।”⁷⁹

भारतीय पुराणों- शास्त्रों के अनुसार मनुष्य द्वारा पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों का फल अगले जन्म में मिलता है। अर्थात् मनुष्य अपने किए हुए कर्मों का फल भोगने के लिए विभिन्न योनियों में जन्म लेता रहता है। सभी सगुण भक्त कवि कर्म में विश्वास रखते हैं -

“करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा।”⁸⁰

“करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सबु कोई।”⁸¹

किसी विपत्ति के समय मनुष्य पुण्य कर्मों के क्षीण हो जाने तथा पापों के उदय होने की बात स्वीकार करने लगता है। कंस जब बलराम और कृष्ण को लाने के लिए अक्रूर को भेजता है तब विलाप करती हुई यशोदा अपने पूर्व कर्मों के टेढ़े हो जाने या पापों के उदय होने की बात कहती हैं -

“तिरछे भए करम कृत पहिले, बिधि यह ठाट बनायौ।”⁸²

कर्मवाद में विश्वास रखने वाला व्यक्ति यह मान लेता है कि अच्छे-बुरे कर्मों का फल उसे स्वयं भोगना पड़ेगा। इसे बाँटा नहीं जा सकता। सूरदास जी कहते हैं कि पिछले पापों का फल स्वयं भोगने के पश्चात अपने भावी कर्म को सुधारने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए -

“पछिले कर्म सम्हारत नाहीं, करत नहीं कछु आगे।”⁸³

जायसी भी कर्मफल में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार जो व्यक्ति बबूल बोता है उसे धान की प्राप्ति असंभव है -

“कौन उतर का करब बहाना। बोवै बबुर लवै कित धाना।”⁸⁴

5.2.7 पुनर्जन्मवाद

भाग्यवाद और कर्मवाद के साथ ही हिन्दू-समाज की तीसरी बड़ी मान्यता पुनर्जन्म की है। हमारे यहाँ चौरासी लाख योनियाँ मानी गयी हैं जिनमें अपने कर्मानुसार भटकने के बाद सर्वश्रेष्ठ मानव-योनि की प्राप्ति होती है। तुलसीदास जी ने दशरथ, कौशल्या, पार्वती, काग भुशुण्डि आदि के पूर्व-जन्मों की चर्चा की है तथा कई पदों में अपने स्वयं के अनेक जन्मों में दुःख भोगने की बात कही है -

जम-जातना, जोनि-संकट सब सहे दुसह अरु सहिहौं।”⁸⁵

तुलसीदास जी के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार अनेक योनियों में जन्म लेता है। गुरु की निंदा करने वाला मेंढक, ब्राह्मण की निंदा करने वाला कौआ, देवता की निंदा करने वाला नरक में, सन्तों को गाली देने वाला उल्लू और प्रत्येक व्यक्ति को कोसने वाला चमगादड़ की योनि में जन्म लेता है -

“हर गुर निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तन सोई।
द्विज निंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमइ बायस सरीर धरि।
सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी।
होहिं उलूक संत निंदा रत। मोह निसा प्रिय ग्यान भानु गत।
सब कै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहिं।”⁸⁶

पुनर्जन्म के प्रति विश्वास अष्टछाप के कवियों तथा मीराबाई में भी है -

“पर निंदा रसना के रस करि, केतिक जनम बिगोए।”⁸⁷

“जणम जणम री खतां पुराणी, णाम स्याम भरया री।”⁸⁸

जायसी ने भी पूर्वजन्म के कर्मों ‘मेटि न जाइ लिखा पुरुबिला’ की ओर संकेत किया है। अठारह सहस्र योनियों, पूर्वजन्म के ज्ञान, लोक-परलोक आदि धारणाओं का उल्लेख करके जायसी ने अपनी पूर्वजन्म-विषयक मान्यताओं को उजागर किया है -

“सहस अठारह दुनिया सेरी। आवत जात जातरा फेरी।”⁸⁹

5.2.8 ज्योतिष विचार

भारतीय समाज ज्योतिष शास्त्र में पहले से ही विश्वास करता रहा है। किसी भी शुभ कार्य को आरंभ करने से पहले ज्योतिषी या ब्राह्मण को बुलाकर शुभ मुहूर्त जानने का प्रयत्न भारतीय समाज में हमेशा रहा है। सूरदास जी ने कृष्ण के अन्नप्राशन के अवसर पर शुभ दिन सोधे-विचारे जाने का जो उल्लेख किया है, वह इसी विश्वास का परिचायक है -

“बिप्र बुलाइ नाम लै बूझ्यौ, रासि सोधि इक सुदिन धर्यौ।

आछौ दिन सुनि महरि जसोदा, सखिनि बोलि सुभ गान कर्यौ।”⁹⁰

ज्योतिषियों द्वारा हाथ या हस्तरेखा देखने का वर्णन मिलता है। ज्योतिष हस्तरेखाओं को पढ़कर लोगों का भाग्य बताते हैं। श्रीरामचरितमानस में नारद मुनि पार्वती की हस्तरेखा को देखकर उनके भावी पति के गुण-अवगुणों का उल्लेख करते हैं-

“जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल बेष।

अस स्वामी एहि कहं मिलिहि परी हस्त असि रेख।”⁹¹

विद्यापति के व्यंग्यात्मक वर्णन में गीत की ‘जटिला’ नामक सास अपने बहू का हाथ योगी से दिखाती हैं -

“सुनि कह जटिला घटक की अकुसल, घर सएं बाहर होहि।

बहुरिक पानि धरि हरह जोगी, किए अकुसल कह मोहि।”⁹²

5.2.9 कवि-प्रसिद्धियाँ

कवियों के यहाँ कुछ विश्वास पहले से परम्परागत रूप से प्रचलित रहे हैं जिनकी सत्यता के शोधन की आवश्यकता कवि समुदाय या लोक आवश्यक नहीं समझता। यहाँ कुछ असंगत बातों का वर्णन भी कवि-समुदाय अनुचित नहीं मानता अर्थात् कवियों में परम्परागत रूप से प्रचलित सभी प्रकार के विश्वास कवि-प्रसिद्धि अथवा कवि-समय कहलाते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ‘हिंदी साहित्य की भूमिका’ में विविध काव्य-प्रसिद्धियों का उल्लेख किया है। कवि-समय के संबंध में उनकी टिप्पणी महत्वपूर्ण है - “लोक और शास्त्र-विरोधी वे ही बातें कवि-समय के अंतर्गत आती हैं, जिन्हें प्राचीन काल के पंडित सहस्रशाख वेदों का अवगाहन करके, शास्त्रों का अवबोध करके, देशांतर और द्वीपांतर का परिभ्रमण करके निश्चित कर गए हैं। देश-कालवश उनका व्यतिक्रम हो भी गया हो तो उन्हें अस्वीकार नहीं करना चाहिए।”⁹³

भक्तिकाव्य में मुख्य रूप से पशु, पक्षी, कीट-पतंग, पुष्प, नक्षत्र इत्यादि से संबंधित कवि प्रसिद्धियाँ मिलती हैं जो भक्तिकाव्य को और अधिक लोक और प्रकृति सापेक्ष बनाती है।

कवियों में यह विश्वास प्रसिद्ध रहा है कि हाथी के मरने पर उसके मस्तक से एक प्रकार का मोती या मणि निकलता है। जायसी ने सिंहलद्वीप के बाजार में आने वाले 'गजमोती' का उल्लेख किया है।

“हहिं गजमोंति भरीं सब सीपी। औरु बस्तु बहु सिंघल दीपी।”⁹⁴

भक्तिकाव्य में पक्षियों से संबंधित काव्य प्रसिद्धियाँ पर्याप्त दिखायी पड़ती हैं। जैसे- चकई-चकवे का दिन में मिलन और रात में वियोग होना, चकोर और चकोरी का एकटक चन्द्रमा की ओर देखना तथा अंगार या उसकी चिनगारी चुँगना इत्यादि -

“चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहां न प्रेम-बियोग।

जहं भ्रम-निसा होति नहिं कबहुं, सोइ सायर सुख जोग।”⁹⁵

चातक या पपीहे द्वारा स्वाति-नक्षत्र का जल ग्रहण करना, मानसरोवर में हंसों द्वारा मोती चुगना तथा नीर-क्षीर-विवेकी होना, सुए का पत्रवाहक होना तथा ककनू द्वारा चिता सजाकर उसमें जलने आदि पक्षी संबंधी काव्य प्रसिद्धियाँ देख सकते हैं -

“चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि।

प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि।”⁹⁶

“ओहि रक्त लिखि दीन्ही पाती। सुवा जो लीन्ह चोंच भै राती।”⁹⁷

स्वाति-नक्षत्र में बरसने वाले जल की बूंदों के विषय में यह विश्वास है कि वह समुद्र में गिरने पर खारा जल, सीप में गिरने पर मोती, पृथ्वी पर गिरने से कचूर, केले में गिरने से कपूर, मेरु पर गिरने से अमृत तथा नाग के मुख में गिरने से विष हो जाती है। एक ही वस्तु पात्र-भेद से अलग-अलग गुण धारण कर लेती है -

“जोगिन्ह बहुतै छंद ओराहीं। बूंद सेवातिहि जैस पराहीं।

पै समुंद्र खार जल ओहीं। पै सीप मुंह मोंती होहीं।

पै पुहमी पर होइ कचूरू। पै केदली महं होइ कपूरू।

पै मेरु पर अंब्रित होई। पै नाग मुख बिख होइ सोई।”⁹⁸

लोक विश्वासों, मान्यताओं में केवल परंपरा की स्वस्थ धारा ही प्रवाहित नहीं होती अपितु साथ में उसकी रूढ़ियाँ भी प्रवाहित होती हैं। भक्त एवं संत कवियों ने इन रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा बाह्याडम्बरो का विरोध किया। भक्तिकाल में भक्ति और आध्यात्म के नाम पर कर्मकाण्ड और अपने-अपने साम्प्रदायिक श्रेष्ठता का बोलबाला अधिक दिखायी पड़ने लगा था। कबीर तत्कालीन कर्मकांड की विविधता का उल्लेख करते हैं -

“इक तंत मंत ओषध बांन, इक सकल सिध राखै अपांन।

इक तीर्थ ब्रत करि काया जीति, ऐसै राम नाम सूं करै न प्रीति।”⁹⁹

अर्थात् सब कुछ होने के बावजूद मनुष्य राम नाम या आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से दूर था। तत्कालीन धर्म, साधनाएँ दिखावा मात्र या कर्मकाण्ड में इतनी उलझी हुई थीं कि आध्यात्म की मूल चेतना तिरोहित हो गयी थी। तुलसीदास जी इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि-

“मारग सोइ जा कहुं जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।

मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुं संत कहइ सब कोई।”¹⁰⁰

इन कवियों ने धर्म के नाम पर हो रहे प्रदर्शन और कर्मकांड की जगह आंतरिक शुद्धता, सच्चे आचरण और मानसिक सबलता पर जोर दिया। इन्होंने अंधविश्वास की जगह अनुभव सत्य की बात की-

“जहं अन्ध विस्वास है, सत्त परख तंह नांही।

रैदास सत्त सोई जानि है, जो अनभउ होइ मनमाहिं।”¹⁰¹

संत कवि परम्परागत शास्त्रीय ज्ञान की जगह जीवन की सहजता और अनुभूति को अधिक महत्व देते थे। संतों की भक्ति-भावना में कर्मकांड की जगह हृदय और मन की सूक्ष्मता अधिक स्थान पाती है। पुरुषोत्तम अग्रवाल का कथन है कि- “तुलसीदास ‘भक्ति बेद प्रकाश’ के साधक थे, लेकिन कबीर की साधना ‘वेद-कतेब’ दोनों के डोंग्रा से स्वायत्त, अनुभव और विवेक पर आधारित भक्ति की थी।”¹⁰²

कबीर में अनुभूतिजन्य विवेक अद्भुत था। कबीर में अनुभूति की जमीन इतनी पकी हुई है कि नाथों, सिद्धों के योग और हठ साधना से प्रभावित होने के बावजूद भी उनकी कविताओं में लोक तत्व की गंध हमेशा बनी रही। कबीर परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले मूल्यों पर साथ-साथ बहस करते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कबीर के संदर्भ में लिखते हैं कि - “ऐसे थे कबीर। सिर से पैर तक मस्त-मौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचंड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीया। वे जो कुछ कहते थे अनुभव के आधार पर कहते थे, इसीलिए उनकी उक्तियाँ बेधने वाली और व्यंग्य चोट करने वाले होते थे।”¹⁰³

कबीर या संतों का चिंतन प्रकृतिपरक था। वे कहीं भी प्रकृति से जुड़े मानवीय संबंधों को नकारते नहीं हैं। लोक जीवन का भी सीधा संबंध प्रकृति से होता है। कबीर वृक्ष की उपयोगिता के संदर्भ में कहते हैं -

“तरवर तास बिलंबिए, बारह मास फलंत।

सीतल छाया गहर फल, पंषी केलि करंत।”¹⁰⁴

संतों का विरोध प्रकृति के उपादानों जैसे वृक्ष, नदी, पहाड़ इत्यादि से नहीं था बल्कि उनका विरोध इन्हें लेकर हो रहे कर्मकाण्डों, बाह्याडम्बरों से था। तीर्थस्थानों से पाप धुलने की अवधारणा पर संतों ने व्यंग्य किया -

“मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांणि।”¹⁰⁵

संतों ने जिस प्रकार मनुष्यों की समानता, एकता को सत्य माना उसी प्रकार प्रकृति एवं खासकर नदियों को भी समान रूप से उपयोगी माना। कबीर के लिए मगहर और काशी में कोई अंतर नहीं है -

“जैसा मगहर तैसा कासी हम एकै करि जानी।”¹⁰⁶

संतों ने अपनी रचनाओं में लोक विश्वासों में व्याप्त धार्मिक रूढ़ियों का विरोध कर एक स्वस्थ समतामूलक सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति की है।

5.3 लोक कलाएँ

भारतीय इतिहास में कलाओं की भूमिका प्राचीन और महत्वपूर्ण रही है। कबीलाई समाज हो या मोहनजोदड़ो की सभ्यता- प्रत्येक समय में 'कला' अपने अलग-अलग रूपों में मौजूद रही है। यदि उपयोगी कलाओं को छोड़कर ललित कलाओं को देखें तो उसकी प्रकृति सौंदर्यजनित होती है जो मनुष्य को अनुरंजित करती रहती है। उपयोगी कलाओं से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा ललित कलाओं से उसे आंतरिक आनन्द की प्राप्ति होती है। दोनों का संबंध मानवीय जीवन से है, लेकिन उसी कला को श्रेष्ठ माना जा सकता है जो मनुष्य के पूर्ण विकास में सहायक हो। इस संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि- “उद्देश्य ही वस्तु को छोटा या बड़ा बनाता है। कला के नाम पर हमें जो वस्तु दी जाए उसमें भी यही विचार्य है कि क्या वह जीवन को ऊँचा उठा रही है। कला के भाव पक्ष या कला पक्ष की बारीकियों की जानकारी आवश्यक है, पर मूल प्रश्न यह है कि जो वस्तु हमें कला के नाम पर दी जा रही है वह हमारे भीतर मानवोचित गुणों को उदबुद्ध करती है या नहीं जो वस्तु हमारी मनुष्यता को उदबुद्ध नहीं करती वह कला हो नहीं सकती।”¹⁰⁷

मनुष्य की प्रवृत्ति अनुकृतिमूलक होती है। कला का संबंध जितना बाह्य प्रकृति से है उतना ही मनुष्य की आंतरिक प्रकृति से भी है। एक प्रकार से कला मानवीय अनुभूति की रूपात्मक, चित्रात्मक, भावात्मक एवं संगीतात्मक अभिव्यक्ति होती है। 'कला' के संदर्भ में नीहार रंजन राय का विचार है कि-

“कला मनुष्य के अपने स्वत्व को सुसंस्कृत करने का एक साधन है। ... कला उन साधनों में से एक है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी इंद्रियों और संवेदनशक्ति, भावनाओं और संवेगों को तथा विचारों और सिद्धांतों, तथ्यों और वस्तुओं, घटनाओं और स्थितियों आदि के प्रति अपनी बोध दृष्टि (परसैप्शंस) और अनुक्रियाओं को संयमित, पवित्र, तीक्ष्ण और परिष्कृत करता है।”¹⁰⁸

साहित्य के क्षेत्र में भी प्राचीन समय से ही साहित्य के साथ-साथ संगीत और कला की भूमिका सर्वमान्य रही है। भर्तृहरि 'नीतिशतकम्' में कहते हैं -

“साहित्यसङ्गीत कलाविहीनः

साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः”¹⁰⁹

अर्थात् जो मनुष्य साहित्य, संगीत और कलाओं से अनभिज्ञ है, वह बिना पूँछ और सींग का पशु ही है। मध्यकालीन कवियों ने अपने काव्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से विविध कलाओं का उल्लेख किया है। जैसे- वास्तु कला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला इत्यादि।

5.3.1 वास्तु कला

भक्तिकाल या मध्यकाल में वास्तु कला अपनी उन्नत अवस्था में थी। मुसलमान शासक मूर्तिविरोधी होने के बाजवूद वास्तुकला में विशेष अभिरुचि रखते थे। भक्त कवियों ने भक्ति या आराध्य की उपासना के प्रवाह में वास्तुकला का उल्लेख यदा-कदा किया है। इन कवियों ने अयोध्या, लंका, वृंदावन, द्वारिका आदि का वर्णन करते हुए वहाँ की वास्तुकला का वर्णन किया है। तुलसीदास जी श्रीरामचरितमानस में अयोध्या का वर्णन करते हुए बताते हैं कि वहाँ की अटारियाँ स्वर्ण और रत्नों से बनी हुई हैं, उनमें अनेक रंगों की फर्शें लगी हैं। नगर के चारों ओर अत्यंत सुन्दर परकोटा बना है जिस पर सुंदर रंग-बिरंगे कंगूरे हैं। उज्ज्वल महल आकाश को चूमते हैं। महलों पर लगे कलश अपने दिव्य प्रकाश से सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश को भी मात देते हैं। मणियों से सजी हुई सोने की दीवारें हैं-

“जात रूप मनि रचित अटारीं। नाना रंग रुचिर गच ढारीं।

पुर चहुं पास कोट अति सुंदर। रचे कंगूरा रंग रंग बरा”¹¹⁰

सूरदास जी द्वारिका का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वहाँ मणियों से मंदिर बने हुए हैं जिनमें स्फटिक और सोने की पच्चीकारी की गई है। इधर-उधर नर नारियों, मछलियों तथा पक्षियों के प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ते हैं। जल और थल को दिखाने के लिए अनेक प्रकार के विचित्र रंगों का प्रयोग किया गया है जिन्हें देखने से आनंद मिलता है -

“दिन द्वारावति देखन आवत।

विद्रुम फटिक पची कंचन खचि, मनि मय मंदिर बने बनावत।

जितै तितै नर नारि मीन खग, सबहिनि के प्रतिबिंब दिखावत।

जल थल रंग बिचित्र बहुत बिधि, अवलोकत आनंद बढ़ावत।”¹¹¹

जायसी ने पदमावत में दिल्ली, चित्तौड़गढ़ तथा सिंघलगढ़ के ऐश्वर्य के साथ उनके महलों का भी वर्णन किया है। जायसी ने दिल्ली नगर का उल्लेख शाह अलाउद्दीन की राजधानी तथा ऐतिहासिक नगरी के रूप में किया है। ‘राघवचेतन दिल्ली गमन खण्ड’ में दिल्ली की विशिष्टता का वर्णन राघव करता है -

“ढीली नगर आदि तुरूकानू साहि अलाउद्दीन सुलतानू

सोन जैरे जेहि की टकसारा। बारह बानी परहि दिनारा।”¹¹²

‘चित्तौड़गढ़ वर्णन खंड’ में जायसी ने गढ़ की सात पौरियों तथा उनमें बने हुए बाँकों का वर्णन किया है जो पहाड़ को गढ़कर बनाए गए थे। सातों पौरियों में सोने के किवाड़ लगे हुए थे। इसी खण्ड में पदमावत के महल का वर्णन है। पदमावत का महल सोने तथा रत्नों से जड़ित है। रानी का धवल गृह शाह को स्वर्ग-सा प्रतीत होता है -

“कनक संवारि नगन्हि सब जरा। गंगन चांद जनु नखतन्ह भरा।”¹¹³

सिंहलनगर के ऊँचे द्वार तथा उनके आगे बने हुए सुगंधित द्रव्यों से पोते गए चबूतरे, नाना स्तम्भों से सुसज्जित चौपालें, हाट-बाजार - कनकहाट, श्रृंगारहाट, गंधहाट इत्यादि तथा स्वच्छ राजमार्गादि मध्यकालीन वास्तु शिल्प के नमूने हैं -

“कनक हाट सब कुंहकुंह लीपी। बैठ महाजन सिंघल दीपी।”¹¹⁴

प्राचीन काल से ही भारत में मंदिरों के स्थापत्य का महत्व रहा है। यही कारण है कि हमारे प्राचीन साहित्य- वेद-शास्त्र, वीरकाव्य, जातक, पुराणादि में मंदिरों का उल्लेख मिलता है। पदमावत में जायसी ने मढ़-मंडप, देवमढ़, महादेव मढ़ आदि का उल्लेख किया है। इनका स्थापत्य अलग-अलग सम्प्रदायों की मान्यताओं के अनुसार थोड़ा-सा भिन्न होता था। ‘सिंघलद्वीप खंड’ में सर्वाधिक उल्लेख महादेव के मढ़-मंडप का हुआ है। सिंहल में श्री पंचमी के दिन शिवपूजन के अनुष्ठान के लिए गढ़ के भीतर निर्मित मंडप का द्वार सार्वजनिक रूप से खुलता था -

“कंचन मेरु देखावसि जहां। महादेव कर मंडप तहां।”¹¹⁵

हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक सम्मिश्रण के बाद वास्तुकला का जो विकास हुआ, उसके अनुसार भक्तिकाल के वास्तु निर्माण में गुंबज, ऊँची मीनारें, मेहराब और तहखाने इत्यादि बनने की विशेषताएँ आ गईं। मध्यकाल में स्थापत्य कला का पूर्ण विकास दिखायी पड़ता है। उन स्थापत्यों के नमूने आज भी विभिन्न मंदिरों एवं किलों में अवशेष रूप में दिखायी पड़ते हैं।

5.3.2 मूर्तिकला

मूर्तिकला प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। मूर्ति बनाने वाला कलाकार पत्थर के टुकड़ों के अनगढ़ रूप को अपनी छेनी की चोट और भावना की दृष्टि से सुरूप प्रदान करता है। उसे जीवंत स्वरूप देता है। मिट्टी की भी मूर्तियाँ गढ़ी जाती रही हैं। मूर्तिकला के संदर्भ में भगवतशरण उपाध्याय लिखते हैं कि- “संसार में मूर्ति का प्रतीक जितना शक्तिशाली रहा है उतना अन्य कोई प्रतीक नहीं। त्रास और कुतूहल से भगवान और धर्म का उदय हुआ परंतु उनसे बहुत पूर्व मूर्ति की काया सज गयी थी। भारत ने मूर्तिकला को विज्ञान का पद प्रदान किया है। सौंदर्य, समाधि, कल्पना और भाव बोधकता में उसका किसी अन्य देश की कला समता कर सकती है, यह कहना आसान नहीं है। अन्य कलाओं में सौंदर्य की कमी नहीं, व्यंजना की भी असीम क्षमता है, व्यापक प्रभाव की भी वह धनी है पर ये सारी प्रवृत्तियाँ एकत्र कम मिलती हैं, इस मात्रा में तो कहीं नहीं जिस मात्रा में यहाँ मिलती हैं। और सचेत ज्ञान से हो अथवा छवि के आकर्षक से भारत ने मूर्ति का त्याग नहीं किया, विपत्तियों के बाजवूदा।”¹¹⁶

भारतीय धर्म साधना और विशेषकर मध्यकालीन सगुण भक्ति साधना में मूर्ति पूजा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है क्योंकि अवतारवाद ने ब्रह्म को न केवल ईश्वर रूप में स्वीकार किया बल्कि उसे एक सांस्कृतिक मनुष्य के रूप में भी प्रस्तुत किया। तुलसीदास जी ने श्री रामचरितमानस में राम विवाह के अवसर पर मंडप का चित्र प्रस्तुत किया है। उन्होंने इस मांगलिक अवसर पर द्वार पर खड़े विविध देव प्रतिमाओं, नागवल्ली, कल्पलता को उनकी कलाकृतियों के साथ अंकित किया है -

“हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल।

रचना देखि बिचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल।

X X X X X X X

सुर प्रतिमा खंभन गढ़ि काढ़ी। मंगल द्रब्य लिए सब ठाढ़ी।”¹¹⁷

अष्टछाप कवियों के समय में मथुरा की मूर्तिकला का एक उत्कृष्ट स्वरूप उभर चुका था। देवी, देवताओं का वर्णन तथा श्रीकृष्ण, राधा आदि की विविध क्रीड़ाओं तथा भाव-भंगिमाओं का सजीव अंकन उस युग की मूर्ति कला की एक ऐसी विशेषता है जो आज तक प्रभावित और मुग्ध करती है। अष्टछाप काव्य में मूर्ति वर्णन यदा-कदा मिलता है। जैसे -

“पाहन पूतरी भई, बैन न बदति और जरति महान्तै।”¹¹⁸

संतों ने मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए मूर्ति कला का उल्लेख किया है -

“लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपारा

पूजि पुजारी ले गया, दे मूरति कै मूहिं छारा।”¹¹⁹

मूर्तिकला के संबंध में जायसी ने सिंहल के शिवमंदिर में पदमावती द्वारा देवमूर्ति को सिंदूर का टीका लगाने तथा उसकी चरण वंदना का उल्लेख किया है। उन्होंने सिंहल के राज मंदिर के द्वार पर सिंहों की पत्थर की मूर्तियाँ तथा चित्तौड़ के अन्तःपुर में शार्दूलों की मूर्तियों का भी उल्लेख किया है -

“पंवरिहि पंवरि सिंघ गढ़ि काढ़े। डरपहिं राय देखि तेन्ह ठाढ़े।”¹²⁰

यानी भक्तिकाल में मुसलमान शासकों द्वारा मूर्तिकला पर प्रहार किए जाने पर भी मूर्तिकला का विकास बंद नहीं हुआ। अकबर की राम-सीता की मुद्राओं से पता चलता है कि कुछ उदार मुस्लिम शासक भारतीय मूर्तिकला से प्रभावित भी हुए थे। अतः उनके शासन काल में मूर्तियों का निर्माण होता रहा।

5.3.3 चित्रकला

भारतीय चित्रकला अन्य कलाओं की तरह ही बहुत प्राचीन है। चित्रकला की विविध शैलियाँ भारत में पहले से ही देखने को मिलती हैं। जैसे- अजंता शैली, गुजराती शैली, मुगल शैली, राजपूत शैली इत्यादि। मध्यकाल में मूर्तिकला की तरह ही चित्रकला में भक्ति की प्रधानता थी। भक्ति-भावना की प्रधानता तत्कालीन समय में राजस्थानी चित्र शैली में दिखाई देती है। ब्रज में इसी शैली का प्रभाव

अधिक था जो कृष्ण की लीलाओं में दिखाई देता है। मध्यकालीन चित्रकला में राजपूत शैली और मुगल शैली का प्रभाव अधिक दिखायी पड़ता है।

तुलसीदास ने मानस में अयोध्या की चित्रशालाओं का उल्लेख किया है। अष्टछाप के कवियों ने भी चित्रकला का यदा-कदा संकेत दिया है। सूरसागर में चित्रकला के कुछ उदाहरण देख सकते हैं। जैसे- विविध प्रकार के रंगों का उल्लेख, गोपियों का रंग-बिरंगी धारियों वाले वस्त्र धारण करना, वन-धातु घिसकर सखाओं का कृष्ण के अंग-प्रत्यंग पर चित्र बनाना, विधि-कुलाल का कच्चे घट के सदृश गोपियों के शरीर का निर्माण करना तथा कृष्ण का उनके अंग-प्रत्यंग पर चित्र बनाना और रंग भरना उस युग की चित्रकला के अनूठे उदाहरण हैं -

“तट भुज दंड, भौर भृगु रेखा, चंदन चित्र तरंग जु सुंदरा”¹²¹

“वन माला तुमकौं पहिरावहिं, धातु-चित्र तनु रेखहिं”¹²²

“रंग दीन्हौ हो कान्ह सांवैरें, अंग अंग चित्र बनाए”¹²³

कबीर की कविताओं में भी चित्रकला का परिचय प्राप्त होता है -

“जिनि पहु चित्र बनाइया, सो साचा सतधारा।

कहै कबीर ते जन भले, जे चित्रवत लेहि बिचारा”¹²⁴

“चचा चरित चित्र है भारी, तजि बिचित्र चेतहुं चितकारी।

चित्र बिचित्र रहै औडेरा, तजि बिचित्र चित राखि चितेरा”¹²⁵

उपर्युक्त उद्धरण से चित्रकार द्वारा विविध चित्रों के बनाए जाने के संकेत मिलते हैं। चित्रकारी एवं चित्रकार कबीर के अनुसार सृष्टि एवं स्रष्टा के सूचक हैं, लेकिन इन कविताओं से तत्कालीन चित्रकला का भी परिचय मिलता है।

जायसी के यहाँ भी चित्रकला के यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं। जायसी ने पदमावती द्वारा सिंह का चित्र बनाकर वियोग-दशा में रात्रि व्यतीत करने का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त चतुर चित्रकार, चित्रशाला तथा सुनहले चित्रों की ओर कवि ने संकेत किया है -

“पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै। औसी बिथा रैन सब जागै”¹²⁶

“नैन चतुर वै रुप चित्तेरे। कवल पत्र पर मधुकर घेरे।”¹²⁷

5.3.4 संगीत कला

संगीत कला का आधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने विविध भावों को प्रकट करते हैं। संगीत सारी कलाओं में सबसे प्रभावशाली है। संगीत कला का असर मनुष्य की चित्रवृत्तियों पर अनादि काल से जितना अधिक पड़ता रहा है उतना किसी अन्य कला का नहीं। संगीत में मनुष्य के साथ ही सारे प्राकृतिक जीवों को मोहने की अद्भुत शक्ति होती है। मृग नाद प्रेम के कारण अपने प्राणों की बलि तक दे देता है। जैसे -

“मगन नाद-रस सारंग, बधत बधिक बिन बाना।”¹²⁸

संगीत कला के नाद पक्ष को दृष्टि में रखते हुए अष्टछापी कवियों ने अपने काव्य में ‘ग्राम’, ‘मूर्च्छना’, ‘तान’, ‘राग’ आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है। इससे इन कवियों की संगीत संबंधी ताल-लय की गंभीरता का पता चलता है -

“मुरलिया बाजति है बहु बाना।

तीनि ग्राम इकईस मूर्च्छना कोटि उनंचास ताना।”¹²⁹

संगीत कला का संबंध प्रमुख रूप से गायन, वादन और नर्तन से होता है। अष्टछापी कवियों ने संगीत का स्थान चौंसठ कलाओं में माना है -

“कला चौसट्टि, संगीत, सिंगार रस, कोक-बिधि-वंद प्रगटि भेद सै सै री।”¹³⁰

अष्टछाप के कवियों की भक्ति में संगीत की भूमिका महत्वपूर्ण है इसीलिए सूरदास को गीतिकाव्य का महाकवि कहा जाता है। नित्य सेवा के क्रम में अष्टछापी कवि नये-नये पदों के निर्माण में संगीत के विशुद्ध रागों और रागिनियों का प्रयोग करते थे। सूरदास के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की टिप्पणी महत्वपूर्ण है - “जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूषधारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराईयों में, विद्यापति के कोकिल कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज के करील कुंजों के बीच फैले मुरझाए

मनों को सींचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास जी की थी।”¹³¹

संगीत कला में भावों को उदीप्त करने की अधिक क्षमता है। विविध राग-रागिनियों का संबंध ऋतुओं के साथ-साथ मनुष्य के भाव जगत या अंतर्जगत से भी है। इन रागों के संबंध में आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव लिखते हैं कि - “हिन्दुओं के अनुसार वर्ष को छह ऋतुओं में बाँटा गया है, और प्रत्येक ऋतु का अपना अलग राग होता है। मुख्य राग भैरव, हिण्डोल, मेघ, श्रीराग, दीपक तथा मालकौंस है। हिन्दू विचारधारा के अनुसार प्रत्येक राग अर्द्ध-देवता है, जिसका विवाह पाँच रागिनियों से हुआ है। इस प्रकार से कुल छह राग और तीस रागनियाँ होती हैं।”¹³²

अष्टछाप के अधिकांश पद किसी न किसी राग में लिखे गये हैं। सूरसागर में भी विविध राग-रागिनियाँ देखने को मिलती हैं। सूरदास ने सूर-सारावली के पद संख्या 1012 से 1018 तक 36 राग-रागिनियों के नाम बताए हैं।

जायसी ने विविध राग-रागिनियों के साथ ताल मिलाकर गायन वादन करने वाले कलाकारों को ‘गुनी’ कहा है। ये ‘गुनी’ राज सभा में नियुक्त किए जाते थे तथा इनके सहयोग से ही राज सभा में नृत्य संगीत का आयोजन होता था। जायसी ने छः राग तथा छत्तीस रागिनियों का वर्णन किया है -

“बीजानगर केर सब गुनी। करहिं अलाप बुद्धि चौगुनी।

प्रथम राग भैरो तेन्ह कीन्हा। दोसरें माल कौंस पुनि लीन्हा।

पुनि हिंडोल राग तिन्ह गाए। चौथे मेघ मलार सोहाए।”¹³³

अष्टछाप काव्य में कृष्ण से संबंधित जीवन लीलाओं में जन्म, विवाह एवं त्योहारों के वर्णन में राग-रागिनियों के साथ वाद्ययंत्रों का उल्लेख मिलता है। जैसे- झाँझ, डफ, मृदंग, बीना, बाँसुरी इत्यादि-

“डिमडिम, पटह, ढोल, डफ, बीना, मृदंग चंग अरु तारा

गावत प्रभृति सहित श्रीदामा, बाढ़यौ रंग अपारा।”¹³⁴

संगीत कला का एक महत्वपूर्ण अंग नृत्य कला है। मध्यकालीन कवियों ने संगीत में वाद्ययंत्रों के उल्लेख के साथ नृत्यों की भी चर्चा की है। जैसे- सूरदास ने “अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल”¹³⁵

नामक अपने विनय के पद में नर्तकों की वेष-भूषा, साज-सज्जा, नाद-ताल आदि का विस्तृत वर्णन किया है। तुलसीदास जी नर्तक समाज का उल्लेख करते हैं -

“दंड जतिन्ह कर भेद जहं नर्तक नृत्य समाज।

जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र के राज।”¹³⁶

जायसी ने होली के अवसर पर या वसन्त ऋतु में चाँचर नामक शृंगार प्रधान नृत्य का उल्लेख किया है। इस अवसर पर धमार राग गाया जाता है -

“होइ फागु भलि चांचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जसि होरी।”¹³⁷

मध्यकालीन कवियों के सामाजिक, धार्मिक चिंतन का स्वरूप तो अखिल भारतीय था ही लेकिन उनकी कविता की जो पैठ जन-जन, घर-घर में बनी वह उनकी कविता में निहित कथात्मकता के साथ गीतात्मकता और संगीतात्मकता के कारण ही थी। तत्कालीन धार्मिक वातावरण में खासकर भक्ति के क्षेत्र में इन कविताओं की गेयता ज्यादा प्रभावशाली साबित हुई।

कोई भी साहित्य परम्परा का पूर्णतः अतिक्रमण नहीं कर सकता जो कि भक्तिकाव्य में भी दिखायी पड़ता है, लेकिन सवाल यह उठता है कि वह रचना-समय कितना कुछ शास्त्र से ग्रहण करता है और कितना लोक से। मध्यकालीन रचनाओं की यह महत्वपूर्ण विशेषता है कि कथाओं का आधार शास्त्रीय, पौराणिक होने के बावजूद भी वे लोक के प्रति सजग भी है और सहज भी। उनकी यह सहजता ही लोक जीवन के सजीव चित्रण को प्रामाणिक बनाता है। यहाँ पर लोक साहित्य, लोक विश्वासों, लोक कलाओं का वर्णन सहज, स्वाभाविक या आनुषंगिक रूप में हुआ है। ये लोक तत्व उन कविताओं में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। लोक तत्व के ये सांकेतिक एवं संक्षिप्त वर्णन इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं कि ये आज के समय में अपने तत्कालीन ऐतिहासिक साक्ष्यों के रूप में उपस्थित हैं।

संदर्भ

- ¹ कल्ला, नन्दलाल. हिंदी का प्रादेशिक लोक साहित्य, पृ.सं. 210
- ² तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, पृ.सं. 606
- ³ अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, संजीवनी व्याख्या, पृ.सं. 636
- ⁴ प्रसाद, दिनेश्वर. लोक साहित्य और संस्कृति, पृ.सं. 156-57
- ⁵ उपाध्याय, कृष्णदेव. लोक संस्कृति की रूप रेखा, पृ.सं. 8
- ⁶ सत्येन्द्र. लोक साहित्य विज्ञान, पृ.सं. 15
- ⁷ शर्मा, हरद्वारीलाल. लोकवार्ता विज्ञान (खण्ड-एक), पृ.सं. 9
- ⁸ प्रसाद, दिनेश्वर. लोक साहित्य और संस्कृति, पृ.सं. 154
- ⁹ उपाध्याय, कृष्णदेव. लोक संस्कृति की रूपरेखा, पृ.सं. 10
- ¹⁰ कल्ला, नन्दलाल. हिंदी का प्रादेशिक लोक साहित्य, पृ.सं. 188-89 में देखें, जनपद, वर्ष 1, अंक 1, पृ.सं. 65
- ¹¹ उपाध्याय, कृष्णदेव. लोक संस्कृति की रूप रेखा, पृ.सं. 11
- ¹² उपाध्याय, भगवतशरण. भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ.सं. 36
- ¹³ मीतल, प्रभुदयाल. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, पृ.सं. 83
- ¹⁴ बिस्मिल्लाह, अब्दुल. मध्यकालीन हिंदी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय, पृ.सं. 3
- ¹⁵ सिंह, नामवर. दूसरी परम्परा की खोज, पृ.सं. 78
- ¹⁶ उपाध्याय, कृष्णदेव. लोक संस्कृति की रूप रेखा, पृ.सं. 12-13
- ¹⁷ सिंह, नामवर. दूसरी परम्परा की खोज, पृ.सं. 79
- ¹⁸ सत्येन्द्र. लोक साहित्य विज्ञान, पृ.सं. 16
- ¹⁹ प्रसाद, दिनेश्वर. लोक साहित्य और संस्कृति, पृ.सं. 106
- ²⁰ कल्ला, नन्दलाल. हिंदी का प्रादेशिक लोक साहित्य, पृ.सं. 265
- ²¹ वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 238
- ²² शुक्ल, रामचन्द्र. सं. तुलसी ग्रंथावली, भाग-2, रामलला नहछू, पृ.सं. 3
- ²³ तुलसीदास. गीतावली, पृ.सं. 24
- ²⁴ वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 224
- ²⁵ वही, पृ.सं. 237
- ²⁶ वही, पृ.सं. 236
- ²⁷ तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 249
- ²⁸ तुलसीदास. गीतावली, पृ.सं. 364
- ²⁹ हरगुलाल. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ.सं. 385
- ³⁰ वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 237
- ³¹ चौधरी, सरला. सं. नंददास, पृ.सं. 108
- ³² तुलसीदास. गीतावली, पृ.सं. 46
- ³³ शुक्ल, रामचन्द्र. सं. भ्रमरगीतसार, भूमिका, पृ.सं. 22
- ³⁴ शुक्ल, रामचन्द्र. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 134
- ³⁵ वही, पृ.सं. 138
- ³⁶ कल्ला, नन्दलाल. सं. हिंदी का प्रादेशिक लोक साहित्य, पृ.सं. 298
- ³⁷ गुप्त, माताप्रसाद. सं. चांदायन, पृ.सं. 201
- ³⁸ उपाध्याय, कृष्णदेव. लोक संस्कृति की रूप रेखा, पृ.सं. 293
- ³⁹ श्रीवास्तव, ब्रजविलास. मध्यकालीन हिंदी प्रबंध काव्यों में कथानक रूढ़ियाँ, पृ.सं. 32

-
- 40 वाजपेयी, नन्ददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 126
41 वही, पृ.सं. 160
42 वही, पृ.सं. 349
43 वही, पृ.सं. 266
44 शुक्ल, रामचन्द्र. सं. भ्रमरगीतसार, पृ.सं. 11
45 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 222
46 अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत, पृ.सं. 424
47 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 163
48 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 127
49 प्रभुपाद, स्वामी. सं. गीता, पृ.सं. 479-80
50 वही, पृ.सं. 151
51 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 110
52 वाजपेयी, नन्ददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 104
53 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 52
54 वाजपेयी, नन्ददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 209
55 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 298
56 वाजपेयी, नन्ददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 174
57 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 461
58 वाजपेयी, नन्ददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 266
59 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 830
60 तुलसीदास. रामाज्ञा प्रश्न, पृ.सं. 73
61 वाजपेयी, नन्ददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 357
62 वही, पृ.सं. 202
63 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 252
64 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, सुंदरकाण्ड, पृ.सं. 666
65 वही, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 430
66 वाजपेयी, नन्ददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 269
67 उपाध्याय, कृष्णदेव. लोक संस्कृति की रूप रेखा, पृ.सं. 217
68 वाजपेयी, नन्ददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 416
69 वही, पृ.सं. 249
70 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 370
71 वही, पृ.सं. 511
72 वही, पृ.सं. 420
73 टंडन, मायारानी. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन, पृ.सं. 375-76
74 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 441
75 वाजपेयी, नन्ददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 70
76 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 66
77 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 45
78 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 254
79 वाजपेयी, नन्ददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 17-18
80 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 479

-
- 81 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ.सं. 368
- 82 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 278
- 83 वही, प्रथम, पृ.सं. 18
- 84 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 661
- 85 तुलसीदास. विनय पत्रिका, पृ.सं. 286
- 86 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 953
- 87 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 15
- 88 चतुर्वेदी, परशुराम. सं. मीराबाई की पदावली, पृ.सं. 154
- 89 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 689
- 90 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 236
- 91 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 65
- 92 बेनीपुरी, रामवृक्ष. सं. विद्यापति पदावली, पृ.सं. 116
- 93 द्विवेदी, हजारी प्रसाद. हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ.सं. 198
- 94 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 171
- 95 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 93
- 96 शुक्ल, रामचन्द्र. सं. तुलसी ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ.सं. 105
- 97 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 270
- 98 वही, पृ.सं. 330-31
- 99 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 163
- 100 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 920
- 101 शरण, जदगीश. सं. रैदास ग्रंथावली, पृ.सं. 53
- 102 अग्रवाल, पुरुषोत्तम. अकथ कहानी प्रेम की, पृ.सं. 66
- 103 द्विवेदी, हजारी प्रसाद. कबीर, पृ.सं. 134
- 104 दास, श्यामसुन्दर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 60
- 105 वही, पृ.सं. 35
- 106 वही, पृ.सं. 226
- 107 द्विवेदी, हजारी प्रसाद. लालित्य तत्व, पृ.सं. 82
- 108 राय, नीहार रंजन. भारतीय कला का अध्ययन, पृ.सं. 164
- 109 भर्तृहरि. भर्तृहरिशतकम्, पृ.सं. 859
- 110 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 859
- 111 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 532
- 112 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 425
- 113 वही, पृ.सं. 493
- 114 वही, पृ.सं. 144
- 115 वही, पृ.सं. 230
- 116 उपाध्याय, भगवतशरण. भारतीय कला की भूमिका, पृ.सं. 54-55
- 117 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ.सं. 242-43
- 118 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 207
- 119 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 116
- 120 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 147
- 121 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 3

-
- 122 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 324
123 वही, द्वितीय, पृ.सं. 324
124 दास, श्यामसुंदर. सं. कबीर ग्रंथावली, पृ.सं. 183
125 वही, पृ.सं. 171
126 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 234
127 वही, पृ.सं. 436
128 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, प्रथम, पृ.सं. 46
129 वही, पृ.सं. 577
130 वही, द्वितीय, पृ.सं. 140
131 शुक्ल, श्यामसुन्दर. सं. भ्रमरगीतसार, पृ.सं. 2
132 श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ.सं. 226
133 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 474
134 वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर, द्वितीय, पृ.सं. 254
135 वही, प्रथम, पृ.सं. 42
136 तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, पृ.सं. 855
137 गुप्त, माताप्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली, पृ.सं. 348

उपसंहार

भक्ति आंदोलन में 'भक्ति' का अपना एक सामाजिक संदर्भ है, जिसकी प्रकृति परिवर्तनकारी है। वे रचनाकार जीवन से पलायन के लिए नहीं बल्कि व्यक्तित्वांतरण के लिए कविता रचते हैं। भक्ति साधक के विवेक चेतना को जागृत करती है; वहाँ भक्ति एक सघन अनुभूति है। भक्ति की भूमिका सामाजिक, आध्यात्मिक तथा वैयक्तिक कई स्तरों पर देखने को मिलती है, जिसमें क्रमशः मानवीय एकता, कर्मकाण्ड का विरोध एवं आचरण की शुद्धता है। मध्यकाल में 'भक्ति' और 'धर्म' केन्द्र में है, वहाँ भक्ति केवल ईश्वर के समक्ष आत्म-समर्पण करना या मोक्ष की प्राप्ति का माध्यम नहीं है बल्कि भक्ति जीव, जगत की मुकम्मल व्याख्या के साथ आंदोलन का रूप धारण करती है। पहली बार भक्ति धर्म की रूढ़ियों से बाहर निकलकर मनुष्य की समानता की बात करती है। भक्ति आंदोलन की केन्द्रीय विशेषता है- धार्मिक विचारों की विविधता के बावजूद जनता की एकता को स्वीकार करना। भक्ति आंदोलन ने कर्मकाण्ड और जातिभेद का विरोध करते हुए मनुष्य की समानता का प्रतिपादन किया। सही मायने में भक्ति आंदोलन एक नयी विचारधारा है जो परम्परा से भिन्न है, वह पूरी जीवन पद्धति को नये ढंग से देखना चाहती है। उसकी कोशिश समतामूलक समाज तथा नैतिक आध्यात्मिक ढाँचे के निर्माण की है।

भक्ति काव्य का फलक काफी व्यापक रहा है, लेकिन इसका दुर्भाग्य यह है कि आलोचकों ने भक्ति काव्य की मुकम्मल आलोचना की जगह भक्ति काव्य की एक-एक काव्यधारा को लेकर आरोप-प्रत्यारोप या कवियों को बड़ा-छोटा बताने वाली आलोचना पद्धति को अपनाया। इससे पाठक के सामने द्वंद्व की स्थिति पैदा हुई, कोई तुलसीदास को बड़ा तो कोई कबीरदास को बड़ा कवि समझने लगा, जबकि हर कालजयी रचनाकार किसी न किसी रूप में अपने समय का अतिक्रमण करता है। यदि उन रचनाकारों ने सामाजिक विसंगतियों का विरोध कर समतामूलक समाज के निर्माण की पैरवी की तो परम्परा में व्याप्त रूढ़ियों का समर्थन भी किया। यदि भक्ति काव्य के प्रतिरोधी जान पड़ने वाले उन मूल्यों को देखें तो पाएंगे कि इसके दो ध्रुव हैं जो एक ही रचनाकार में साथ-साथ चलते दिखायी

पड़ते हैं। भक्ति काव्य का एक पहलू प्रेम, समर्पण, सादगी, सौहार्द, सहजता तथा ईश्वर के समक्ष दासता का है तो उसका दूसरा पहलू प्रतिरोध और स्वाभिमान का है। एक तरफ सामाजिक, धार्मिक वाह्याडम्बरो का विरोध है तो दूसरी तरफ सामाजिक रूढ़ियों का समर्थन है। वहाँ राजा ईश्वर अंश भी है और पाप-परायण भी। एक तरफ 'खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि' है तो दूसरी तरफ रामराज्य के रूप में दैहिक, दैविक, भौतिक तापों से मुक्त समाज है यानी एक ओर बिलबिलाता हुआ समाज है तो दूसरी ओर यूटोपिया से बना रामराज्य, बेगमपुरा, सिंघलगढ़ आदि हैं। एक तरफ पराधीनता की जकड़न है तो दूसरी तरफ मुक्ति की छटपटाहट। एक ओर 'स्व' की मुक्ति की चिंता है तो दूसरी ओर 'पर' पीड़ा की अनुभूति है। कहीं परम्परा का पुनर्पाठ है तो कहीं 'पोथी बहाइ जस पाणी' अर्थात् अनुभवजन्य विवेक है। एक ओर भाग्यवाद है तो दूसरी ओर 'करम प्रधान बिस्व करि राखा' अर्थात् कर्म में अटूट आस्था है। भक्तिकाव्य में एक तरफ जीवन का उल्लास 'दुलहिन गावहुँ मंगलाचार' है तो दूसरी तरफ नश्वरता और मृत्युबोध को रचती हुई कविता है। आज के आलोचक या पाठक की विडम्बना यह है कि वे उपर्युक्त किसी एक पक्ष या पहलू को लेकर भक्ति काव्य में प्रवेश करते हैं, जिससे उनके सामने भक्ति काव्य का पूर्ण-स्वरूप निर्मित नहीं हो पाता है।

मध्यकालीन राजनैतिक परिस्थितियों का प्रभाव भक्त कवियों पर पड़ा। वे तत्कालीन राज्य-समाज के समानान्तर अपने काव्य में काल्पनिक, आदर्श राज्य स्थापित किए, जो उनके सारे मानदण्डों पर खरा उतरता है, लेकिन जब वे तत्कालीन समय के यथार्थ से रूबरू होते हैं तो समाज की भयावहता उन्हें आहत करती है। तुलसीदास 'श्रीरामचरितमानस' में एक आदर्श राज्य या रामराज्य की स्थापना करते हैं और 'कवितावली' में अपनी और समाज की दीन-हीन दशा से आहत और दुःखी होते हैं। 'श्रीरामचरितमानस' अपने महाकाव्यात्मक प्रवृत्ति के अनुरूप है। जिसकी पूरी कथा राजा और रानी के इर्द-गिर्द घूमती है। महाकाव्य अपने आप में सामंती समाज की उपज है। लगभग यह पूरी कथा 'रामराज्य' और रावण राज्य के राजनैतिक चरित्रों को ही उजागर करती है, जिसे हम आदर्श और यथार्थ का द्वंद्व भी कह सकते हैं। राम का राज्य तुलसी के सारे मानदण्डों पर खरा उतरता है जबकि रावण का राज्य भौतिक समृद्धि के बावजूद तत्कालीन करालता, भयावहता आदि को लिए हुए

विनाश को प्राप्त होता है। यदि हम 'राम', 'रावण' को आर्य और द्रविड़ संस्कृति के नायक के प्रतीक के रूप में लेंगे तो उपर्युक्त बातें तर्कसंगत नहीं होंगी। अधिकांश आलोचकों ने रावण और उसके राज्य को तत्कालीन उपद्रवी समाज से जोड़कर देखा है लेकिन गौरतलब बात यह है कि क्या किसी भी राज्य या संस्कृति की एक सिरे से नकारात्मक छवि उपस्थित करना या उसे आसुरी प्रवृत्ति का द्योतक बताना उचित है? यह विचारणीय प्रश्न है। तुलसीदास के आदर्श राज्य का निर्माण धार्मिक वातावरण में होता है जहाँ उनका राज्यतंत्र धर्म तंत्र की पैरवी करता दिखायी पड़ता है। तुलसीदास भक्ति के क्षेत्र में समानता का प्रतिपादन करते हैं लेकिन सामाजिक क्षेत्र में वे वर्णव्यवस्था के समर्थक हैं। तुलसीदास सामाजिक सद्भाव और समानता का निर्माण अपने शास्त्रीय मूल्यों के आधार पर करते हैं जहाँ उनका आदर्श राज्य कुचाल, कुबुद्धि, दुःख और दारिद्र्य से मुक्त दिखायी पड़ता है। तुलसीदास ने प्रजा का पालन और उसकी रक्षा राजा का मुख्य धर्म माना है। प्रजा पालन मन, वचन और कर्म से होना चाहिए। इससे तुलसी की समाज सापेक्षता और सैद्धांतिक दृढ़ता का पता चलता है। तुलसीदास पहला बुद्धिमान या चतुर तथा दूसरा निम्न कोटि के मंत्रियों का उल्लेख करते हैं जो मुँहदेखी बात करते हैं। उनके अनुसार यदि मंत्री योग्य हो तो उसे रैयत, राज-समाज इत्यादि की जिम्मेदारी राजा को सौंप देनी चाहिए।

यदि अष्टछाप के कवियों के कुछ पदों जैसे - 'संतन को कहाँ सीकरी सो काम' आदि को छोड़ दिया जाए तो हम पाते हैं कि वे राजसत्ता से सीधे नहीं टकराते हैं, इसके बावजूद भी उनमें एक सजग राजनैतिक चेतना दिखायी पड़ती है। अष्टछाप के कवियों ने तत्कालीन समय, समाज की विसंगतियों से लड़ने के लिए श्रीकृष्ण जैसे लोकनायक का सहारा लिया जो कि लोकरक्षक भी हैं और लोकरंजक भी। मध्यकाल के लगभग सारे महाकाव्यों में दो तरह के नायकों का चरित्र-चित्रण विस्तार से मिलता है। पहला वे हैं जो लोकविरोधी हैं जिसमें कंस, रावण, अलाउद्दीन आदि हैं तो दूसरा कृष्ण, राम और रतनसेन आदि हैं जो लोकरक्षक हैं। भक्त कवियों ने राज-समाज को सुगमता से समझने के लिए लोक नायक के साथ प्रति-नायक का निर्माण किया जिससे कि जनमानस में राज्य की एक स्पष्ट रूपरेखा बन सके। उन महाकाव्यों के नायक भी सामंती परिवेश से आते हैं, लेकिन वहाँ लोक-चिंता का भाव प्रबल

है। सूरदास सामंती मूल्यों का प्रतिरोध आक्रामकता से नहीं करते हैं बल्कि निषेधात्मक पद्धति अपनाते हैं। उन्होंने राजवंश की दीर्घकालीक काव्य परम्परा को तोड़कर, पशुपालक, गोचारक जैसे नायक को लोकनायकत्व की जिम्मेदारी सौंपी जिसमें वे सफल भी हुए। सगुण भक्त कवियों में सामंती व्यवस्था का मुखर विरोध नहीं है लेकिन उनकी कथा की बुनावट ऐसी है कि चरित्रों के निर्माण, यथार्थबोध, जीवन मूल्य के स्तर पर वह विरोध दिखायी पड़ता है। सूरदास का समाज दिल्ली के निकट का समाज है जहाँ स्वतंत्रता तथा लोकतांत्रिक मूल्यों की बात करना अत्यंत दुष्कर कार्य था, इसके बावजूद सूरदास वृंदावन के माध्यम से एक ऐसे समाज की परिकल्पना करते हैं जो स्वतंत्र है, जहाँ कृष्ण और गोपियों का निर्बन्ध प्रेम है तथा जो अपने लोकतांत्रिक मूल्यों पर रचा-बसा है। सूरदास और तुलसीदास दोनों की श्रद्धा अवतारवाद में है। भारतीय समाज पहले से ही नायकत्व में देवत्व और देवत्व में नायकत्व की विशिष्टता को देखता रहा है। अवतारवाद में देवत्व और लोकरक्षण में नायकत्व को ज्यादा प्रश्रय मिला है।

संतों के यहाँ जिस प्रकार सामाजिक विसंगतियों के खिलाफ विद्रोह है, उसी प्रकार राजनैतिक चरित्रों की विडम्बनात्मक जीवन का पर्दाफाश और उसका विरोध है वे संत जीवन तथा काल के विभिन्न संदर्भों के सहारे एक सकारात्मक राजनैतिक चेतना पैदा करते हैं। जायसी और अन्य सूफी कवि प्रेम, विरह और मनुष्य के जीवन के उतार-चढ़ाव को राजनैतिक ताने-बाने के इर्द-गिर्द ही बुनते हैं। जायसी की मुख्य चिंता मनुष्यता को लेकर है जहाँ मानवीय जीवन के उतार-चढ़ाव, राजनैतिक हलचलें, युद्ध आदि सब कुछ है। जायसी 'स्तुति खण्ड' में जिस राजा की प्रशंसा करते हैं अंत में उसी राजा को एक मुट्ठी राख के माध्यम से जागरण का संदेश देते हैं। मध्यकाल का पूरा राजनैतिक वातावरण सामंती है, जिसके केन्द्र में स्त्री और साम्राज्य का विस्तार है। इस साम्राज्य में प्रजा की चिंता नगण्य है। राजा की सामंती मानसिकता ही तत्कालीन समय के नियम और कानून हैं। भक्त या संत कवि जाने-अनजाने में कभी-कभी उस सामंती मनोदशा का पुनर्पाठ करते हैं, लेकिन वे प्रजा के हितों को दाँव पर लगाकर ऐसा नहीं करते। वे भक्त कवि उन सामंती मूल्यों के समानान्तर 'भक्ति' और 'प्रेम' जैसे मूल्यों की स्थापना करते हैं जहाँ समानता और स्वतंत्रता है। राज-समाज की निरंकुशता के

बावजूद भी वे कवि उन राजाओं, सामंतों को जागरण का संदेश देना नहीं भूलते हैं। वे बार-बार जीवन की क्षणिकता, मृत्युबोध आदि के माध्यम से उनकी अनैतिकता को रोकने का प्रयास करते हैं।

संत कवियों ने जिस वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया तुलसीदास ने उत्तम राज्य के लिए उसे आवश्यक बताया। तुलसी वर्णाश्रम धर्म के समर्थक हैं। वे वर्णाश्रम धर्म की दुर्दशा से आहत होते हैं। तुलसीदास सामाजिक क्षेत्र में वर्ण व्यवस्था के समर्थक हैं, लेकिन भक्ति के क्षेत्र में जाति-पांति, ऊँच-नीच का भेदभाव मिट जाता है। तुलसीदास इस बात को जानते हैं कि सबसे बड़ा अपमान जाति का अपमान है, इसके बावजूद शूद्रों को सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने में चूकते हैं। इसी तरह स्त्रियों की पराधीनता से आहत तो होते हैं लेकिन स्त्रियों की स्वतंत्रता की बात आते ही वेद, पुराण उनके आड़े आ जाते हैं। मध्यकालीन समाज सामंती और पौराणिक, धार्मिक मूल्यों से संचालित समाज है, इसलिए उन कवियों के यहाँ स्त्री का परम्परागत शास्त्रीय स्वरूप ही दिखायी पड़ता है जिसका अंतिम धर्म पतिव्रत-धर्म है। सामंती समाज में कामी पुरुषों के लिए स्त्री काम और भोग की वस्तु है और संतों के लिए माया, नरक आदि है यानी तत्कालीन समाज में स्त्री दूसरे दर्जे के नागरिक के रूप में है। उसकी स्थिति मूल्यहीन है। स्त्रियों को लेकर तुलसी की चिंता जब लोक सम्मत होती है तब उन्हें उनकी पराधीनता दुःख देती है लेकिन जब उनका चिंतन शास्त्रसम्मत होता है तब उन्हें स्त्रियों की स्वतंत्रता खटकती है। आदर्श राज्य का विकल्प देने वाले तुलसीदास शूद्रों और स्त्रियों की दासता को कोई विकल्प नहीं देते। तुलसीदास को वैदिक परम्परा से जुड़े सारे संस्कार प्रिय हैं। वे इन संस्कारों और रीति-रिवाजों को भारतीय जीवन का प्राणाधार मानते हैं। इसी प्रकार पर्वोत्सव एवं त्योहार सांस्कृतिक समृद्धि के प्रतीक हैं इसके मूल में सामाजिक एकता की भावना निहित है। तुलसी काव्य में समाज का स्वरूप वेद और धर्म पर आधारित है जहाँ सांस्कृतिक तत्व भी मौजूद हैं। उनके अनुसार कलियुग की भयावहता तभी टल सकती है जब सारे मनुष्य धर्म और नीति के अनुसार आचरण करें। तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था तथा वैदिक, पौराणिक आधार पर एक आदर्श राज्य का स्वप्न देखते हैं।

अष्टछाप के कवियों के यहाँ वर्ण-व्यवस्था का यदा-कदा संकेत मिलता है। अष्टछाप काव्य में चार वर्णों में से ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र की चर्चा ही मुख्यतः मिलती है। वैश्य का उल्लेख वर्ण के रूप

में नहीं मिलता, पर वैश्यों के व्यवसायों एवं कार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। अष्टछाप में कर्मकाण्ड की व्यर्थता और प्रेमाभक्ति की महानता बहुत ही सहज व्यक्त है। अष्टछाप के कवियों की नारी विषयक दृष्टि तत्कालीन सामंती ताने-बाने से ही बनी है, फिर भी अन्य कवियों की तुलना में उनकी स्त्रियाँ अधिक स्वतंत्र हैं। पहला गोकुल और वृन्दावन का जीवन तथा दूसरा मथुरा गमन के बाद का जीवन जिसमें मथुरा और द्वारिका है। पूर्वार्द्ध की कृष्ण कथा का संबंध लोक जीवन, ग्रामीण संस्कृति, गोचारण इत्यादि से है। परम्परागत रूढ़िगत मूल्यों के बावजूद यहाँ की स्त्रियाँ अधिक मुखर, स्वतंत्र तथा तार्किक हैं। स्त्री-पुरुष का संवाद जितना अधिक अष्टछाप के कवियों के यहाँ है उतना अन्य किसी मध्यकालीन काव्य में नहीं दिखायी पड़ता। श्रीरामचरितमानस में सीता का संवाद है भी तो दो-चार जगहों पर वह भी पुरुष-आश्रित, संकोच और धर्म के आवरण में लिपटे हुए। दूसरी तरफ मथुरा नगर है जहाँ दरबार भी है। वहाँ का राजा विलासी है तथा परायी स्त्रियों का हरण भी करता है। मध्यकाल में स्त्री मुक्ति के मुद्दे पर सबसे दृढ़ मीराबाई हैं, वे सामंती मूल्यों के खिलाफ अपना सशक्त प्रतिरोध दर्ज करती हैं। अष्टछाप के कवियों ने 'संस्कार' को मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक माना है। कृष्ण और राधा के जन्म से ही ये 'संस्कार' प्रारंभ हो जाते हैं। भक्त कवियों ने विविध प्रथाओं जैसे- सती प्रथा, जौहर प्रथा, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, बहु विवाह आदि की तरफ संकेत किया है, जिसमें वे अधिकांश प्रथाओं का समर्थन ही करते हैं। अष्टछाप के कवियों ने पर्वों, त्योहारों की चर्चा मुख्य रूप से अपने अराध्य कृष्ण से संबंध स्थापित करने के लिए किया है, जहाँ पर ग्वाल-बाल भी हैं और ब्रज की लोक संस्कृति भी। इन कवियों ने जितना ध्यान इन त्योहारों के हर्षोल्लास-वर्णन में लगाया उतना उन त्योहारों के कर्मकाण्डों के वर्णन में नहीं लगाया।

संत कवि विसंगतियों के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं अपितु विद्रोह या बदलाव का भाव रखते हैं, इसलिए उनका प्रतिरोध दो चीजों के प्रति सबसे अधिक है। पहला वर्ग और जाति के आधार पर निर्मित श्रेष्ठता या ऊँच-नीच का भाव तथा दूसरा हिन्दू-मुस्लिम धार्मिक वैमनस्यता एवं संप्रदायगत भेदभाव। इन दोनों की जगह संत कवि मनुष्य की समानता, स्वतंत्रता एवं धार्मिक एकता चाहते हैं। संतों ने ईश्वरीय-भक्ति के मार्ग में स्त्री को बाधक मानते हैं, इसलिए वे कनक और कामिनी का विरोध

करते हैं। उनके लिए ये आसक्ति के केन्द्र हैं। स्त्री जीवन को लेकर इन संतों की दृष्टि मुख्यतः तत्कालीन सामंती जीवन से ही परिचालित है, लेकिन जब वे ईश्वरीय-भक्ति में तल्लीन होते हैं तो वहाँ पर स्त्री जीवन की बंदिशें टूटती हुई दिखायी पड़ती है और स्वयं अपने को स्त्री रूप में पाते हैं। संतों का सामाजिक चिंतन वर्ण, वर्ण और संप्रदाय के विरुद्ध है। उनके चिंतन का मुख्य आधार समानता और एकता है, इसलिए वे बार-बार वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, धार्मिक वैमनस्यता, सांप्रदायिक विविधता आदि पर चोट करते हैं। इसकी जगह एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर की चिंता दिखाई पड़ती है।

मध्यकाल में सूफी कवियों ने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति में एकता की तलाश कर दोनों ही समुदायों पर एक भावनात्मक प्रभाव छोड़ा। तत्कालीन प्रतिकूल परिस्थिति में सांस्कृतिक एकता की बात करना मुश्किल थी, परंतु वे कवि ऐसा करने में सफल रहे। सूफी कविता की केन्द्रीय विशेषता प्रेम, काम और सौंदर्य है। प्रेम अपने आप में एक सामंत विरोधी मूल्य है, जहाँ जाति व्यवस्था टूटती हुई नजर आती है, इसका सबसे बड़ा उदाहरण 'चन्दा' और 'लोरिक' की प्रेम कथा है। जायसी ने स्त्री के प्रति उस युग की अनुदार दृष्टि का सांकेतिक परिचय दिया है। कुलवधू और सती की सराहना वहाँ बार-बार दिखायी पड़ती है। ससुराल के प्रसंग में स्त्री जीवन का सामंती ताना-बाना भी झलकता है तथा स्त्री जीवन की त्रासदी भी है। पदमावत महाकाव्य में स्त्री प्रेम से अधिक भोग की वस्तु दिखायी पड़ती है जहाँ उसका रूप सौंदर्य ही प्रमुख है। जायसी ने षड्-ऋतु और बारहमासा का वर्णन विविध मनोदशाओं को व्यक्त करने के लिए किया है।

भक्तिकालीन जीवन मुख्यतः कृषि पर आधारित था, लेकिन भक्तिकाव्य के साक्ष्यों से पता चलता है कि कृषक की स्थिति अच्छी नहीं थी। कृषक राजस्व न चुका पाने से तथा व्यापारी महाजन का ब्याज न चुका पाने के कारण तबाह रहते थे। भक्तिकाव्य में पूँजीवाद का प्रारंभिक स्वरूप बनता दिखायी पड़ता है इसलिए तत्कालीन समय में बड़े उद्योग की कल्पना करना ठीक नहीं। वे रचनाकार अपनी दूरदर्शिता के कारण यदा-कदा पूँजीवाद की विसंगतियों की निंदा करते हैं। मध्यकाल में छोटे-छोटे लघु उद्योग थे जो जीवनयापन के लिए सहायक थे। गाँव की तुलना में नगरों का व्यवसाय मुनाफा

या लाभ से अधिक संबंध रखता था। श्रमिक वर्ग अपने-अपने पेशेवर कार्यों से अपना जीविकोपार्जन कर रहे थे।

कोई भी साहित्य परम्परा का पूर्णतः अतिक्रमण नहीं कर सकता जो कि भक्तिकाव्य में भी दिखायी पड़ता है, लेकिन सवाल यह है कि वह रचना-समय कितना कुछ शास्त्र से ग्रहण करता है और कितना कुछ लोक से। मध्यकालीन रचनाओं की यह महत्वपूर्ण विशेषता है कि कथाओं का आधार शास्त्रीय, पौराणिक होने के बावजूद भी वे लोक के प्रति सजग और सहज हैं। उनकी यह सहजता ही लोक जीवन के सजीव चित्रण को प्रामाणिक बनाता है। यहाँ पर लोक साहित्य, लोक विश्वासों, लोककलाओं का वर्णन सहज, स्वाभाविक या आनुषंगिक रूप में हुआ है। ये लोक तत्व उन कविताओं में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। लोक तत्व के ये सांकेतिक एवं संक्षिप्त वर्णन इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं कि वे आज के समय में अपने तत्कालीन ऐतिहासिक साक्ष्यों के रूप में उपस्थित हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि पूरे भक्ति काव्य में कथा-प्रसंग विशेष के बावजूद कवि के तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश की भी झलक मिलती रहती है क्योंकि भक्तिकाव्य अपने ही ढंग से समय-समाज-सचेतन रहा है। संभव है कि तुलसी-कबीर-काव्य की भाँति अन्यत्र भी प्रक्षेपण और विरोधी भाव मिले पर कुल मिलाकर यह काव्य व्यक्ति, परिवार और समाज में मानवीय जीवन-मूल्य लाने वाला था, मनुष्य के भीतर ईश्वरतत्व की प्रतिष्ठा करने वाला था। भक्ति का तत्व ही मनुष्य को उसकी तमाम क्षुद्रताओं से ऊपर उठा देता है - यही संदेश उन सभी कवियों का था।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

I. आधार ग्रंथ

1. अग्रवाल, वासुदेवशरण. सं. पदमावत. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2010 ई.
2. गुप्त, परमेश्वरी लाल. सं. मिरगावती. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1967 ई.
3. गुप्त, माता प्रसाद. सं. चांदायन. आगरा : प्रामाणिक प्रकाशन, 1967 ई.
4. गुप्त, माता प्रसाद. सं. जायसी ग्रंथावली. इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, 1951 ई.
5. चतुर्वेदी, परशुराम. सं. मीराँबाई की पदावली. प्रयाग : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 2008 ई.
6. चौधरी, सरला. सं. नंददास. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, 2006 ई.
7. तुलसीदास. दोहावली. गोरखपुर : गीता प्रेस, वि. सं. 2067
8. तुलसीदास. कवितावली. गोरखपुर : गीता प्रेस, वि. सं. 2066
9. तुलसीदास. जानकी मंगल. गोरखपुर : गीता प्रेस, वि. सं. 2066
10. तुलसीदास. रामाज्ञा प्रश्न. गोरखपुर : गीता प्रेस, वि. सं. 2066
11. तुलसीदास. गीतावली. गोरखपुर : गीता प्रेस, वि. सं. 2065
12. तुलसीदास. विनय पत्रिका. गोरखपुर : गीता प्रेस, वि. सं. 2065
13. तुलसीदास. श्रीरामचरितमानस. गोरखपुर : गीता प्रेस, वि. सं. 2065
14. दादूदयाल. दादूदयाल की बानी (भाग 1,2). इलाहाबाद : वेलवीडियर प्रिंटिंग वर्क्स, 2009 ई.
15. दास, श्यामसुन्दर. सं. कबीर ग्रंथावली. काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, वि. सं. 2064
16. मीतल, प्रभुदयाल. सं. सूर सारावली. मथुरा : अग्रवाल प्रेस, वि. सं. 2014
17. यामदाग्नि, वसंत. सं. छीतस्वामी. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, 2003 ई.
18. वर्मा, जगमोहन. सं. चित्रावली. काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, वि. सं. 2038
19. वाजपेयी, नंददुलारे. सं. सूरसागर (भाग 1,2). काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, वि. सं. 2035, वि. सं. 2058

20. शरण, जगदीश. सं. *रैदास ग्रंथावली*. गाजियाबाद : साहित्य संस्थान, 2011 ई.
21. शुक्ल, रामचन्द्र. सं. *जायसी ग्रंथावली*. काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, वि. सं. 2064
22. शुक्ल, रामचन्द्र. सं. *तुलसी ग्रंथावली*. काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, वि. सं. 2030
23. सिंह, ब्रजनारायण. सं. *मधुमालती*. नोएडा : मयूर पेपर बैक्स, 1997 ई.
24. सुन्दरदास, सुन्दर बिलास. इलाहाबाद : बेलवीडियर प्रिंटिंग वर्क्स, 2008 ई.
25. हरगुलाल, सं. *चतुर्भुज दास*. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, 2009 ई.
26. हरगुलाल, सं. *कुंभनदास*. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, 2008 ई.
27. हरगुलाल, सं. *परमानंद दास*. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, 2008 ई.
28. हरगुलाल, सं. *सूरदास*. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, 2007 ई.
29. हरगुलाल, सं. *गोविन्दस्वामी*. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, 2003 ई.
30. हरगुलाल, सं. *कृष्णदास*. नई दिल्ली : प्रकाशन विभाग, 2001 ई.

II. सहायक ग्रंथ

1. अग्रवाल, पुरुषोत्तम. *अकथ कहानी प्रेम की*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2010 ई.
2. अलबेरुनी. *अलबेरुनी का भारत (भाग 1,2,3)*. अनु. सन्तराम. प्रयाग : इंडियन प्रेस लिमिटेड, 1928 ई.
3. अली, एम. अतहर. *औरंगजेब-कालीन : मुगल अमीर वर्ग*. राधाकृष्ण प्रकाशन, 1977 ई.
4. अशरफ, के.एम. *हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ*. हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 1969 ई.
5. अहमद, इमत्याज. *मध्यकालीन भारत : एक सर्वेक्षण*, पटना : नेशनल पब्लिकेशन, 2003 ई.
6. इलियट एवं डाउसन, सं. *भारत का इतिहास (षष्ठम भाग)*. अनु. मथुरालाल शर्मा. आगरा : शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, 1971 ई.
7. उपाध्याय, कृष्णदेव. *लोक संस्कृति की रूप रेखा*. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2014 ई.

8. उपाध्याय, भगवतशरण. भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2004 ई.
9. उपाध्याय, भगवतशरण. भारतीय कला की भूमिका. नई दिल्ली : पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, 1980 ई.
10. कल्ला, नन्दलाल. हिन्दी का प्रादेशिक लोक साहित्य शास्त्र. जोधपुर : राजस्थानी ग्रंथागार, 2014 ई.
11. कुमार, सुवास. मध्यकालीन फैंटेसी : सूरदास और चंडीदास का काव्य. इलाहाबाद : परिमल प्रकाशन, 1987 ई.
12. कौसाम्बी, डी.डी. मिथक और यथार्थ. दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, 1976 ई.
13. गुप्ता, ओम.पी. कबीर और समकालीन इतिहास. नई दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, 2011 ई.
14. गुप्ता, मोतीलाल. भारत में समाज. जयपुर : राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2009 ई.
15. गोयल, जय भगवान. शेख बाबा फरीद और उनका काव्य. आत्माराम एण्ड संस, 1988 ई.
16. गौतम, मीरा. सूर काव्य में लोक दृष्टि का विश्लेषण. नई दिल्ली : निर्मल पब्लिकेशन्स, 2000 ई.
17. चतुर्वेदी. आलमगीर. दिल्ली : सन्मार्ग प्रकाशन, 1985 ई.
18. चतुर्वेदी, रामस्वरूप. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2002 ई.
19. चतुर्वेदी, परशुराम. संत साहित्य की परख. इलाहाबाद : भारती भण्डार लीडर प्रेस, 1982 ई.
20. चतुर्वेदी, परशुराम. संत साहित्य की रूप रेखा. इलाहाबाद : भारती भण्डार, 1948 ई.
21. चन्द्र, सतीश. मध्यकालीन भारत. ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2009 ई.
22. चोपड़ा, पी.एच. एवं एम.एन. दास. भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास (भाग 1, 2). मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, 1975 ई.
23. जाटव, डी.आर. भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ. नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1997 ई.

24. जायसवाल, काशी प्रसाद. हिन्दू राज्य-तंत्र. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2012 ई.
25. झा, द्विजेंद्रनारायण. प्राचीन भारत. दिल्ली : ग्रंथ शिल्पी, 2000 ई.
26. झा, द्विजेंद्रनारायण. सं. भारतीय सामंतवाद : राज्य, समाज और विचारधारा. दिल्ली : ग्रंथ शिल्पी (इण्डिया) प्राइवेट लिमिटेड, 2000 ई.
27. झुनझुनवाला, पद्मावती. संत रैदास. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1997 ई.
28. टंडन, मायारानी. अष्टछाप काव्य का सांस्कृतिक मूल्यांकन. लखनऊ : हिन्दी साहित्य भण्डार, 1960 ई.
29. तिवारी, बलराम. सूर की काव्य चेतना. इलाहाबाद : अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2007 ई.
30. तिवारी, भगवानदास. मीरा का काव्य. इलाहाबाद : साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, 1997 ई.
31. तिवारी, विश्वनाथ प्रसाद. तुलसीदास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2009 ई.
32. थापर, रोमिला. भारत का इतिहास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1975 ई.
33. दिनकर, रामधारी सिंह. संस्कृति के चार अध्याय. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2004 ई.
34. द्विवेदी, मुकुन्द. सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली (भाग-5). नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1981 ई.
35. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. हिन्दी साहित्य की भूमिका. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2010 ई.
36. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. कबीर. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2004 ई.
37. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. लालित्य-तत्त्व. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1994 ई.
38. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1990 ई.
39. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. सूर-साहित्य. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1973 ई.

40. दीक्षित, राजपति. तुलसीदास और उनका युग. वाराणसी : वाराणसी ज्ञान मंडल लिमिटेड, वि. सं. 2032.
41. दुबे, श्यामाचरण. समय और संस्कृति. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1996 ई.
42. नवलपुरी, युगजीत. अनु. बाबरनामा. नई दिल्ली : साहित्य अकादमी, 2008 ई.
43. नाभादास. भक्तमाल. गोरखपुर : गीता प्रेस, 2013 ई.
44. परमानंददास. सं. सूरदास मूल्यांकन पुनर्मूल्यांकन. इलाहाबाद : अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2003 ई.
45. पाठक, शिवसहाय. हिंदी सूफी काव्य का समग्र अनुशीलन. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2003 ई.
46. पाण्डेय, अवध बिहारी. उत्तर मध्यकालीन भारत. इलाहाबाद : सेंट्रल बुक डिपो, 1971 ई.
47. पाण्डे, चन्द्रबली. तसव्वुफ अथवा सूफीमत. बनारस, जतनबर : सरस्वती मंदिर, 1945 ई.
48. पाण्डेय, नंदकिशोर. संत रज्जब. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2007 ई.
49. पाण्डेय, मैनेजर. भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2003 ई.
50. पाण्डेय, श्याममनोहर मध्ययुगीन प्रेमाख्यानक. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 1982 ई.
51. पाण्डेय, त्रिलोचन. लोक साहित्य का अध्ययन. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 1978 ई.
52. प्रभुपाद, स्वामी. श्रीमद्भगवद्गीता. भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, 1983 ई.
53. प्रसाद, कमला. मध्यकालीन रचना और मूल्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1984 ई.
54. प्रसाद, दिनेश्वर. लोक साहित्य और संस्कृति. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 1973 ई.
55. प्रेमशंकर. भक्तिकाव्य का समाज दर्शन. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2000 ई.
56. प्रेमशंकर. भक्तिकाव्य का समाजशास्त्र. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, दूसरा संस्करण, 1993 ई.

57. प्रेमशंकर. भक्तिकाव्य की भूमिका. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 1977 ई.
58. फजल, अबुल. आईने अकबरी. अनु. हरिवंश राय शर्मा एवं फिदा हुसैन खाँ. इलाहाबाद : महामना प्रकाशन मंदिर, 1963 ई.
59. फारुकी, एन.आर. सूफीवाद. ओरियंट ब्लैकस्वॉन, 2014 ई.
60. बद्रीनारायण. लोक साहित्य और संस्कृति. इलाहाबाद : लोक भारती प्रकाशन, 2010 ई.
61. बिस्मिल्लाह, अब्दुल. मध्यकालीन हिन्दी काव्य में सांस्कृतिक समन्वय. इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी एकेडमी, 1985 ई.
62. बेनीपुरी, रामवृक्ष. विद्यापति पदावली. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2009 ई.
63. भटनागर, रामरतन. तुलसी साहित्य की भूमिका, प्रयाग : रामनारायणलाल, 1957 ई.
64. भर्तृहरि. भर्तृहरि शतकम्. दिल्ली : आर्य प्रकाशन, 2007 ई.
65. मजुमदार, राय चौधरी एवं दत्त, भारत का वृहत इतिहास (भाग-2). मैकमिलन इण्डिया लिमिटेड, 1970 ई.
66. मदान, इन्द्रनाथ. सं. तुलसीदास : चिन्तन और कला. दिल्ली : राजपाल एण्ड संज, 1959 ई.
67. महाजन, वी.डी. मध्यकालीन भारत. एस. चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, 1990 ई.
68. मिश्र, शिवकुमार. भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2010 ई.
69. मीतल, प्रभु दयाल. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1966 ई.
70. मुक्तिबोध, गजानन माधव. नयी कविता का आत्मसंघर्ष. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2009 ई.
71. मुखर्जी, राधाकुमुद. हिन्दू सभ्यता. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1983 ई.
72. मुखिया, हरबंस. मध्यकालीन भारत नए आयाम. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1998 ई.

73. मेघ, रमेश कुन्तल. तुलसी आधुनिक वातायन से. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1967 ई.
74. मोरलैंड, डब्ल्यू. एच. अकबर की मृत्यु के समय का भारत. अनु. सुधाकर सिन्हा. दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया लि., प्रथम हिन्दी संस्करण 1976 ई.
75. मोरलैंड, डब्ल्यू. एच. मुस्लिम भारत की ग्रामीण व्यवस्था. अनु. कमलाकर तिवारी. इलाहाबाद : इतिहास प्रकाशन संस्थान, 1963 ई.
76. यादव, चौथीराम. लोकधर्मी साहित्य की दूसरी धारा. नई दिल्ली : अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, 2013 ई.
77. यादव, चौथीराम. उत्तरशती के विमर्श और हाशिए का समाज. नई दिल्ली : अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 2014 ई.
78. युगेश्वर. तुलसी का प्रतिपक्ष. वाराणसी : हिन्दी प्रचार संस्थान, 1982 ई.
79. युगेश्वर. तुलसीदास : आज के संदर्भ में. इलाहाबाद : अभिव्यक्ति प्रकाशन, 1968 ई.
80. रस्तोगी, राजाराम. तुलसीदास जीवनी और विचारधारा. कानपुर : अनुसंधान प्रकाशन
81. राघव, सुलोचना. रांगेय. सं. रांगेय राघव ग्रंथावली. (खण्ड-10). दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्स, 1983 ई.
82. राजे, सुमन. हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. 2006 ई.
83. राय, नीहार रंजन. भारतीय कला का अध्ययन. दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, 1978 ई.
84. राय, लल्लन. तुलसी की साहित्य साधना. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2002 ई.
85. रिजवी, अतहर. अब्बास. उत्तर तैमूर कालीन भारत (भाग 1). अलीगढ़ : हिस्ट्री डिपार्टमेंट अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी. 1956 ई.
86. लोहिया, राममनोहर. इतिहास चक्र. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2009 ई.
87. वर्मा, धीरेन्द्र. सूरसागर सार सटीक. इलाहाबाद : साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, 2009 ई.

88. वर्मा, हरिश्चन्द्र. *मध्यकालीन भारत* (भाग-1, 2). नई दिल्ली : हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय. 1997 ई. 1999 ई.
89. वात्स्यायन, सच्चिदानंद. *भारतीय कला दृष्टि*. दिल्ली : प्रभात प्रकाशन, 1985 ई.
90. ब्रजरत्नदास. अनु. *मुगल दरबार* (भाग-1). काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, वि. सं. 1988
91. वैश्य, सन्तराम. *सूर की सांस्कृतिक चेतना और उनका युगबोध*. नई दिल्ली : क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, 1992 ई.
92. शर्मा, चरणसखी. *तुलसी काव्य में धर्म व आचरण का स्वरूप*. महरौली : प्रवीण प्रकाशन, 1984 ई.
93. शर्मा, रामविलास. *परम्परा का मूल्यांकन*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2011 ई.
94. शर्मा, रत्न चन्द्र. *मुगलकालीन सगुण भक्तिकाव्य का सांस्कृतिक विश्लेषण*. जयपुर : जयपुर पुस्तक सदन, 1979 ई.
95. शर्मा, रामविलास. *भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश*. नई दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, 2005 ई.
96. शर्मा, रामविलास. *हिन्दी जाति का साहित्य*. दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्स, 1992 ई.
97. शर्मा, रामविलास. *मानव सभ्यता का विकास*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1991 ई.
98. शर्मा, रामविलास. *भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद* (खण्ड : दो). नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1982 ई.
99. शर्मा, रामशरण. *प्रारंभिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास*. नई दिल्ली : हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, 1993 ई.
100. शर्मा, रामशरण. *भारतीय सामंतवाद*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1993 ई.
101. शर्मा, हरद्वारी लाल. *लोक-वार्ता विज्ञान* (खण्ड-1). लखनऊ : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, 1990 ई.
102. शास्त्री, अरुण. *कबीर कालीन भारतीय समाज*. दिल्ली : यश पब्लिकेशन्स, 2008 ई.

103. शुक्ल, रामचन्द्र. *त्रिवेणी*. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, 2002 ई.
104. शुक्ल, रामचन्द्र. *लोकजागरण और हिन्दी साहित्य*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1985 ई.
105. शुक्ल, रामचन्द्र. *भ्रमरगीत सार*. काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, वि. सं. 2058
106. शुक्ल, रामचन्द्र. *हिन्दी साहित्य का इतिहास*. काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, वि. सं. 2057
107. शुक्ल, रामचन्द्र. *गोस्वामी तुलसीदास*. काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, वि. सं. 2033
108. शेखावत, कल्याण सिंह. *मीराँबाई ग्रंथावली-1*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2010 ई.
109. शोभा, सावित्री चन्द्र. *हिन्दी भक्ति साहित्य में सामाजिक मूल्य व अवधारणाएँ*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2004 ई.
110. शोभा, सावित्री चन्द्र. *समाज और संस्कृति*. नई दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 1976 ई.
111. शौरी, अरुण. *फतवे, उलेमा और उनकी दुनिया*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2001 ई.
112. सक्सेना, आर.के. *मध्यकालीन इतिहास के आर्थिक पहलू*. जयपुर : पब्लिकेशन स्कीम, 1996 ई.
113. सत्येन्द्र. *लोक साहित्य विज्ञान*. जोधपुर : राजस्थानी ग्रंथागार, 2006 ई.
114. सम्पूर्णानन्द. *समाजवाद*. बनारस : काशी विद्यापीठ, वि. सं. 2004
115. सांकृत्यायन, राहुल. *मानव-समाज*. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2008 ई.
116. सांकृत्यायन, राहुल. *अकबर*. इलाहाबाद : किताब महल, 1957 ई.
117. साहनी, भीष्म. *कबीरा खड़ा बाजार में*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2009 ई.
118. साही, विजयदेव. नारायण. *जायसी*. इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी एकेडमी, 1993 ई.
119. सिंह, उदय भानु. *तुलसी काव्य मीमांसा*. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2008 ई.
120. सिंह, कुँवरपाल. सं. *भक्ति आंदोलन : इतिहास और संस्कृति*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2008 ई.
121. सिंह, कृष्ण कुमार. *संत काव्य के विकास में वर्ण, जाति और वर्ग की भूमिका*. इलाहाबाद : साहित्य भंडार, 1989 ई.

122. सिंह, गोपेश्वर. सं. भक्ति आंदोलन के सामाजिक आधार. नई दिल्ली : भारतीय प्रकाशन संस्थान, 2007 ई.
123. सिंह, नामवर. दूसरी परम्परा की खोज. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1983 ई.
124. सिंह, भीम. जायसी-काव्य का सांस्कृतिक अध्ययन. कुरुक्षेत्र : कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, 1977 ई.
125. सिंह, योगेन्द्र. संत रैदास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2008 ई.
126. सिंह, रवीन्द्र कुमार दादू. काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 1988 ई.
127. सिंह, राजबाला. मध्यकालीन भारत में सूफीमत का उद्भव और विकास. वाराणसी : राष्ट्रीय कला एवं धर्म शोध संस्थान, 1995 ई.
128. सिंह, वासुदेव. सं. कबीर. इलाहाबाद : अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2009 ई.
129. सिंह, त्रिभुवन. सूर : संदर्भ और समीक्षा. वाराणसी : तुलसी शोध संस्थान. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1981 ई.
130. श्रीवास्तव, ब्रजविलास. मध्यकालीन हिंदी प्रबंध काव्यों में कथानक रूढ़ियाँ : वाराणसी : हिंदी प्रचार संस्थान, 1968 ई.
131. श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति. आगरा : शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, 1993 ई.
132. हबीब, इरफान. मध्यकालीन भारत का आर्थिक इतिहास : एक सर्वेक्षण. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2003 ई.
133. हुसैन, एस. आबिद. भारत की राष्ट्रीय संस्कृति. नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, 1987 ई.
134. हबीब, इरफान. मध्यकालीन भारत (भाग-1,2,3). नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 1981 ई., 1990 ई.
135. हरगुलाल. मध्ययुगीन कृष्ण काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति. दिल्ली : भारतीय साहित्य मंदिर, 1967 ई.

136. त्रिगुणायत, गोविन्द. जायसी का पदमावत काव्य और दर्शन. कानपुर : साहित्य निकेतन, 1973 ई.
137. त्रिपाठी, आर्या प्रसाद. कबीर साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन. दिल्ली-नागपुर : विश्वभारती प्रकाशन, वि. सं. 2026.
138. त्रिपाठी, विश्वनाथ. लोकवादी तुलसीदास. नई दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2007 ई.
139. त्रिपाठी, विश्वनाथ. मीरा का काव्य. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन, 2006 ई.
140. त्रिपाठी, हरिहरनाथ. प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका. दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास, 1965 ई.

III. पत्र-पत्रिकाएँ

1. कमल, अरुण. सं. आलोचना. जुलाई-सितम्बर 2013. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
2. कमल, अरुण. सं. आलोचना. अप्रैल-जून 2012. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.
3. गुप्त, विजय. सं. साम्य-26. फरवरी 2011. प्रगतिशील लेखक संघ छत्तीसगढ़.
4. तिवारी, रामबहाल. सं. विश्वभारती पत्रिका (खण्ड 39). अंक 3-4. अक्टूबर 1998-मार्च 1999. हिन्दी भवन. शान्तिनिकेतन.
5. तिवारी, विनोद. सं. पक्षधर. जनवरी 2009. अंक 7. गाजियाबाद.
6. पचौरी, सुधीश. सं. वाक् (तुलसी विशेषांक). जनवरी-मार्च 2007. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन.
7. मिश्र, अशोक. सं. बहुवचन. जुलाई-सितम्बर 2013. वर्धा : महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय.
8. सिंह, नामवर. सं. आलोचना. जुलाई-सितम्बर 1974. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन.

IV. कोश

1. अमरनाथ. सं. हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, 2009 ई.
2. दास, श्यामसुन्दर. सं. हिन्दी शब्द सागर. काशी : नागरी प्रचारिणी सभा, वि. सं. 2028
3. बसु, नगेन्द्रनाथ. सं. द इनसाइक्लोपीडिया इण्डिका (हिन्दी विश्वकोश). दिल्ली : बी.के. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, 1917 ई.
4. वर्मा, रामचन्द्र. सं. मानक हिंदी कोश, प्रयाग : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, वि. सं. 2028